प्रकाशक :
नारायण पब्लिशिंग हाउस
इलाहाबाद—२

प्रथम संस्करण,
१९६०

मुद्रक :
दत्ता ब्रादर्स, मुट्ठीगंज
इलाहाबाद

अनुक्रमणिका

SELECTED BIBLIOGRAPHY

1. A Manual of Ethics — J. S. Mackenzie.
2. The Elements of Ethics — J. H. Muirhead.
3. A Study of Ethical Principles — J. Seth.
4. Methods of Ethics — H. Sidgvick.
5. History of Ethics — H. Sidgvick.
6. Prolegomena to Ethics — T. H. Green.
7. Theory of Good and Evil — H. Rashdall.
8. Ethical Studies — F. H. Bradley.
9. A short history of Ethics — R. A. P. Rogers.
10. Fundamentals of Ethics — W. M. Urban.
11. Ethics — Dewey & Tufts.
12. Foundations of Ethics — Ross.
13. Five Types of Ethical Theory — Broad.
14. Guide to the Study of Morals & Politics — Joad.
15. General Introduction to Ethics — Wright.
16. Genealogy of Morals — Nietzsche.
17. Beyond Good and Evil — Nietzsche.
18. The Story of Philosophy — Durant.
19. Communist Manifesto — Marx & Engels.
20. Metaphysics of Morals — I. Kant.
21. Gita the Mother — M. K. Gandhi.
22. My Experiments with Truth — M. K. Gandhi.
23. Bhagwad Gita — Gita Press.
24. The Concept of Morals — Stace.
25. Short Studies in Ethics — Dewan Chand.

अध्याय १

Definition of Ethics, its scope and problems. The relation of Ethics to philosophy, Religion, Politics, Sociology, Psychology, Art and Economics.

(नीतिशास्त्र की परिभाषा, उसका क्षेत्र और समस्याएं नीतिशास्त्र का दर्शन, धर्म, राजनीति, समाज विज्ञान, मनोविज्ञान, कला और अर्थशास्त्र से सम्बन्ध) ।

Q. 1. Distinguish between a positive and a normative science and show why ethics is called a normative science. (Alld. 52).

प्र० १. यथार्थ विज्ञान और नियामक विज्ञान में भेद बतलाइये और यह दिखलाइये कि नीतिशास्त्र को एक नियामक विज्ञान क्यों कहा जाता है ।

Q. 2. Consider critically the objections that have been raised against calling ethics a science and show the distinction of ethics from the natural sciences. (Alld. 58.)

प्र० २ नीतिशास्त्र को विज्ञान कहने में क्या आपत्तियाँ बतलाई जाती हैं । उन पर समीक्षात्मक विचार कीजिये तथा यह स्पष्ट कीजिए कि नीतिशास्त्र भौतिक विज्ञानों से किस प्रकार भिन्न है ।

उत्तर :—मेकैन्जी के अनुसार नीतिशास्त्र "मानव जीवन से सम्बन्धित आदर्शों का विज्ञान है" इन आदर्शों की तुलना में वह मानव के कार्यों के गुणदोष का विवेचन करता है । वह मनुष्य को शुभ और अशुभ, उचित और अनुचित, पाप और पुण्य का भेद बतलाता है । वह मानव व्यवहार का विज्ञान है । विज्ञान साधारणतः दो प्रकार के हो सकते हैं, यथार्थ अथवा प्राकृतिक विज्ञान और नियामक विज्ञान । इन दोनो में निम्नलिखित भेद हैं :—

१. प्राकृतिक विज्ञानो का सम्बन्ध तथ्यों से है परन्तु नियामक विज्ञान आदर्शों और मूल्यों का अध्ययन करते हैं । प्राकृतिक अथवा यथार्थ विज्ञान प्रकृति की घटनाओं का अध्ययन और उनमे कार्य कारण सम्बन्ध के सामान्य नियमों की खोज करते हैं । वे संसार में "है" या अध्ययन करते हैं । परन्तु नियामक विज्ञान का अध्ययन का विषय 'है' नही बल्कि "होना चाहिये" है । उनके निर्णय तथ्यात्मक न होकर मूल्यात्मक होते हैं । वे मूल्यो, आदर्शों और मानदंडों का अध्ययन करते हैं । भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र इत्यादि यथार्थ अथवा प्राकृतिक विज्ञान हैं वे भौतिक जगत की क्रियाओं का अध्ययन करते हैं । दूसरी ओर तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा सौन्दर्यशास्त्र नियामक विज्ञान हैं । ये

सत्य, परमहित और सुन्दर का अध्ययन करते हैं। तर्क विज्ञान सत्य का विज्ञान है। नीतिशास्त्र परम शुभ का विज्ञान है और सौन्दर्य शास्त्र सौन्दर्य विषयक मूल्यो का अध्ययन करता है। इस प्रकार ये तीनों मनुष्य के ज्ञान, संकल्प और अनुभूति के मूल्यो का निर्णय करते हैं।

२. प्राकृतिक विज्ञानो के निर्णय एक सीमित क्षेत्र में लागू होते हैं। अतः वे सापेक्ष हैं। वे किसी विशेष क्षेत्र के तथ्यो के परस्पर सम्बन्ध का अध्ययन करते हैं। उससे बाहर के व्यापारों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। परन्तु नियामक विज्ञानों का क्षेत्र उनसे कहीं अधिक व्यापक है। सत्य, सौन्दर्य और शुभ का प्रश्न लगभग सभी वस्तुओ के विषय में उठ सकता है।

३. प्राकृतिक विज्ञानो के निर्णय तथ्यात्मक होते हैं। नियामक विज्ञानो के निर्णय निर्णयात्मक होते हैं। वे किसी मानदंड की तुलना में किसी विशेष तथ्य पर निर्णय देते हैं।

नीति शास्त्र प्राकृतिक विज्ञान नहीं है :—मैकेन्जी नीतिशास्त्र को विज्ञान नहीं मानता। विज्ञान हमारे अनुभव अथवा जगत के तथ्यो के एक सीमित भाग का अध्ययन करता है। परन्तु नीतिशास्त्र आदर्श अथवा साध्य की दृष्टि से हमारे समस्त कार्यों से सम्बन्धित है। अतः मैकेन्जी के शब्दों में "यदि विज्ञान से हमारा तात्पर्य मानव अनुवभ के किसी सीमित विभाग से है तो नीति शास्त्र बिल्कुल विज्ञान नहीं है।" परन्तु हर्बर्ट स्पेन्सर इत्यादि कतिपय दार्शनिक नीति-शास्त्र को प्राकृतिक विज्ञान मानते हैं। उसका अन्य प्राकृतिक विज्ञानों से केवल यही अन्तर है कि उसके निर्णय अधिक व्यापक होते हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर तो नैतिक निर्णयो को पाशविक जीवन के जैविक सिद्धान्तो से भी सम्बन्धित करने की चेष्टा करता है। वह नीतिशास्त्र को समाज विज्ञान और जीव विज्ञान की एक शाखा समझता है।

परन्तु नीतिशास्त्र को प्राकृतिक विज्ञान मानना सर्वथा भ्रामक है। म्यूरहेड नीतिशास्त्र को प्राकृतिक विज्ञानों से भिन्न मानता है। उसके अनुसार प्राकृतिक विज्ञान और नीतिशास्त्र मे निम्नलिखित अन्तर है।

१. प्राकृतिक विज्ञान एक विशिष्ट क्षेत्र में एक तथ्य की दूसरे तथ्य से व्याख्या करते हैं परन्तु नीतिशास्त्र परम शुभ अथवा सर्वोच्च आदर्श के प्रसंग मे नैतिक तथ्यों की व्याख्या करता है क्योंकि वह एक नियामक विज्ञान है।

२. प्राकृतिक विज्ञान मनुष्य को जड प्रकृति का एक भाग मानते हैं। वे उसको प्रकृति और समाज से अनिवार्य रूप मे सम्बन्वित समझते हैं। परन्तु नीतिशास्त्र के अनुसार व्यक्ति एक स्वतन्त्र और आत्म चेतन प्राणी है। वह अपने आदर्शों को प्राप्त करने की चेष्टा में रत एक आध्यात्मिक जीव है।

३. तथ्यात्मक व्याख्याओ से चरित्र और नैतिक व्यवहार की विवेचना नहीं हो सकती। नीतिशास्त्र मनुष्य के व्यवहार का मूल्याकन करता है और उसके शुभाशुभ की व्याख्या करता है। वह मनुष्य के व्यवहार का देशकाल में एक तथ्य

मात्र न समझकर एक चेतन क्रिया समझता है और उसकी नैतिक विवेचना करता है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि नीतिशास्त्र को तथ्यात्मक अथवा प्राकृतिक विज्ञान नहीं कहा जा सकता। परन्तु दूसरी ओर उसको नियामक विज्ञान मानना पड़ेगा। नीतिशास्त्र में पहले वर्णन की हुई नियामक विज्ञान सम्बन्धी सभी विशेषताएँ मिलती हैं। वह शुभ का विज्ञान है। जेम्स सेठ के शब्दो में "शुभ के विज्ञान के रूप में वह आदर्श और चाहिये का अति उत्कृष्ट विज्ञान है।" वह मानव जीवन के परम शुभ की खोज करता है। विज्ञान एक सीमित क्षेत्र का व्यवस्थित अध्ययन है। नीतिशास्त्र भी केवल नैतिक व्यापारों का अध्ययन करने के कारण विज्ञान है। उसकी पद्धति भी वैज्ञानिक है। वह नैतिक व्यापारों का निरीक्षण करता है, उनका वर्गीकरण करता है और फिर नैतिक आदर्शों के द्वारा उनकी व्याख्या करता है। उसके निर्णय सौन्दर्यशास्त्र अथवा तर्क शास्त्र से भिन्न हैं और वह उनको एक व्यवस्था मे बाँधता है। अन्य विज्ञानो के समान नीतिशास्त्र की भी कुछ मौलिक मान्यताएँ हैं जिनके वह सिद्ध नही करता बल्कि मान कर चलता है। आत्मा की अमरता, संकल्प की स्वतन्त्रता और ईश्वर का अस्तित्व नीतिशास्त्र के तीन स्वयंसिद्ध सत्य हैं जिनकी प्रामाणिकता में उसको सन्देह नही होता।

Q. 2. Define ethics. Is it a practical science ?

प्र० २. नीति शास्त्र की परिभाषा कीजिये। क्या वह व्यावहारिक विज्ञान है।

उत्तर :—शब्द विज्ञान के अनुसार एथिक्स (Ethics) शब्द ग्रीक शब्द एथौस (Ethos) से लिया गया है। एथौस का अर्थ है चरित्र। इस प्रकार नीतिशास्त्र चरित्र का विज्ञान है। नीतिशास्त्र को मॉरल फ़िलॉसफ़ी (Moral philosophy) भी कहते है। मॉरल शब्द लैटिन शब्द मॉरेश (Mores) से लिया गया है मॉरेस का अर्थ है रीति रवाज अथवा अभ्यास। इस प्रकार नीतिशास्त्र रीति रवाज अथवा अभ्यास का शास्त्र हुआ। नीतिशास्त्र मनुष्यो के व्यवहार का शास्त्र है। आदतें और व्यवहार मनुष्य के चरित्र की स्थायी विशेषताओ से सम्बन्धित है। चरित्र मनुष्य के स्थायी संकल्पों में अभिव्यक्त होता है। व्यवहार चरित्र का दर्पण है। अतः नीतिशास्त्र आदत अथवा चरित्र का शास्त्र है। वह मनुष्यो की आदतों, चरित्र और स्वतन्त्र संकल्पो का मूल्याकन करता है। और उनके उचित अनुचित का विवेचन करता है।

नीतिशास्त्र मनुष्य के कर्तव्य और अकर्तव्य का विचार करता है। वह नैतिकता का विज्ञान है और व्यवहार पर नैतिक निर्णय देता है। व्यवहार में प्रयोजन है। उसमें स्वतन्त्र संकल्प है। वह चरित्र को प्रगट करता है चरित्र संकल्पों में प्रगट होता है। संकल्प चरित्र का क्रियात्मक रूप है। अतः नीतिशास्त्र चरित्र के उचित और अनुचित का अध्ययन करता है। परन्तु उचित अनुचित का

निर्णय मानव जीवन के आदर्शों अथवा शुभ के मानदड की कसौटी पर कसने से होता है। इन शुभों की भी श्रेणियाँ हैं। तत्कालीन शुभ के औचित्य का निर्णय परम-शुभ करता है। अतः नीतिशास्त्र सर्व प्रथम परम शुभ का विज्ञान है। वह मानव जीवन के आदर्शों का अध्ययन करता है। वह यह बतलाता है कि मनुष्य को क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये। जेम्स सेठ के शब्दों मे "नीतिशास्त्र मानव जीवन में अन्तिम साध्य अथवा प्रयोजन की खोज है।

नीतिशास्त्र चरित्र का विज्ञान है। परन्तु वह प्राकृतिक और तथ्यात्मक विज्ञानों से भिन्न है। वह नियामक विज्ञान है। म्यूरहैड के शब्दों मे "वह केवल काल में स्थित व्यवहार से नहीं बल्कि नैयायिक निर्णय के आधार के रूप में व्यवहार से सम्बन्ध रखता है।" "उसका सम्बन्ध व्यवहार पर निर्णय करने से है यह निर्णय कि इस प्रकार का व्यवहार उचित अथवा अनुचित है।

नीतिशास्त्र व्यवहारिक विज्ञान नहीं है :—व्यवहारिक विज्ञान (Practical Science) यह बतलाता है कि कोई काम कैसे करना चाहिए अथवा हम किसी लक्ष्य को कैसे प्राप्त कर सकते हैं। उसका सम्बन्ध लक्ष्य अथवा साध्य को पाने के साधनो से है। उदाहरण के लिये चिकित्सा विज्ञान व्यावहारिक विज्ञान है। वह हमें यह बतलाता है कि किसी रोग को कैसे दूर किया जा सकता है। वह स्वास्थ्य के आदर्श पर नहीं बल्कि स्वास्थ्य लाभ करने के साधनों पर विचार करता है। परन्तु नीतिशास्त्र केवल आदर्शों की खोज करता है साधनों की नहीं। वह यह तो खोजता है कि मानव जीवन का परम लक्ष्य क्या है परन्तु यह नहीं बतलाता कि उस लक्ष्य तक कैसे पहुँचा जाय। वह कर्मों और व्यवहार के उचित और अनुचित होने का निर्णय तो देता है परन्तु यह नहीं बतलाता कि शुभ व्यवहार करने की आदत कैसे डाली जाय अथवा चरित्र को कैसे ऊपर उठाया जाय। वह यह समझता है कि जीवन क्या है परन्तु वह हमें सन्त नहीं बना सकता। नीतिशास्त्र एक नियामक विज्ञान है व्यावहारिक विज्ञान नहीं नियामक विज्ञान के रूप में उसका कार्य केवल आदर्श की व्याख्या करना हैं उसको प्राप्त करने के नियम बतलाना नहीं। वह हमें चरित्र और व्यवहार के सम्बन्ध मे नैतिक नियम देता है परन्तु उनको लागू करने का तरीका नहीं बतताता। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि नीतिशास्त्र एक कोरा मौखिक विज्ञान है। उसके अध्ययन से निश्चय ही हमारे चरित्र, व्यवहार और कर्मों पर प्रभाव पड़ता है। परन्तु इससे हम उसको व्यावहारिक विज्ञान नहीं कह सकते।

Q. 3. Give a general indication of the nature of ethical study and examine carefully Mackenzies definition that ethics is "the study of what is right or good in Conduct." (Agra. 53).

प्र० ३. नैतिक अनुशीलन के लक्षण का सामान्य निर्देश कीजिये और मैकेन्जी की नीति शास्त्र की इस परिभाषा की सावधानी से विवेचना कीजिये कि नीतिशास्त्र "व्यवहार में जो कुछ उचित अथवा शुभ है उसका अध्ययन है।"

Q. 4. Distinguish between facts and values. With which of them is Ethics concerned ? Can an ethical theory be constructed on the basis of a mere study of facts ? (Agra. 42).

प्र० ४. तथ्यों और मूल्यों का अन्तर समझाइये । नीतिशास्त्र उनमें से किस से सम्बन्धित है ? क्या कोई नैतिक सिद्धान्त केवल तथ्यों के अध्ययन पर आधारित किया जा सकता है।

उत्तर :—मैकेन्जी के अनुसार "व्यवहार में सत् और शुभ के अध्ययन" के रूप में नीतिशास्त्र की परिभाषा की जा सकती है। इस परिभापा में नीति शास्त्र को सत् और शुभ दोनों का अध्ययन माना गया है। परन्तु सत और शुभ मे भेद है। सत् (Right) लैटिन के रेक्टस (Rectus) से लिया गया है जिसका अर्थ है, सीधा अथवा नियम के अनुसार। अतः सत् व्यवहार वह होगा जो नियम के अनुसार हो। शुभ (Good) जर्मन गुट (Gut) से लिया गया है जिसका अर्थ है कि जो परम शुभ के लिये उपयोगी हो। । शुभ वह है जो लक्ष्य की ओर ले जाय । अधिकतर शुभ का अर्थ साधन रूप में न करके साध्य रूप मे ही किया जाता है।

अपनी इस परिभापा में मैकेन्जी ने दो विरोधी मतो का समन्वय किया है। सहजज्ञानवादियो के अनुसार नीतिशास्त्र सत का विज्ञान है। सत् ही मूल प्रत्यय है। नैतिक नियमों में बाध्यता है। उनका पालन सभी परिस्थितियो में होना चाहिये। उनके अनुसार चलना कर्तव्य और उनके प्रतिकूल चलना अकर्तव्य है। नियम पालन ही नैतिकता है। नियमानुसार कार्य सत् और नियम के विरुद्ध कार्य असत् है। नैतिक नियम ही मनुष्य के कायो के शुभाशुभ का निर्णायक है। इस मत के अनुसार नीतिशास्त्र सत् का विज्ञान है । वह नैतिक नियमो की खोज करता है। ये नैतिक नियम निरपेक्ष आदर्श है और मनुष्य उनका पालन करने को बाध्य है। अतः यह सिद्धान्त कर्तव्य प्रधान नीतिशास्त्र बन जाता है। नियमवादियो के अनुसार नैतिक नियम स्वयं साध्य है। वे किसी और आदर्श के साधन नही हैं। कान्ट ने कर्तव्य के लिये कर्तव्य का सिद्धान्त उपस्थित किया और सदिच्छा को ही एक मात्र शुभ माना। उसके अनुसार "इस सृष्टि के अन्दर और इससे बाहर भी सदिच्छा को छोड़कर कोई वस्तु ऐसी नहीं है जिसको बिना किसी शर्त के शुभ कहा जा सके।" कान्ट के अनुसार सदिच्छा स्वयं शुभ है। उसका शुभत्व उसके परिणाम पर निर्भर नही है। सदिच्छा नियम के अनुसार इच्छा है। नियमवादी नैतिक नियमो को स्वयं सिद्ध मानते हैं । अन्तरात्मा जन्म जाता है और उस सहज और प्रत्यक्ष रूप में ही शुभाशुभ का ज्ञान हो जाता है। नैतिक नियम सार्वभौम है। वे प्रभुत्व सम्पन्न और सहज हैं।

सहजज्ञानवादियो और नियमवादियो के विरुद्ध उद्देश्यवादियो ने शुभ को ही परम तत्व माना। उनके अनुसार नीतिशास्त्र सत् का नहीं बल्कि शुभ का विज्ञान है। उसका दृष्टिकोण मूल्य का दृष्टिकोण है। कर्तव्य कर्तव्य के लिये

न होकर नैतिक कल्याण के लिये है। नियम नियम के लिये नहीं बल्कि शुभ के लिये है। नियम पालन इसीलिये कर्तव्य है कि उससे नैतिक शुभ की प्राप्ति होती है। इस शुभ के मानदंड के प्रसंग में ही किसी कार्य को उचित अथवा अनुचित ठहराया जाता है। उद्देश्यवादी नीतिशास्त्र मानव के परम आदर्श की खोज करता है। यह परम शुभ ही चरम साध्य है। उसकी ओर ले जाने वाला कार्य शुभ है और उसकी प्राप्ति में बाधक कार्य अशुभ। नीतिशास्त्र इस परम शुभ अथवा मानव जीवन के परम आदर्शों की खोज करता है। शुभ और नियम इस परम साध्य का साधन मात्र है। अतः उद्देश्यवादी दृष्टि कोण की नीतिशास्त्र, शुभ और अशुभ तथा अन्य नैतिक प्रत्ययों की व्याख्या नियमवादियों से भिन्न है। उद्देश्यवादी नीतिशास्त्र मानव के कर्तव्य के साथ-साथ उसके आदर्शों और उसकी आत्मा के सर्वोच्च रूप की भी खोज करता है। वह उन गुणों की विवेचना करता है जिनसे चरित्र ऊँचा उठ सकता है और परम लक्ष्य की प्रप्ति हो सकती है। वेन्थम मिल और हेनरी सिजविक इत्यादि उद्देश्यवादी दृष्टिकोण के समर्थक हैं। उनके अनुसार किसी कार्य का अच्छा या बुरा होना उसके परिणाम पर निर्भर है।

नीतिशास्त्र की परिभाषा में मैकेन्जी उपरोक्त दोनों दृष्टिकोण का समन्वय करता है। नीतिशास्त्र मानव व्यवहार मे सत् और शुभ का अध्ययन करता है। अर्थात् वह यह विचार करता है कि हमारा व्यवहार हमारे लक्ष्य अथवा साध्य का साधक होना चाहिये। उसका सम्बन्ध उन नियमो अथवा सामान्य सिद्धान्तो से है जिनके अनुसार इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये हमें अपना व्यवहार करना चाहिये। परन्तु इस प्रकार से व्यवहार के शुभत्व को जानने के लिये हमे पहले साध्यों का अध्ययन करना होगा। यूँ तो मानव जीवन में विभिन्न अवस्थाओं मे और विभिन्न मनुष्यों के विभिन्न जीवन में नैतिक साध्य भिन्न-भिन्न हो सकते हैं परन्तु क्योंकि नीतिशास्त्र मानव के व्यवहार के किसी विशेष पक्ष का नहीं बल्कि सम्पूर्ण व्यवहार का अध्ययन करता है अतः उसका उद्देश्य उस परम लक्ष्य को जानना है जो हम सबके सम्पूर्ण जीवन का लक्ष्य है। इसी लक्ष्य को परम शुभ कहते हैं। मैकेन्ज़ी के अनुसार मानव जीवन के समस्त लक्ष्य और सभी क्रियाएँ इसी एक परम लक्ष्य की ओर निर्देश करती हैं। यह परम शुभ क्या है यही जानना नीतिशास्त्र के अध्ययन का विषय है। परन्तु यह मानना पड़ेगा कि उसको जाने बिना कर्तव्य, अकर्तव्य अथवा शुभाशुभ का निर्णय करना असम्भव है। इस प्रकार मैकेन्ज़ी का यह कहना यथार्थ है कि नीति शास्त्र मानव जीवन के आदर्शों का अध्ययन करता है।

नोट :—प्रश्न ४ के उत्तर के लिये प्रश्न १ का उत्तर देखिये।

Q. 5. What are the main problems of Ethics ? How is Ethics related to philosophy ? (Alld 56). (Agra 43)

प्र० ५. नीति शास्त्र की मुख्य समस्याएँ क्या है ? नीतिशास्त्र का दर्शन से क्या सम्बन्ध है ?

Q. 6. Discuss fully the scope of ethics. How is ethics related Metaphysics ? (Alld. 55)

प्र० ६. नीति शास्त्र के क्षेत्र का पूर्ण विवेचन कीजिये। नीति शास्त्र और दर्शन का क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर :—प्रोफेसर मैकेन्ज़ी के अनुसार नीति शास्त्र के अध्ययन के कम से कम चार मुख्य विभाग किये जा सकते हैं। (१) नैतिक चेतना का मनोविज्ञान (२) नैतिक जीवन का समाज शास्त्र (३) नैतिक मानदंड के सिद्धान्त और (४) इस मानदण्ड को नैतिक जीवन में लागू करना।

१. मनोवैज्ञानिक पक्ष :—नीतिशास्त्र इच्छा और संकल्प का विश्लेषण करता है और अन्तरात्मा तथा नैतिक निर्णय का मनोवैज्ञानिक विवेचन करता है क्योंकि उनकी नैतिकता बहुत कुछ उनकी मनोवैज्ञानिक पृष्ठ भूमि पर निर्भर है। नीतिशास्त्र को नैतिक निर्णय पर संकल्प की स्वतन्त्रता के प्रश्न के प्रभाव का भी ध्यान रखना पड़ता है। मनुष्य और पशु के भेद का विश्लेषण करके नीतिशास्त्र केवल स्वतन्त्र संकल्पो के ही अपने निर्णयों का विषय बनाता है।

२. समाजिक पक्ष :—नीतिशास्त्र की धारणाओं पर सामाजिक परम्परा और रीति रवाज का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। समाज शास्त्रीय अध्ययन से इन विषयो की जानकारी होती है और फलस्वरूप नीतिशास्त्र पर उनके प्रभाव को भी पहचाना जा सकता है।

३. नैतिक मानदंड के सिद्धान्त :—नीतिशास्त्र की वास्तविक समस्या परम शुभ अथवा मानव जीवन के सर्वोच्च आदर्श के स्वरूप की विवेचना करना है जिसकी कसौटी पर कसकर किसी व्यवहार को उचित अथवा अनुचित, शुभ अथवा अशुभ कहा जाता है। इस प्रकार के मानदंड के विषय में अनेक सिद्धान्त हैं और उन सभी की पर्याप्त अलोचना हो जाने पर भी उनका शाश्वत महत्व है क्योंकि उनमे से कोई भी पूर्णतः असत्य अथवा पूर्णतः सत्य नहीं है।

४. व्यवहारिक नीतिशास्त्र :—व्यवहारिक जीवन में नीतिशास्त्र का निर्देश उस परम शुभ के स्वरूप पर निर्भर है जिसका कोई नैतिक सिद्धान्त प्रतिपादन करता है। स्पष्ट है कि सुखवादी का व्यवहारिक नीति शास्त्र बुद्धिपरतावादियो के व्यवहारिक नियमो से विरुद्ध होगा।

उपरोक्त समस्त विषय नीति शास्त्र की समस्याएँ हैं और उसके क्षेत्र को निर्धारित करते हैं। एक नियामक विज्ञान के रूप में नीतिशास्त्र नैतिक आदर्शो की विवेचना करता है। उसको मानव के व्यवहार के उद्गम अथवा विकास से कोई मतलब नही। वह उस परम शुभ का अध्ययन करता है जिसके अनुसार हमे चलना है। परन्तु परम आदर्श की खोज में व्यवहार, चरित्र, संकल्प, इच्छा इत्यादि सभी का विवेचन आवश्यक हो जाता है क्योंकि इनको जाने बिना नैतिक आदर्श को

समझना कठिन है। नैतिक आदर्श व्यवहार में प्रगट होता है। व्यवहार चरित्र का दर्पण है। चरित्र आदतों से जाना जाता है और आदतें अभ्यास जन्य संकल्प है संकल्प के पीछे हेतु और अभिप्राय होता है। संकल्प स्वतन्त्र भी हो सकता है और बाधित भी। इस प्रकार इन समस्त मनोवैज्ञानिक तथ्यों का अध्ययन नीतिशास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाता है।

परन्तु नैतिकता का आधार नैतिक निर्णय हैं। इन निर्णयों के लिये ही उपरोक्त मनोवैज्ञानिक अध्ययन की अवश्यकता पड़ती है। अतः इन निर्णयों का स्वरूप, विषयी और मानदंड जानना भी नीति शास्त्र की समस्या है।

नैतिक निर्णय किसी कर्म के शुभाशुभ का निर्णय करता है। शुभ वह है जो नैतिक मानदंड के अनुकूल है और अशुभ प्रतिकूल। शुभ उचित है, अशुभ अनुचित, शुभ कर्तव्य है अशुभ अकर्तव्य। शुभ परम शुभ का साधन है। साधन और साध्य की शृंखला अन्त में परम शुभ पर पहुँचती है। इस परम शुभ का अध्ययन नीतिशास्त्र का प्रमुख विषय है और शुभ, अशुभ, उचित, अनुचित, कर्तव्य, अकर्तव्य उसके मौलिक प्रत्यय हैं। इन मौलिक प्रत्ययों के यथार्थ स्वरूप की खोज करना भी नीति शास्त्र की समस्या है।

नैतिक निर्णयों के साथ अनुमोदन अथवा अनुमोदन के नैतिक स्थायीभाव भी है। नैतिक निर्णयों के साथ कर्तव्य की भावना, नैतिक 'चाहिये' अथवा नैतिक बाध्यता भी लगी रहती है कर्तव्य के साथ उसे करने और अकर्तव्य के साथ उसे न करने की नैतिक बाध्यता लगी हैं। इस नैतिक बाध्यता का स्वभाव, उद्गम, श्रोत और आधार खोजना भी नीति शास्त्र का विषय है।

नैतिक निर्णय मनुष्य के स्वतन्त्र व्यापारों पर होता है। नीतिशास्त्र हमारी इस स्वतन्त्रता के स्वरूप की विवेचना करता है। स्वतन्त्रता के साथ ही उत्तर-दायित्व लगा है। उत्तरदायित्व के कारण ही बुरे कामों के लिये दंड और अच्छे कर्मों का पुरस्कार मिल सकता है। नीतिशास्त्र उत्तरदायित्व की विवेचना करके दंड के लिये आधार उपस्थित करता है।

नैतिक कार्यों के साथ पाप और पुण्य की भावना भी लगी हैं। नीतिशास्त्र इस पाप पुण्य के मानदंड की विवेचना करता है। सद्गुणों और दुर्गुणों की व्याख्या भी उसके क्षेत्र में आ जाती है। मानवीय व्यवहार के सभी कार्यों के शुभाशुभ से सम्बन्धित होने के कारण नीति विज्ञान के क्षेत्र में अन्य विज्ञानों और कलाओं के निर्णय भी आ जाते हैं। नीतिशास्त्र उन पर भी नैतिक निर्णय देता है। इस प्रकार अनेक मनोवैज्ञानिक, राजनैतिक, अर्थशास्त्रीय, समाजशास्त्रीय, धार्मिक और दार्शनिक समस्याएं भी नीतिशास्त्र के क्षेत्र में आ जाती हैं। मनोवैज्ञानिक समस्याओं का वर्णन पीछे किया जा चुका है। मानव व्यक्तित्व का यथार्थ रूप संकल्प की स्वतन्त्रता, आत्मा की अमरता, ईश्वर का अस्तित्व और पूर्णत्व और विश्व की नैतिक व्यवस्था आदि दार्शनिक समस्याएँ नीति शास्त्र के अन्तर्गत आ जाती है। व्यक्ति और समाज के परस्पर सम्बन्ध की समाज शास्त्रीय समस्या

नीति शास्त्र की भी समस्या है। व्यक्ति और राज्य का सम्बन्ध, राज्य के नैतिक आधार और उनके नैतिक कार्य इत्यादि का विवेचन भी नीति शास्त्र के क्षेत्र में आ जाता है।

नीति शास्त्र और दर्शन शास्त्र का सम्बन्ध :—दर्शन और नीतिशास्त्र के सम्बन्ध के विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं। हेगेल और। ग्रीन इत्यादि की धारणा है कि नीति शास्त्र दर्शन पर आधारित हैं। रैशडल इत्यादि के अनुसार दर्शन ही नीति शास्त्र पर आधारित है। यह एक विवादास्पदमत है। कुछ भी हो इतना निश्चय है कि नीति शास्त्र का दर्शन शास्त्र से अत्यन्त निकट सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध निम्न-लिखित कारणो पर आधारित है :—

१. एक नियामक विज्ञान के रूप मे नीति शास्त्र नैतिक आदर्शो की विवेचना करता है। ये नैतिक आदर्श विश्व की नैतिक व्यवस्था पर आधारित हैं। अतः उनका अध्ययन नीतिशास्त्र को दर्शन के क्षेत्र में भी ले आता है।

२. नैतिक निर्णय निरपेक्ष आदेश है। वे स्वयं वस्तुओ की प्रकृति पर आधारित है। वस्तुओ की इस प्रकृति को जानने के लिये भी नीति शास्त्र को दर्शन का सहारा लेना पडता है।

३. ईश्वर, मानवीय संकल्प की स्वतन्त्रता और आत्मा की अमरता ये तीन नीति शास्त्र की स्वयं सिद्ध मान्यताएँ हैं। इनके स्वरूप की विवेचना और प्रामा-णिकता का विश्लेण दर्शन का विषय है।

४. नीति शास्त्र मनुष्य को कोई प्राकृतिक तथ्य नही बल्कि आत्मचेतन प्राणी मानता है अतः मनुष्य के ईश्वर, विश्व और समाज से सम्बन्ध की विवेचना करने के लिये नीति शास्त्र को दर्शन की सहायता लेनी पडती है।

५. नीत शास्त्र मूल्यां का विज्ञान है अतः वह दर्शन से सम्बन्धित है क्योकि दर्शन तथ्यो और मूल्यो दोनो की व्यवस्था करता है।

६. नीतिशास्त्र के दर्शन की अनेक समस्याओ की विवेचना करनी पडती है। उसमे से मुख्य निम्नलिखित है :—

(अ) आत्मा का स्वरूप :—आत्मा के स्वरूप के विषय में विभिन्न धारणाओ के साथ नैतिक सिद्धान्त भी बदलते है। सुखवाद आत्मा को वासना त्मक मानता है, बुद्धिपरतावाद बौद्धिक और पूर्णतावाद पूर्ण आत्मा मे वासना और बुद्धि दोनो को सम्मिलित कर लेता है। आत्मा की अमरता नीति शास्त्र की स्वयसिद्ध मान्यता है।

(ब) सकल्प की स्वतन्त्रता :—सह भी नीतिशास्त्र की मौलिक मान्यता है।

(स) आत्मा की अमरता :—नैतिक आदर्श अति उच्च है और मनुष्य का जीवन अत्यन्त सीमित। अतः इसी एक जीवन मे नैतिक आदर्श को पूर्णतः प्राप्त करना कठिन है। इसलिये नीति शास्त्र अनेक जीवनां की कल्पना करता है जिससे कि नैतिक आदर्श को प्राप्त किया जा सके। यह भी नीति शास्त्र की प्रमुख मान्यता है।

(द) व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध :—समाज और व्यक्ति का क्या सम्बन्ध है। क्या व्यक्ति समाज का एक अवयव है या उनकी स्वतन्त्र सत्ता है ? व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध के विषय में धारणाओं के भेद से भी नैतिक सिद्धान्तों में भेद हो गया है।

(इ) आत्मा और जगत का सम्बन्ध :—क्या जगत का विधान नैतिक है ? क्या उसमें नैतिक प्रगति का अवसर है ? क्या उसका कोई नैतिक उद्देश्य है ? नीति शास्त्र जगत को नैतिक विकास का क्षेत्र मानता है। इस मान्यता के प्रमाण के लिये वह दर्शनशास्त्र पर आधारित है।

(उ) ईश्वर का अस्तित्व और पूर्णत्व :—ईश्वर नैतिक गुणों का भंडार है अथवा शुभाशुभ से परे है, उसके आधार के बिना भी नैतिकता टिक सकती है, या नहीं, नैतिक आदर्श आत्मगत है या वस्तुगत, इन समस्त दार्शनिक प्रश्नों पर भी नीतिशास्त्र विचार करता है।

उपरोक्त कारणों से कतिपय विद्वान नीति शास्त्र को दर्शन का अंग समझते हैं। मैकेन्जी के शब्दों मे "वह यथार्थ मे दर्शन का केवल एक भाग है क्योंकि वह जीवन के अनुभव पर केवल संकल्प अथवा क्रिया के दृष्टिकोण से विचार करता है। वह अप्रत्यक्ष रूप को छोडकर किसी भी प्रकार मनुष्य पर जानते हुए अथवा भोग करते हुए प्राणी के रूप मे विचार नही करता बल्कि क्रिया करते हुए अर्थात् एक लक्ष्य को खोजते हुए प्राणी के रूप में विचार करता है। परन्तु वह मनुष्य की सम्पूर्ण क्रियाओं पर, शुभ की समस्त प्रकृति पर जिसको कि वह खोजता है और उसको खोजने में उसकी क्रिया के सम्पूर्ण महत्व पर विचार करता है।"

परन्तु फिर भी नीतिशास्त्र दर्शन का अंग न होकर एक नियामक विज्ञान ही है। उसमें और दर्शन मे निम्नलिखित भेद है :—

१. दर्शन का क्षेत्र नीतिशास्त्र से अधिक विस्तृत है। वह जगत, आत्मा और ईश्वर पर विचार करता है। परन्तु नीतिशास्त्र केवल मनुष्य के व्यवहार और चरित्र से सम्बन्धित है।

२. दर्शन शास्त्र जगत के प्रयोजन और सार्वभौम शुभ की खोज करता है जो कि समस्त सृष्टि का लक्ष्य हो। दूसरी ओर नीति शास्त्र केवल मानवी आदर्शों अथवा शुभ की खोज करता है।

३. दर्शन केवल एक मौखिक अध्ययन है परन्तु नीतिशास्त्र मौखिक होते हुए भी व्यवहारिक जीवन को प्रभावित करता है।

४. दर्शन का आधार बुद्धि और तर्क है। नीतिशास्त्र मनुष्य के कर्मों पर केन्द्रित है। वह ज्ञानात्मक पक्ष की अपेक्षा संकल्पात्मक पक्ष पर अधिक ज़ोर देता है।

Q. 7. What are the main problems of Ethics ? (Agra 57)
प्र० ७. नीति शास्त्र की मुख्य समस्याएँ क्या हैं ?

उत्तर :—पिछला प्रश्नोत्तर देखिये।

Q. 8. Is Ethics a theoretical or a practical study? what relaion has it to either Metaphysics or politics? (Agra. 46)

प्र० ८. क्या नीतिशास्त्र मौखिक अध्ययन है अथवा व्यवहारिक? उसका दर्शन अथवा राजनीति से क्या सम्बन्ध है?

उत्तर :—प्रश्न के प्रथम भाग के उत्तर के लिये प्र० २ का उत्तर देखिये। उसके दर्शन से सम्बन्ध के लिये पिछला प्रश्नोत्तर देखिये।

नीतिशास्त्र का राजनीति से सम्बन्ध :—राजनीति और नीतिशास्त्र के परस्पर सम्बन्ध के विषय में विद्वानो के भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ विद्वान तो दोनों में कोई सम्बन्ध नही मानते। कहावत है कि "प्रेम और युद्ध में सभी कुछ उचित है।" मैकियावली (Machiavelli) तथा उसके अनुयायी इसी श्रेणी में आते हैं। उनके अनुसार राजा की आज्ञा ही नीति है। राजा को नैतिक नियमो पर चलने की कोई आवश्मकता नही। परन्तु आज के युग में यह सिद्धान्त पुराना हो चुका है। आज लगभग सभी राजनैतिक विचारक यह मानते हैं कि राज्य शासन व्यवहारिक के साथ साथ न्याय युक्त भी होना चाहिये। नैतिक नियमो पर आधारित राज्य ही जनकल्याण साधन कर सकता है। परन्तु राजनीति और नीतिशास्त्र के परस्पर सम्बन्ध को मानने वालो में भी इस सम्बन्ध की प्रकृति के विषय में मतभेद है। हाब्स और वेन इत्यादि के अनुसार नीतिशास्त्र राजनीति शास्त्र की ही एक शाखा है और राजनैतिक नियम के नैतिक नियम है। दूसरी ओर प्लेटो, अरस्तू, स्पिनोजा और हेगेल के अनुसार राजनीति ही नीति शास्त्र की एक शाखा है। विचार करने से ज्ञात होगा कि ये दोनो ही दृष्टिकोण एकांगी हैं ये दोनो ही राजनीति और नीतिशास्त्र के अन्तर को भूल जाते हैं। वह अन्तर निम्नलिखित है :—

१. राजनीति और नीति का लक्ष्य भिन्न-भिन्न है। राजनीति का उद्देश्य जन कल्याण है। नीतिशास्त्र व्यक्ति के नैतिक गुणो पर विचार करना चाहता है। दोनो के मानदंड भी भिन्न-भिन्न हैं। नीतिशास्त्र का मानदड नैतिक पूर्णता है और राजनीति का लोकोपयोगिता।

२. नीतिशास्त्र का सम्बन्ध व्यक्ति की अनुभूतियो, संकल्पो, व्यवहार और चरित्र से हैं। राजनीति का सम्बन्ध सामूहिक मन से है। वह समूह पर पड़ने वाले मानवीय व्यवहारो के प्रभावों पर विचार करता है। नीतिशास्त्र व्यक्ति के शुभ पर विचार करता है। उसका साध्य मानव का परम शुभ है।

३. राजनैतिक और नैतिक नियमो के स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं। राजनैतिक नियम का स्वरूप है "करना होगा" (must) और नैतिक नियम का स्वरूप है "करना चाहिये"। राजनैतिक नियम बल प्रयोग द्वारा लागू किये जाते हैं। वे नियम तोड़ने के दंड के भय पर आधारित हैं। परन्तु नैतिक नियमों का आधार स्वतन्त्रता और स्वेच्छापूर्ण संकल्प है। राज्य बल प्रयोग पर निर्भर है। नीतिशास्त्र

मानव के संकल्प की स्वतन्त्रता पर आधारित है। राजनैतिक नियम बाहर से लागू किये जाते हैं। नैतिक नियम आन्तरिक है और उनको व्यक्ति स्वयं अपने ऊपर लागू करता है।

४. राजनीति वस्तुगत विज्ञान है और नीतिशास्त्र आत्मगत विज्ञान है। राजनैतिक कर्मों का शुभाशुभ उनके परिणामों पर निर्भर है और नैतिक कर्मों का औचित्य उनके प्रेरक कारणों पर। राजनीति मनुष्य के कार्यों के केवल वाह्य स्वरूप का विचार करती है। वह व्यक्तियों के अन्तःकरण को नहीं प्रभावित करती। म्यूरहैड के शब्दों में "आप संसदीय नियम के द्वारा मनुष्यों को नैतिक नहीं बना सकते।" राजनैतिक नियम मनुष्यों की आन्तरिक प्रेरणाओं को नहीं बदल सकते। वे केवल उनके वाह्य कार्यों पर नियंत्रण करते हैं। परन्तु नैतिक नियम मनुष्यों के कार्यों के आन्तरिक पक्ष, उनके प्रेरक कारणों और हेतुओं का विचार करते हैं और उनको नियन्त्रित करते हैं।

५. नैतिकता का अधिकार राजनीति से अधिक व्यापक है। राजनीति के नियम नैतिक नियमों के आधीन हैं। नीति ही उनको उचित अथवा अनुचित ठहराती है। वह उन पर नैतिक निर्णय देती है। समाज का कल्याण करने वाले राज्य शासन नैतिक नियमों पर चलते हैं।

परन्तु राजनीति और नैतिकता में उपरोक्त भेद का तात्पर्य यही नहीं है कि वे एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। उनमें निम्नलिखित समानताएँ भी हैं :—

१. राजनीतिशास्त्र और नीतिशास्त्र दोनों ही मानवीय व्यवहार से सम्बन्धित हैं। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अरस्तू उसको राजनैतिक प्राणी भी कहता है। प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी समाज और राजनैतिक व्यवस्था का अंग है। नैतिक व्यवहार का राज्य से निकट सम्बन्ध है। राज्य नागरिकों के अधिकार और कर्तव्य निर्धारित करता है। सामाजिक नैतिकता बहुत कुछ राज्य से प्रभावित होती है।

२. राजनीति और नीति दोनों ही नियामक विज्ञान हैं। दोनों ही मानवीय व्यवहार का अध्ययन करते हैं और उसके लिये नियम प्रदान करते हैं। राजनीतिशास्त्र जन कल्याण के लिये व्यक्ति और समुदायों को व्यवस्थित करने के लिये नियम बनाता है। दूसरी ओर नीतिशास्त्र परम शुभ को प्राप्त करने के लिये व्यक्तियों के लिये नियम बनाता है। यह कहा जा सकता है कि राजनीतिशास्त्र को ऐसे नियम बनाने चाहिये जो व्यक्तियों को परम शुभ की प्राप्ति में अधिकाधिक सहायक हों।

इस प्रकार न तो नीतिशास्त्र राजनीति की शाखा है और न राजनीतिशास्त्र का विभाग है परन्तु दोनों एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। राजनीतिशास्त्र को नैतिक नियमों पर चलना चाहिये।

Q. 9. What is the value of morality for religion? Is morality necessary for religion? (Alld. 57). (Alld. 52).

प्र० ६. धर्म के लिये नैतिकता का क्या मूल्य है? क्या धर्म के लिये नैतिकता आवश्यक है?

Q 10. Religion is morality touched with emotion. Discuss this statement, bringing out the function of religion in relation to moral life. Can there be a moral ideal without religion? Consider this question criticcally. Agra. 50).

प्र० १०. भावना से युक्त नैतिकता ही धर्म है। इस कथन की व्याख्या करते हुए नैतिक जीवन के सम्बन्ध मे धर्म के कार्य का स्पष्टीकरण कीजिये। क्या धर्म के बिना नैतिकता का अस्तित्व सम्भव है? इस प्रश्न पर आलोचनात्मक विचार कीजिये।

उत्तर :—मैथ्यू आर्नल्ड (Mathew Arnold) के अनुसार "भावना से युक्त नैतिकता ही धर्म है।" यह मत धर्म और नैतिकता मे किसी प्रकार का भेद नही करता। प्रिंगल पैटीसन (Pringle Pattison) एवं ब्रैडले इत्यादि अनेको विद्वानो के अनुसार भी नैतिकता और धर्म मे अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है। ब्रैडले के अनुसार "नैतिकता से परे जाना नैतिक कर्तव्य है और वह कर्तव्य है धार्मिक होना।" परन्तु धार्मिक होना उसी प्रकार कोई कर्तव्य नहीं है जिस प्रकार भोजन करना, पानी पीना, सोना इत्यादि। धर्म मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति हैं चाहे वह जिस रूप मे भी अभिव्यक्त हो। उपरोक्त मत मे वह बात यथार्थ है कि धर्म भावना पर आधारित है। परन्तु नैतिकता बुद्धि पर आधारित है। भावना प्रधान हो जाने पर उसको नैतिकता नही कहना चाहिये। धर्म और नैतिकता को एक मानने वाले विचारक दोनों के अन्तर को भूल जाते हैं।

इस विषय में दो मत नही हो सकते कि 'धर्म' यदि वह वास्तव मे धर्म है तो उसका नैतिकता से अवश्य सम्बन्ध होना चाहिये। यहाँ पर 'धर्म' शब्द का अंग्रजी के 'रिलीजन' (Religion) शब्द के अर्थ मे प्रयोग किया जा रहा है। संस्कृत में धर्म का अर्थ जगत के नैतिक विधान से है। यथा कहा है कि "धर्मेण धार्यते प्रजा।" नीतिशास्त्र और धर्म के परस्पर सम्बन्ध के विषय में तीन मत हो सकते हैं यथा धर्म नैतिकता के पहले है, नैतिकता धर्म के पहले है और धर्म और नैतिकता अन्योन्याश्रित हैं।

१. धर्म नैतिकता से पहले है :—इस मत के समर्थक हैं देकार्त, (Descartes) लोक (Locke) पैले (Paley) इत्यादि। नैतिकता धर्म से उत्पन्न होती है। ईश्वर की आज्ञा और निषेध ही शुभाशुभ का निर्णय करता है। दैवी नियम ही नैतिक मानदंड है। ईश्वर अपनी इच्छा से नैतिकता की उत्पत्ति करता है। वह स्वयं किसी भी नैतिक नियम से वाध्य नहीं है। उसकी आज्ञाओ को हम पैगम्बरो और दैवी पुस्तको द्वारा जानते है।

यह मत ईश्वर को अनैतिक बना देता है। यह सत्य है कि ईश्वर पर किसी प्रकार का "चाहिये" का नियम लागू नही हो सकता परन्तु फिर भी यदि नैतिकता

आत्मगत अथवा भ्रममात्र नहीं है तो ईश्वर शुभ की ओर ही होना चाहिये। विश्व की नैतिक व्यवस्था नीतिशास्त्र की मौलिक मान्यता है। नैतिकता वस्तुगत है। ईश्वर स्वयं नैतिक गुणों का परिपूर्ण आगार है। वह शुभ की आज्ञा देता और अशुभ का निषेध करता है। नैतिकता उसकी निरंकुश इच्छा पर नहीं बल्कि उसकी नैतिक प्रकृति पर आधारित है। कर्म का शुभाशुभ इस पर नहीं है कि धर्म शास्त्रों में उनकी आज्ञा अथवा निषेध है बल्कि ईश्वरीय आज्ञा और निषेध को जानने की पहचान कर्मों का शुभाशुभ होता है। ईश्वर को नैतिकता से तटस्थ अथवा अनैतिक मान कर न तो धर्म स्थिर रह सकता है और न नैतिकता। धर्म मनुष्य के आध्यात्मक पक्ष को सन्तुष्ट करता है। नैतिकता उसके संकल्पात्मक पक्ष को सन्तुष्ट करती है। यदि मानव का सन्तुलित और सर्वांग विकास अभीष्ट है तो धर्म और नीतिशास्त्र साथ साथ और एक दूसरे के पूरक होने चाहिये।

२. **नैतिकता धर्म से पहले है :**—कान्ट के मतानुसार धर्म नैतिकता पर आधारित है और ईश्वर का आस्त्वि नैतिक तक अस्तित्व के कारण है। कान्ट सद्गुण के साथ आनन्द को अनिवार्य मानता है। पूर्ण शुभ में सर्वोच्च शुभ के साथ परमानन्द भी सम्मिलित है। सद्गुण तो परम शुभ है ही परन्तु आनन्द के बिना वह पूर्ण शुभ नहीं बनता। परन्तु ससार में सद्गुण के साथ आनन्द सदैव नहीं रहता। बहुधा यह देखने में आता है कि संसार में अच्छे मनुष्यों को अनेक कष्ट झेलने पडते हैं और बुरे मनुष्य मौज उड़ाते हैं। परन्तु यदि नैतिक विधान सच्चा है तो ऐसा नहीं होना चाहिये। अतः कान्ट एक ईश्वर की कल्पना करता है जो इस लोक में नहीं तो उस लोक में सद्गुण के साथ आनन्द और दुर्गुण के साथ कष्ट की व्यवस्था करे। ईश्वर ही सद्गुण का आनन्द से संयोज करता है क्योंकि वैसे सद्गुण तो हमारे संकल्प पर निर्भर रहते हैं और आनन्द का वाह्य परिस्थितियां के अनूकूल होने पर निर्भर है। अतः कान्ट के अनुसार ईश्वर नीति शास्त्र की एक आधार भूत मान्यता है। मार्टिन्यू भी इसी मन को मानता है। मैथ्यू आर्नल्ड के अनुसार "भावना से युक्त नैतिकता ही धर्म है।"

परन्तु यह मत धर्म के वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है। धर्म ईश्वर का साक्षात्कार करने की प्रेरणा है। ईश्वर का साक्षात्कार करने की पहली सीढ़ी नैतिकता है। ईश्वर आत्मा में ही नहीं बल्कि जगत में भी व्याप्त है। अतः साधक को "सर्वभूतहितेरतः" रहना आवश्यक है। क्योंकि ससार के सभी जीव और उनकी व्यवस्था भी भगवान की सृष्टि है इस प्रकार जैसा कि गीताकार ने बतलाया है ईश्वर नैतिक बाध्यता का स्रोत है। नैतिक बाध्यता का आधार न तो व्यक्ति स्वय हो सकता है और न समाज। व्यक्ति स्वयं नैतिक बाध्यता का आधार तभी होता है जब कि वह अपने को सच्ची आत्मा के रूप में माने यथार्थ रूप में आत्मा को पहचानने से आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं रह जाता और जगत में भी सब ओर परमात्मा ही दिखाई पडता है। उस समय मनुष्य स्वभावतः ही नैतिक हो जाता है। नैतिक बाध्यता अर्न्तबाह्य सभी का स्वाभाविक नियम बन

जाती है। इस प्रकार की स्थिति में मानव का संकल्प ईश्वर से एक रूप हो जाता है। परन्तु इससे उसकी स्वतन्त्रता नही मरती। सच्ची स्वतन्त्रता तो ईश्वरीय यंत्र बनने में ही है क्योकि ईश्वर ही आत्मा हैं। उसका नियम आत्मा का नियम है और आत्मा के नियम के अनुसार चलना ही स्वतन्त्रता है। नैतिक द्वन्द्व से परे और बुद्धि के स्थान पर भावना पर आधारित होने के कारण धार्मिक स्थिति नैतिक से परे हो सकती है परन्तु फिर भी वह शुभ की स्थिति है। उसका मार्ग नैतिकता से होकर ही जाता है। अवगुणी मनुष्य धार्मिक नही हो सकता। अनैतिक धर्म अंधविश्वास मात्र है। निरकुंश ईश्वर शैतान का स्वरूप है। अतः धर्म के लिये नैतिकता आवश्यक है। परन्तु धर्म नैतिकता से पीछे नही है क्योंकि दोनो ही भिन्न आधारो पर टिके हैं। संकल्प और भावनाओं का विकास एक दूसरे के बाद नहीं बल्कि साथ साथ होना चाहिये। मनुष्य पहले नैतिक और बाद मे धार्मिक अथवा पहले धार्मिक और बाद में नैतिक नहीं है बल्कि एक ही साथ नैतिक भी है और धार्मिक भी। सर्वांगं दृष्टि कोण ही मनुष्य को पूर्णता की ओर ले जा सकता है।

३. धर्म और नैतिकता अन्योन्याश्रित हैं :—अतः उपरोक्त दोनो एकांगी दृष्टि कोण से यह मत अधिक समीचीन है कि धर्म और नैतिकता एक दूसरे पर आधारित हैं। धर्म नीति का आदर्श आधार है। नीति समाज मे हमारी आध्यात्मिक चेतना अथवा धार्मिक भावना की अभिव्यक्ति है। घर-घर में ईश्वर का व्यापक देखने वाला भक्त अनायास ही समाज सेवा की ओर प्रवृत्त हो जाता है। सच्चा धार्मिक व्यक्ति समस्त जगत को "सिया राम मय" देखता है। धर्म और नैतिकता दोनो ही मानवीय व्यक्तित्व के विकास मे महत्व पूर्ण योगदान देते हैं। उन दोनों के श्रोत भिन्न-भिन्न हैं। धर्म का सम्बन्ध मानव और ईश्वर के सम्बन्धों से है। नैतिकता व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों पर आधारित है। नैतिकता संकल्प पर अधारित है और धर्म भावना पर। मानव के विकास में धर्म और नैतिकता का विकास साथ साथ होता है और दोनो एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। यह हो सकता है कि किसी प्रकार का धर्म अनैतिक हो परन्तु उस अवस्था मे उसको धर्म कहना हो अनुपयुक्त होगा। धर्म ईश्वर के साक्षात्कार मे आस्था को कहते हैं। इस ईश्वर-साक्षात्कार के विभिन्न स्तरो के साथ धर्म भी विभिन्न श्रेणी के हो सकते हैं। परन्तु पूर्ण एव सर्वांग ईश्वर साक्षात्कार की स्थिति अनैतिक नही हो सकती। धर्म हमारे समस्त व्यक्तित्व को सन्तुष्ट करता है। अतः उसका नैतिक होना भी अनिवार्य है। क्योंकि नैतिक हुए बिना वह सकल्पात्मक पक्ष को सन्तुष्ट नही कर सकता। निष्क्रिय भावना मात्र एकांगी और निर्जीव है। नैतिकता के बिना धर्म अधूरा है। अतः नैतिकता धर्म पर प्रतिक्रिया करती है और उसको शुद्ध एवं परिष्कृत बनाती है। धर्म नीति पर प्रतिक्रिया करता है और उसको प्रेरणा देता है। धर्म अथवा नैतिकता कोई भी एक दूसरे की कमी को पूरा नही कर सकते। व्यक्ति, जगत और भगवान के सम्बन्धो के समुचित एव सर्वांग विकास के हेतु धर्म और नैतिकता दोनो ही अनिवार्य हैं।

ईश्वर का अस्तित्व और आत्मा की अमरता यह दोनों ही धर्म और नीति की सांझी मान्यताएँ हैं। जो कुछ जगत में आदर्श है वही ईश्वर में यथार्थ हो जाता है। हमारी नैतिक 'चाहिये' की वाध्यता के पीछे यह दैवी यथार्थ ही है। मानव दैवी ज्योति की अपूर्ण अभिव्यक्ति है। अतः वह स्वभावतः ही उस पूर्ण की ओर उन्मुख रहता है। संकल्प में उस पूर्ण की ओर उन्मुखता नीति की ओर ले जाती है और भावना के क्षेत्र में धर्म की ओर। ईश्वर के आधार के बिना नैतिक आदर्श आ मगत कल्पना मात्र हैं। सत में स्थित हुए बिना नैतिक नियमों म वाध्यता नहीं आ सकती बिना नैतिक आदर्श हमें इसीलिये प्रेरणा देते हैं क्योंकि वह उस पूर्ण प्रकाश पर आधारित हैं जिसकी अल्प ज्योति हम सब में प्रज्वलित है। ईश्वर साक्षात पूर्णता है, सद्गुणों का भंडार है, सभी मूल्यों का आगार है।

इसी प्रकार नैतिकता की यह भी माँग है कि आत्मा अमर होनी चाहिये। मानव जीवन अल्प और सीमित है, नैतिक आदर्श महान और असीम है। इस छोटे से जीवन में उसको आदर्श प्राप्त करना नितान्त अशक्य है। अतः एक असीम जीवन होने पर नैतिक आदर्शों को क्रमशः प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञान, सौन्दर्य और शुभ के साक्षात्कार की मानव की असीम अभीप्सा एक ही जीवन में तृप्त नहीं हो सकनी। नैतिक जीवन स्वयं ही आत्मा की अमरता का प्रमाण है। इस प्रकार धर्म और नैतिकता दोनो ही भावना और संकल्प के मार्ग से मानव को परम शुभ, सौन्दर्य और ज्ञान तथा समस्त पूर्णता के आगार भगवान तक ले जाते हैं। दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और मानव के सर्वांग विकास में दोनों ही अनिवार्य हैं।

Q. 11. Discuss the relation of Ethics to politics and consider how far the conduct of a nation or can be gudged by the same moral standard as the conduct of an individual. Is Gandhi right in applying his standard of truth and non violence to politics ? (Agra 51).

प्र० ११. नीति शास्त्र और राजनीति के सम्बन्ध का विवेचन कीजिये और यह विचार कीजिये कि किसी राष्ट्र का व्यवहार कहाँ तक उसी मानदंड से जाँचा जा सकता है जिससे कि व्यक्ति का व्यवहार। क्या गाँधी सत्य और अहिंसा के अपने मानदंड को राजनीति के क्षेत्र में लागू करने में सही मार्ग पर हैं।

उत्तर :—प्लेटो ने अपनी 'रिपब्लिक' (Republic) में राज्य को बड़े अक्षरों मे लिखा हुआ व्यक्ति माना है। राज्य व्यक्तियो से ही बनता है। व्यक्तियों से अलग उसकी अपनी कोई सता नहीं। व्यक्तियों के गुणों और स्वभाव से ही राष्ट्र के गुण और स्वभाव की रचना होती है। व्यक्ति की नैतिकता का विराट रूप ही राष्ट्र की नैतिकता है। प्लेटो गाँधी इत्यादि आदर्शवादी विचारकों ने नीति तत्वों को निरपेक्ष माना है। वह प्रत्येक देश काल में एक सी ही है। देशकाल के अन्तर के साथ बदलने वाली नैतिकता सच्ची नैतिकता नहीं है। विश्वव्यापी परम शुभ एक ही

है। वही व्यक्ति का भी शुभ है और राष्ट्र का भी। व्यक्ति और समाज में एक से ही नैतिक नियमों को मानने को प्लेटो न्याय (Justice) कहता है। शासन का आधार नैतिक होना चाहिये। कानून और दंड प्रयोग व्यक्तियों को नैतिक नहीं बना सकते। इस आदर्शवादी मत के अनुसार व्यक्ति और राष्ट्रों के व्यवहार को एक ही मानदंड से मापना सर्वथा उचित है। परन्तु इस विषय में एक दूसरा पक्ष भी है। राष्ट्रों के परस्पर व्यवहार व्यक्तियों के नहीं बल्कि व्यक्ति-समूहों के व्यवहार हैं अतः वे व्यक्तियों के परस्पर व्यवहार से भिन्न होते हैं। श्री अरविन्द के शब्दों में व्यक्ति व्यक्ति को प्यार कर सकता है, राष्ट्र राष्ट्र को प्यार नहीं कर सकता। गीता में भी लोक-धर्म में व्यक्ति-धर्म से बहुत से अपवाद माने गये हैं। तिलक एवं अन्य व्यावहारिक राजनीतिज्ञ भी इसी सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। यह निश्चित है कि राज्य शासन नैतिक नियमों पर आधारित माना जाता है। परन्तु राज्य शासन का उद्देश्य किसी एक व्यक्ति की नैतिकता न होकर सर्वजन कल्याण है। यदि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर आक्रमण करे तो उसको शान्ति पूर्वक सहन करना भी नैतिकता हो सकता है क्योंकि सम्भव है कि उससे आक्रमणकारी की आत्मा अथवा हृदय में परिवर्तन हो। परन्तु यदि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण करे तो उसको चुपचाप सहन करने से संसार में अराजकता बढ़ेगी, अधर्म को प्रोत्साहन मिलेगा और आक्रमणकारी और भी अनैतिक पथ अपनाने में नहीं हिचकेंगे क्योंकि हृदय परिवर्तन व्यक्ति का होता है, समूह अथवा राष्ट्र का नहीं। राष्ट्र अथवा समूह की नैतिकता व्यक्तिगत नैतिकता से निम्न है।

इसी कारण गाँधीजी के द्वारा राजनीति में सत्य और अहिंसा के प्रयोग के औचित्य का प्रश्न काफी विवादास्पद है। राष्ट्रों को अधिकाधिक नैतिक नियमों पर चलना चाहिये। परन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से राष्ट्र की नैतिकता का मानदंड व्यक्ति की नैतिकता से भिन्न है। जैसा कि कान्ट ने कहा है हमको स्वयं नैतिक पूर्णता प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये और दूसरों के लिये ऐसे साधन जुटाने चाहिये जो उनको अधिकाधिक पूर्णता की ओर ले जा सकें क्योंकि हम दूसरों को पूर्ण नहीं बना सकते। नैतिकता स्वतन्त्रेच्छा पर आधारित होने के कारण व्यक्तिगत है और उसमें समाज के कल्याण की प्रवृत्ति निहित होने के कारण सामाजिक है। अतः राष्ट्र के कर्णधार राजनीतिज्ञ जब राष्ट्र के प्रश्नों को लेकर चलें तो उनको यह ध्यान रखना पड़ेगा कि वह राजनैतिक प्रश्न, वह सामाजिक उत्तरदायित्व जहाँ एक ओर उनकी व्यक्तिगत नैतिकता से सम्बन्धित है वहाँ दूसरी ओर उसका सम्बन्ध अधिकतर अन्य लोगों से है। राजनीतिज्ञ का यह कर्तव्य है कि वह ऐसी परि-स्थितियाँ उत्पन्न करे जिससे कि उसके और अन्य राष्ट्रों के नागरिक सपथ पर चलें और क्योंकि राष्ट्रों का हृदय परिवर्तन लगभग अशक्य है अतः प्रत्येक राष्ट्र के राज-नीतिज्ञों का कर्तव्य है कि न्याय को यथाशक्ति कायम रखें और अन्याय का बलपूर्वक

विरोध करे। समूह मे मानव की बुद्धि का स्तर अत्यन्त निम्न हो जाता है और पाशविक प्रवृत्तियाँ अधिक सजग हो जाती हैं। अतः समूह अथवा राष्ट्र से सम्बन्धित विषयो मे सत्य और अहिंसा के वही अर्थ नहीं रह सकते जो कि वैयक्तिक नैतिकता मे है। व्यक्तिगत विषयो में तो व्यक्ति को अपने प्राण देकर भी नैतिक नियमो की रक्षा करनी चाहिये परन्तु किसी भी राजनीतिज्ञ को यह अधिकार नहीं है कि वह सत्य और अहिंसा का नाम लेकर समस्त राष्ट्र को बलिदान हो जाने दे क्योंकि उसके अपने प्रसंग मे तो स्वेच्छापूर्ण होने के कारण वह बलिदान नैतिक होगा परन्तु राष्ट्र के प्रश्न मे अन्य लोगो का बलिदान उनकी स्वेच्छा से नहीं बल्कि नेता की इच्छा से होने का कारण अनैतिक हो जायगा। नैतिकता लादी नहीं जा सकती। राजनीतिज्ञो को अपने राष्ट्र के लिये और दूसरे राष्ट्र के लिए ऐसी नीति पर चलना है जो सबके लिये कल्याणकारी हो और राष्ट्र समूह का बौद्धिक स्तर व्यक्ति से निम्न होने के कारण बहुधा हिंसा और कूटनीति का प्रयोग भी आवश्यक हो जाता है। व्यक्तियो और राष्ट्रो के परस्पर सम्बन्ध के स्तरो की इस भिन्नता के कारण ही व्यक्ति और राष्ट्र की नैतिकता का मानदण्ड भिन्न होना चाहिये। अतः महात्मा गाँधीजी के राजनीति के क्षेत्र मे सत्य और अहिंसा के प्रयोग मे अनेक अपवाद आवश्यक हो जाते हैं। इस मौलिक सत्य से कोई इनकार नहीं कर सकता कि राजनीति नीति पर आधारित होनी चाहिये परन्तु व्यक्ति और राष्ट्र क सम्बन्धो के स्तर मे अन्तर होने से उनकी नैतिकता के स्वरूप मे भी अन्तर हो जायेगा।

प्रश्न के प्रथम भाग के अन्तर के लिये प्रश्न ८ का उत्तर देखिये।

Q 12. In what sense does ethics differ from the natural sciences? Show in this connetion how ethics is related to Sociology (Agra 55.).

प्र० १२. नीतिशास्त्र किस अर्थ में प्राकृतिक विज्ञानों से भिन्न है? इस सम्बन्ध में नीतिशास्त्र और समाज-विज्ञान का सम्बन्ध दिखलाइये।

उत्तर :—प्रश्न के पहले भाग के उत्तर के लिये प्र० २ का उत्तर देखिये।

Q. 13. What are the main problems of Ethics as a sciernce? How is Ethics related to sociology (Agra 57)

प्र० १३. एक विज्ञान के रूप में नीतिशास्त्र की मुख्य समस्याएँ क्या है? नीतिशास्त्र का समाज विज्ञान से क्या सम्बन्ध है?

उत्तर :—प्रश्न के पहले भाग का उत्तर प्र० ६ के उत्तर मे देखिये।

नीति शास्त्र का समाज विज्ञान से सम्बन्ध :—नीतिशास्त्र और समाज विज्ञान का गहरा सम्बन्ध है क्योंकि नीतिशास्त्र मनुष्य के व्यवहार के शुभाशुभ विवेचन का शास्त्र है और व्यवहार समाज के बिना सम्भव नहीं है जिसका अध्ययन समाज विज्ञान करता है। व्यक्ति और समाज मे सम्बन्ध होने से नीति और समाज-

विज्ञान में भी सम्बन्ध हो जाता है। समाज के बाहर मानव की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उसको अपनी शुभाशुभ, कर्तव्य, अकर्तव्य, पुण्य, पाप और रीति रिवाज की धारणाएं समाज से ही मिलती है। अतः व्यक्ति का नैतिक और मानसिक विकास बहुत कुछ समाज पर निर्भर है। दूसरी ओर समाज की उन्नति भी व्यक्तियों की नैतिकता पर निर्भर है क्योंकि आखिरकार समाज व्यक्तियों का समूह ही तो है। महान् व्यक्तियों ने समाज मे बड़े-बड़े सुधार किये है। अतः समाज और व्यक्ति का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ट हैं। इसी कारण नीतिशास्त्र और समाज-विज्ञान का गहरा सम्बन्ध है। नीतिशास्त्र व्यक्ति के नैतिक आदर्श, कर्मो के शुभाशुभ और व्यवहार एवं चरित्र के नैतिक विकास से सम्बन्धित है। समाज विज्ञान मानव समाज की रचना, उद्गम और विकास का इतिहास है। वह विभिन्न समुदायों के रीति-रिवाज और विकास का अध्ययन करता है।

नीतिशास्त्र समाज के सम्बन्ध मे व्यक्ति के परम शुभ की विवेचना करने के लिये समाज विज्ञान पर आधारित है। सिजविक के शब्दों मे "हम व्यक्तिगत मनुष्य को केवल किसी समाज के सदस्य के रूप मे जानते है। जिनको हम गुण कहते है वह मुख्यतः उसके अपने साथियों से व्यवहार मे प्रगट होते है और उसकी सबसे मुख्य खुशियाँ उनके सहवास से मिलती है, अतः यह धारणा रखना विरोधाभास है कि मानव का सर्वोच्च शुभ उसके सामाजिक सम्बन्धो से अथवा उस जाति की रचना और अवस्था से स्वतन्त्र है जिसका कि वह एक भाग है।" इस प्रकार व्यक्ति का परम शुभ समाज के परम शुभ पर आधारित है क्योंकि वह समाज का एक अभिन्न अंग है। नीतिशास्त्र का लक्ष्य वैयक्तिक और सामाजिक हित, स्वार्थ और परार्थ मे सामंजस्य करना है। व्यक्ति के व्यवहार से नीतिशास्त्र का सम्बन्ध है। समाज की आदतें, रीति रिवाज और व्यक्ति को प्रभावित करने वाली संस्थाओं का अध्ययन समाज विज्ञान करता है। अतः नीतिशास्त्र समाज विज्ञान पर निर्भर है।

समाज विज्ञान भी नीतिशास्त्र पर निर्भर है। वह समूह और समाजो की आदतों, रीति-रिवाज और संस्थाओं का अध्ययन मात्र करता है और उनका नैतिक मूल्यांकन नीतिशास्त्र पर छोड़ देता है।

परन्तु नीतिशास्त्र और समाज-विज्ञान के निकट सम्बन्ध का यह अर्थ नहीं है कि नीतिशास्त्र समाज-विज्ञान की शाखा है। विकासवादियों के मतानुसार मानव का वर्तमान नैतिक व्यवहार उसके प्रागैतिहासिक पशु व्यवहार से ही एक विकास है। परन्तु यह विचार मिथ्या है। यह नीतिशास्त्र और समाज-विज्ञान के अन्तर को भूल जाता है। नीतिशास्त्र और समाज विज्ञान मे निम्नलिखित अन्तर है:—

१. समाजशास्त्र विधायक विज्ञान है और नीतिशास्त्र नियामक विज्ञान है अतः दोनों मे बड़ा भारी अन्तर है। नियामक विज्ञान आदर्शो का अध्ययन करता

है। विधायक विज्ञान तथ्यो का अध्ययन करता है। समाज-विज्ञान हमें समाज और समूहों के विषय में तथ्यात्मक ज्ञान देता है। नीतिशास्त्र नैतिक आदर्श की कसोटी पर उनका मूल्योकन करता है। वह सामाजिक रीति-रवाज, आदतो और परंपराओं इत्यादि के शुभाशुभ का निर्णय करता है। इस प्रकार जहाँ नीतिशास्त्र और समाज-विज्ञान परस्पर सम्बन्धित हैं वहाँ दोनों के कार्य चेत्र भी पृथक-पृथक हैं।

२. समाजशास्त्र एक कोरा मौखिक अध्ययन है। परन्तु नीतिशास्त्र हमारे व्यावहारिक जीवन को भी प्रभावित करता है। वह परम शुभ की खोज करता है और उसके प्रकाश मे सद्गुणों और व्यक्ति एवं राज्य के कर्तव्यो तथा सामाजिक संस्थाओ, रीति-रवाजो, विधानों और राजनैतिक एव आर्थिक नियमो के शुभाशुभ का निर्णय करता है। नैतिक आदर्श के विज्ञान के रूप में वह दर्शन से भी सम्बन्धित है।

३. नीतिशास्त्र समाज के सदस्य के रूप में वैयक्तिक मन का अध्ययन करता है। समाज-विज्ञान सामाजिक रीति रवाज़ो, आदतो और सस्थाओ मे अभिव्यक्त होने वाले समूह मन का अध्ययन करता है।

४. समाज-विज्ञान वस्तुगत मानसिक विज्ञान है और नीतिशास्त्र आत्मगत मानसिक विज्ञान है। समाज-विज्ञान वस्तुगत मानसिक व्यापार यथा रीति-रवाज, कानून, व्यवस्था इत्यादि का अध्ययन करता है। नीति का विषय व्यक्ति की आन्तरिक प्रेरणाओ, इच्छाओ, संकल्पो और अभिप्रायों के प्रसंग में उसका स्वेच्छापूर्ण व्यवहार है।

५. समाज विज्ञान की विधि ऐतिहासिक वैज्ञानिक और अनुभव मूलक है। नीतिशास्त्र की विधि प्रयोजनवादी है। वह वैज्ञानिक भी है और दार्शनिक भी, अनुभव मूलक भी है और अनुभवातीत (Transcendental) भी है। वह वर्णनात्मक भी है और विवेचनात्मक भी है। समाज विज्ञान विधायक विज्ञानों के समान विभिन्न तथ्यो मे कार्यकारण सम्बन्ध की खोज करता है। नीतिशास्त्र विश्व की व्यवस्था मे उनका स्थान निर्धारित करके, परम शुभ से उनकी तुलना करके नैतिक तथ्यों की व्याख्या करता है। समाज विज्ञान मानव व्यवहार का विकास दिखलाता है। नीतिशास्त्र परम शुभ के प्रकाश में मानव व्यवहार का मूल्याकन करता है।

६. समाज विज्ञान मनुष्य के वाह्य व्यापारो का अध्ययन करता है, नीतिशास्त्र मनुष्य के व्यवहार के आन्तरिक पक्ष पर जोर देता है। अतः नीतिशास्त्र को समाज विज्ञान की शाखा नहीं कहा जा सकता।

Q. 14. Explain how 'the study of conduct leads us inevitably' into the study of social life. Bring out clearly in this connec ion the relation of Ethics to politics and sociology. (Agra 53).

प्रश्न १४. समझाइये कि कैसे "व्यवहार का अध्ययन हमें स्वभावतः ही सामाजिक जीवन के अध्ययन में ले जाता है।" इस विषय में नीतिशास्त्र के राजनीति और समाज विज्ञान से सम्बन्ध का स्पष्ट कीजिये।

उत्तर :—देखिये प्र० ८ और प्र० १३ के उत्तर।

Q. 15. Discuss fully the problem and scope of Ethics and bring out clearly the relation of Ethich to Psychology. (Agra.54).

प्रश्न १५. नीतिशास्त्र की समस्या और क्षेत्र का पूर्ण विवेचन कीजिये और नीतिशास्त्र से मनोविज्ञान के सम्बन्ध को स्पष्ट रूप से समझाइये।

उत्तर :—प्रश्न के पहले भाग का उत्तर प्र० ६ के प्रथम भाग के उत्तर में देखिये। नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान का सम्बन्ध :—

स्टाउट (Stout) के शब्दों में "नीतिशास्त्र यह नहीं पता लगाता कि हम यथार्थ मे कैसे सकल्प करते हैं बल्कि यह कि हमे कैसे सकल्प करना चाहिये। दूसरी ओर मनोविज्ञान औचित्य अथवा अनौचित्य अथवा उनको संभव बनाने वाली परम अवस्थाओं के प्रसग के बिना ही केवल संकल्प की उस प्रक्रिया की खोज करता है, जो कि यथार्थ मे होती है।" अतः मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र एक दूसरे से भिन्न हैं। ये अन्तर निम्नलिखित हैं :—

१. जैसा कि उपरोक्त कथन से स्पष्ट है। मनोविज्ञान तथ्यात्मक और विधायक विज्ञान है और नीतिशास्त्र आदर्शात्मक एवं नियामक विज्ञान है। मनोविज्ञान केवल मौलिक ज्ञान के लिये तथ्यों का अध्ययन करता है। नीतिशास्त्र नैतिक शुभ के प्रकाश में उनकी व्याख्या करता है। मनोविज्ञान "है" का अध्ययन करता है, नीतिशास्त्र का विषय है। "होना चाहिये।" सेठ (Seth) के शब्दो में "नीतिशास्त्र 'चाहिये' का सर्वोत्कृष्ट विज्ञान है।"

२. मनोविज्ञान कालेज नीतिशास्त्र से अधिक विस्तृत है। मनोविज्ञान मे ज्ञान, भावना और संकल्प तीनों की प्रक्रियाओं का अध्ययन है। नीतिशास्त्र का सम्बन्ध केवल सकल्प अथवा सकल्प की प्रक्रिया से है। यदि वह ज्ञान और भावना का अध्ययन करता भी है तो भी केवल संकल्प अथवा कर्म के प्रसंग में नीतिशास्त्र किसी आदर्श की ओर उन्मुख क्रिया के रूप में ही मानवीय अनुभव का अध्ययन करता है।

३. नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान दोनों ही मानवीय व्यवहार का अध्ययन करते हैं परन्तु उनके दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हैं। मनोविज्ञान नैतिक तथ्यो का अध्ययन केवल मानसिक तथ्यों के रूप में करता है। नीतिशास्त्र मनोवैज्ञानिक तथ्यो का अध्ययन नैतिक दृष्टिकोण से करता है।

अतः नीतिशास्त्र को मनोविज्ञान की एक शाखा नहीं माना जा सकता जैसा कि कुछ सुखवादी मानते हैं। मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र में मौलिक भेद है।

परन्तु फिर भी नीतिशास्त्र मनोविज्ञान पर आधारित है। नीतिशास्त्र परम शुभ का विज्ञान है। वह मानव व्यवहार के आदर्शों की खोज करता है। वह परम शुभ के प्रकाश मे हमारे सकल्पो के शुभाशुभ का निर्णय करता है। वह हमें यह बतलाता है कि हमे कैसे संकल्प करना चाहिये। परन्तु यह जानने से पहले हमे वह जानना आवश्यक हो जाता है कि हम यथार्थ मे कैसे संकल्प करते हैं। यह मनोविज्ञान का विषय है। मनोविज्ञान हमे यह बतलाता है कि हम कैसे संकल्प करते हैं। अतः नैतिकता के मनोवैज्ञानिक आधार को जानने के लिये नीतिशास्त्र मनोविज्ञान पर आधारित है। नैतिक चाहिये के ज्ञान के पूर्व संकल्प का स्वभाव और रचना तथा कर्म के प्रेरक कारणों, इच्छाओं, हेतुओ, अभिप्रायो तथा अनुभूतियो इत्यादि से उसका सम्बन्ध, नैतिक और अनैतिक क्रियाओ मे भेद, अन्तरात्मा का स्वभाव, बुद्धि और सकल्प मे सम्बन्ध, संकल्प की स्वतन्त्रता तथा अन्य व्यापारो का मनोवैज्ञानिक अध्ययन अनिवार्य है। इनके सम्बन्ध मे भ्रामक अथवा अपूर्ण ज्ञान होने पर परम शुभ की कल्पना भी दोष पूर्ण हो जायगी। सही मनोविज्ञान पर ही सही नीतिशास्त्र स्थापित हो सकता है। इस प्रकार नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान का अत्यन्त निकट सम्बन्ध है। नैतिक निर्णय के लिये पूर्ण नैतिक परिस्थिति के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की आवश्यकता है। बिना मनोवैज्ञानिक ज्ञान के नैतिक परिस्थिति समझना और नैतिकता को व्यवहार मे उतारना कठिन है। मनोविज्ञान नीतिशास्त्र का आधार हैं।

Q. 16. Is Ethics a positive science, a normative science or an art? Discuss (Agra 52).

प्र० १६ क्या नीतिशास्त्र एक विधायक विज्ञान, एक नियामक विज्ञान अथवा एक कला है? विवेचना कीजिये।

Q. 17. Explain and examine the conflict between art and morality. (Alld. 53).

प्र० १८. कला और नैतिकता के संघर्ष की विवेचना और परीक्षा कीजिये।

Q. 19. In morals the achievement cannot be distinguished from the inner-activity by which it is brouht about" (Mackenzie). Explain this statement and discuss why Ethics cannot be regarded as an Art.

प्र० १६. "नीति से फल को आन्तरिक क्रिया से पृथक नहीं किया जा सकता जिससे कि वह उत्पन्न हुआ है।" (मैकेन्जी) इस कथन की व्याख्या कीजिये और यह समझाइये कि नीतिशास्त्र को एक कला क्यों नहीं माना जा सकता।

उत्तर :—मैकेन्जी के अनुसार नीति और कला में भेद है। कला उसके वाह्य स्वरूप, उसके फल पर आधारित है और "नीति में फल को आन्तरिक क्रिया से प्रथक नही किया जा सकता।" नैतिक जीवन कोई कला नही है। नीति और कला मे निम्नलिखित भेद है :—

१. कला परिणाम पर निर्भर है, नीति हेतु पर। मैकेन्जी के शब्दो मे "कला में अन्तिम अपील किये हुए काम मे होती है जबकि नीति में अन्तिम अपील आन्तरिक कला के प्रति होती है।"

२. नैतिक गुणो का आधार संकल्प है कला किसी कार्य को करने की प्रवीणता है। वाह्य परिणाम अच्छा होने पर भी यदि संकल्प बुरा है तो कार्य अनैतिक कहा जायगा। कान्ट के शब्दो मे "एक शुभ संकल्प जो कुछ वह करता अथवा प्रभाव डालता है उससे नही, किसी नियोजित साध्य को प्राप्त करने के लिये उसकी उपयोगिता से नही बल्कि केवल उसके सकल्प के कारण ही शुभ है।" परन्तु कला कलाकार के संकल्प पर नही बल्कि योग्यता पर निर्भर है।

३. नैतिक गुण क्रिया मे है कलाकार निष्क्रिय होने पर भी अपनी प्रवीणता के कारण कलाकार है। मैकेन्जी के शब्दो मे "एक उत्तम चित्रकार वह है जोकि सुन्दरता से चित्र बना सकता है, एक अच्छा मनुष्य वह नही है जो शुभ कार्य कर सकता है बल्कि वह जो कि वास्तव मे करता है। अच्छाई कोई सामर्थ्य अथवा गुप्त शक्ति नही है बल्कि एक क्रिया है।" हम सच्चा आदमी उसी को कहेगे जो सच बोलता है। किसी को केवल इसलिए सच्चा नही कहा जा सकता कि वह सच बोल सकता है। नैतिक व्यक्ति कर्तव्य करने की आदत डालता है। अतः नैतिक गुण क्रिया पर आधारित है।

४. कलाकार वस्तु उत्पन्न करता है नैतिक व्यक्ति शुभ संकल्प के कारण नैतिक है। नैतिकता चरित्र शक्ति पर निर्भर है। कला प्रवीणता पर निर्भर है।

५. कला सिखाई जा सकती है, नैतिकता सिखाई नहीं जा सकती, नैतिक बनने के कोई नियम नही बतलाए जा सकते। वह व्यक्ति की अपनी स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर है, कला को गुरू सिखा सकता है। बहुत से महान कलाकार अपने गुरूओ के कारण महान बने। परन्तु नैतिकता कोई दूसरा नही सिखा सकता।

६. कलात्मक योग्यता जन्मजात है। महान कलाकार जन्मजात ही महान होते है। वह बाल्यकाल मे ही महान् कलाकार माने जाने लगते है। नैतिकता नैतिक गुणो के लगातार अभ्यास द्वारा अर्जित की जाती है। नैतिकता अर्जित गुण है।

अतः नीतिशास्त्र कला नही है। परन्तु इससे यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि कला को नीतिशास्त्र से कोई मतलब नही। 'कला के लिये कला' के समर्थक कला को स्वयं साध्य मानते है उसके द्वारा कल्याण को आवश्यक नहीं मानते। चाहे कोई कला कृति मानव के नैतिक पतन का कारण क्यो न हो चाहे

वह समाज के लिये हानिकारक भी क्यों न हो अपने स्थान पर वह महान् है, दूसरी ओर उपयोगितावादी कला के द्वारा जनकल्याण पर जोर देते हैं। कला और नीति के इस संघर्ष का आधार जीवन के प्रति एकांगी दृष्टिकोण है। यह हो सकता है कि कोई कलाकार चरित्रहीन होने पर भी महान् कलात्मक कृतियाँ उपस्थित करे परन्तु जहाँ एक ओर इससे उसको अच्छा मनुष्य नहीं माना जा सकता वहाँ दूसरी ओर अनैतिकता उसकी कला को भी कुछ न कुछ दूषित अवश्य कर देगी। मनुष्य के व्यक्तित्व को सर्वथा प्रथक विभागों में न तो बाँटा जा सकता है और न वैसा होना वाँछनीय ही है। महान् और जनकल्याणकारी कला को नैतिक आधार पर खड़ा होना चाहिये। वह नैतिकता से परे भी ले जा सकती हैं परन्तु अकल्याणकारी, नैतिक और पाशविक प्रवृतियो को उभाड़ने वाली नहीं होनी चाहिये। मानव का लक्ष्य व्यक्ति और समाज का सर्वांग विकास में है। इस विकास मे समुचित योग देने के लिये कला और नैतिकता में संघर्ष अवांच्छनीय है, सामंजस्य की आवश्यकता है।

Q. 20. Economics studies an abstraction, if it totally ignores the claims of moral values. Discuss the above so as to clearly bring out the relation between Economics and Ethics. (Agra 47).

प्र० २०. "नैतिक मूल्यों के अधिकारों की पूर्णतः अवहेलना करने पर अर्थशास्त्र केवल एक असूर्त्त तत्व का अध्ययन करता है।" उपरोक्त कथन की विवेचना कीजिये ताकि अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाय।

उत्तर :—अर्थशास्त्र मनुष्य की आर्थिक क्रियाओ का अध्ययन करता है। मनुष्य की इच्छाओ को पूर्ण करने वाली वस्तुओ के उत्पादन, वितरण और उपयोग की समस्याएँ ही उसका वस्तु विषय है। नीतिशास्त्र मनुष्य केवल आदर्श का अध्ययन करता है। उसका नेत्र मानव की नैतिक क्रियाएँ है। अतः अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र मे परस्पर भेद है। वह भेद निम्नलिखित है :—

१. नीतिशास्त्र एक नियामक विज्ञान है। अर्थशास्त्र विधायक विज्ञान है। नीतिशास्त्र आदर्शात्मक है। अर्थशास्त्र तथ्यात्मक है। नीतिशास्त्र का विषय मानव आदर्श हैं। अर्थशास्त्र मनुष्य की आर्थिक क्रियाओ से सम्बन्धित है। वह सम्पत्ति की उत्पत्ति, वितरण और उपभोग के तथ्यो का अध्ययन करता है और समाज के आर्थिक कल्याण के हेतु उनसे सामान्य आर्थिक नियम बनाया है। नीतिशास्त्र उन आदर्शों की खोज करता है जिनसे सम्पत्ति के उत्पादन, वितरण और उपभोग का नियंत्रण होना चाहिये।

२. नीतिशास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य के आध्यात्मिक कल्याण से है परन्तु अर्थ-शास्त्र उसके भौतिक कल्याण से सम्बन्धित है।

३. अर्थशास्त्र की पद्धति ऐतिहासिक है और नीतिशात्र की पद्धति प्रयोजन-वादी है। अर्थशास्त्र जो है उसका अध्ययन करता है। नीतिशास्त्र जो होना चाहिये उसकी खोज करता है।

४. नीतिशास्त्र का क्षेत्र अर्थशास्त्र से अधिक व्यापक है। अर्थशास्त्र का सम्बन्ध केवल मनुष्य की आर्थिक क्रियाओ से है परन्तु नीतिशास्त्र मनुष्य की सभी क्रियाओं पर नैतिक निर्णय देता है। उसके क्षेत्र में आन्तरिक क्रियाएँ भी आती हैं।

५. अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र के निर्णयो की प्रकृति और विषय मे अन्तर है। अर्थशास्त्र क्रियाओ के वाह्य रूप पर निर्णय देता है और उसके निर्णय सापेक्ष होते हैं। नैतिक निर्णय का विषय सम्पूर्ण नैतिक परिस्थिति के प्रसग मे मनुष्य की प्रेरणाएँ, हेतु, अभिप्राय, साध्य और साधन हैं और उसके निर्णय निरपेक्ष आदेश हैं।

परन्तु फिर भी अर्थशास्त्र को नीतिशास्त्र से प्रथक रखना अवॉच्छनीय है। अर्थशास्त्र मनुष्य की इच्छाओ की पूर्ति की वस्तुओ का अध्ययन करता है। नीति-शास्त्र का विषय परमशुभ है। आर्थिक वस्तुओं का मूल्यांकन नीतिशास्त्र ही करेगा क्योकि वह मनुष्य का सर्वांग कल्याण चाहता है। आर्थिक शुभ की नैतिकता परम शुभ पर आधारित है। उसका अपना कोई आन्तरिक मूल्य नहीं है। इस प्रकार अर्थशास्त्र नीति पर आधारित है।

दूसरे जन कल्याण साधन के लिये अर्थशास्त्र को नैतिक नियमो पर चलना चाहिये। आधुनिक अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र को अर्थ का नही बल्कि कल्याण का शास्त्र मानते है। उत्पत्ति, वितरण और उपभोग की व्यवस्था इस प्रकार होनी चाहिये कि उससे समाज के प्रत्येक व्यक्ति का अधिकाधिक कल्याण साधन हो सके। इसके लिये नैतिकता का निर्देश अनिवार्य है। अतः अर्थशास्त्र को नीति-शास्त्र से प्रथक नही रखा जा सकता। रस्किन (Ruskin) और कार्लाइल (Carlyle) ने इस सम्बन्ध पर बड़ा जोर दिया है।

तीसरे अर्थशास्त्र सम्पति से सम्बन्धित है और नीतिशास्त्र व्यक्तित्व से। सम्पति का अधिकार व्यक्तित्व के अधिकार पर आधारित है। सम्पत्ति के संचय, विनिमय और वितरण के अधिकार भी व्यक्तित्व के अधिकार पर निर्भर है। व्यक्तित्व के अधिकारो की व्याख्या नीतिशास्त्र करता है। अतः अर्थशास्त्र नीति-शास्त्र के आधीन है।

अध्याय २

The Psychological back ground of Ethics; Psychological analysis and ethical significance of Desire, volition, Motive, Intention, Conduct and Character.

(नीतिशास्त्र की मनोवैज्ञानिक पृष्ठ भूमि । इच्छा, संकल्प प्रेरणा, अभिप्राय, आचरण व चरित्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण व उनका नैतिक महत्व । स्वतन्त्रता बनाम नियतिवाद ।)

Q.1. Discuss the relation between Desire, Self and Character. (Alld. 56)

प्र० इच्छा, आत्मा और चरित्र में क्या सम्बन्ध है, समझाकर लिखिये ।

उत्तर :—जब हम किसी प्रकार की कमी (Want) अनुभव करते हैं तब हमें उसको मिटाने के लिये किसी वस्तु की इच्छा (Desire) होती है । इसके मूल में वर्तमान अवस्था से असंतोष है और साथ ही है कि बेहतर अवस्था की प्राप्ति की ओर प्रवृत्ति वह एक पेचीदा मानसिक अवस्था है । उसमे ज्ञानात्मक, रागात्मक और सकल्पात्मक तीनों ही प्रकार के तत्व हैं ।

ज्ञानात्मक पक्ष मे इच्छा मे कमी को मिटाने वाली साध्य वस्तु का विचार है । यही भूख और इच्छा मे अन्तर है । इसके साथ ही इच्छा में उस साध्य वस्तु को प्राप्त करने के साधन का भी विचार है । इच्छा की उत्पति मे व्यक्ति वर्तमान और भविष्य की तुलना करता है । यथार्थ और आदर्श में जितनी ही अधिक असमानता होती है उतनी ही तीव्र इच्छा हमें अपनी आकांक्षित वस्तु को प्राप्त करने की होती है ।

रागात्मक पक्ष मे वस्तु की अनुपस्थिति मे उसकी कमी की कष्टमय अनुभूति रहती है और उसके मिलने पर होने वाले सुख और सन्तोष की आशा से एक सुखमय अनुभूति भी रहती है ।

सकल्पात्मक पक्ष में इच्छा मे साध्य वस्तु को प्राप्त करने की एक क्रियात्मक प्रवृत्ति और कमी को दूर करने की तीव्र प्रेरणा है ।

इस प्रकार इच्छा कमी (Want) से भिन्न है क्योंकि कमी अचेतन है । वह भूख (Appetite) से भी भिन्न है क्योंकि उसमे केवल अन्ध प्रवृत्ति मात्र नहीं बल्कि विचार भी हैं । पशुओ मे भूख होती है । उसमें साध्य वस्तु की स्पष्ट चेतना और भले बुरे का विचार नहीं रहता । उसमें ज्ञान नहीं होता । वह केवल क्रियात्मक है । भूख मे ज्ञानात्मक पक्ष आ जाने पर वह इच्छा बन जाती है । अतः इच्छा

विवेक युक्त मानसिक वेग है। उसमें मनुष्य, देश, काल, परिस्थिति तथा उचित अनुचित आदि बातों का ध्यान रहता है। नैतिक विचार इच्छाओं पर ही आधारित हैं।

इच्छाओं मे परस्पर संघर्ष होता है और केवल बलवती इच्छायें ही इस संघर्ष में विजय प्राप्त करती हैं। इस प्रभावशाली इच्छा को अभिलाषा (Wish) कहते है। यह सकल्प से भिन्न है। मैकेन्जी के शब्दों में "अभिलाषा एक अकेली प्रभावशाली इच्छा है जबकि सकल्प इच्छाओं के एक ससार पर अधिकार करने पर निर्भर है।" इस प्रकार इच्छा जहाँ एक कमी और भूख से भिन्न है वहाँ दूसरी और अभिलाषा और संकल्प से भी।

संकल्प का विचार हमें चरित्र पर ले आता है। नोवेलिस (Novalis) के अनुसार चरित्र (Character) "एक पूर्णतः निर्मित संकल्प है।" व्यक्ति के इच्छित कार्यों से उसका चरित्र बनता है। वह स्थायी मानसिक प्रवृत्ति है। उदाहरण के लिये यदि कोई व्यक्ति सदैव बुरे कामों मे ही लगा रहता है अथवा मदिरा इत्यादि का बहुधा सेवन करता है तो यह उसके चरित्र का एक अग बन जाता है इसी प्रकार सदैव देश सेवा मे रत रहना देशभक्त का चरित्र और सदैव विद्याध्ययन में व्यस्त रहना विद्वान का चरित्र बन जाता है। चरित्र और स्वभाव (Nature) मे अन्तर है। स्वभाव तो जन्मजात है और चरित्र अर्जित है। अपनी प्रकृति के आधार पर, उसकी मूल प्रवृत्तियो और संवेगो का नियन्त्रण करने से व्यक्ति के चरित्र का निर्माण होता है। इसी चरित्र निर्माण मे ही नैतिकता है।

चरित्र आचरण (Conduct) मे अभिव्यक्ति होता है। आचरण चरित्र का बाह्य रूप है। जैसा चरित्र होगा वैसा ही आचरण होगा। नीच व्यक्ति बुरे कार्यों मे रत रहते है और सज्जन परसेवा और आत्मलाभ मे। चरित्र के अनुसार ही संकल्प होते है। परन्तु सकल्प ही चरित्र को बनाते भी है। अतः स्पष्ट है कि व्यक्ति के भूतकालीन चरित्र से उसके सकल्प पूर्णतः नियत्रित नही होते। अच्छा व्यक्ति बुरे कार्य कर सकता है और बुरा भी शुभ सकल्प कर सकता है। कल का डाकू आज ऋषि बन सकता है। किसी एक बुरे कार्य को देखकर किसी व्यक्ति का चरित्र बुरा नही कहा जा सकता। परन्तु यदि कोई व्यक्ति स्थायी रूप से बुरे ही कार्य करता रहे तो उसका चरित्र भी बुरा ही कहा जायगा। इस प्रकार आचरण और चरित्र अन्योन्याश्रित है। अतः नीतिशास्त्र आचरण की नैतिकता अथवा चरित्र के शुभाशुभ का विज्ञान कहलाता है। आचरण अथवा चरित्र मे बाहरी दबाव से किये गये कार्यों का समावेश नहीं है। वे स्वतन्त्र सकल्प पर आधारित है।

चरित्र और इच्छा का आत्मा से घनिष्ट सम्बन्ध है। इच्छा चेतन है और उसमे किसी वस्तु की ओर प्रवृत्ति है। अतः उनका बौद्धिक प्राणियो से सम्बन्ध है।

इच्छा आत्मा की इच्छा है। उस पर आत्मा का अनुशासन है। उनके द्वारा व्यक्ति किसी वस्तु को पाने की ओर प्रवृत्त होता है। आत्मा किसी वस्तु को प्राप्त करना चाहती हैं जिससे उसको इच्छा सन्तुष्ट हो और जो कि उसके चरित्र से समन्वित हो। म्यूर हैड (Muirhead) के शब्दों में "इच्छायें सदैव वस्तुओं के लिये होती है और ये वस्तुएँ सदैव एक आत्मा से सम्बन्धित रहती हैं जिसके लिये इनका मूल्य है। आत्मा के लिये उनका मूल्य होने के कारण ही वे "इच्छा की विषय" बन जाती है, जिनकी प्रकृति और जिनका अस्तित्व तक उस आत्मा के चरित्र पर निर्भर कहा जाता है जिसको वे प्रभावित करती है।" उदाहरणार्थ जन सेवा की इच्छा का महात्मा गांधी के चरित्र और आत्मा से घनिष्ट सम्बन्ध था। जन सेवा का उनकी आत्मा के निकट बड़ा मूल्य था क्योंकि वह उनके चरित्र के अनुकूल थी और इसी कारण वे जन सेवा करते थे। इस प्रकार इच्छा और आत्मा का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। सभी इच्छाएँ किसी आत्मा की इच्छाएँ हैं। इच्छाओं की पूर्ति से व्यक्ति को आत्मसन्तोष होता है। इस आत्म सन्तोष के मूल्य में चरित्र है। जैसा चरित्र होगा वैसी ही वस्तु से आत्म सन्तोष हो सकता है।

Q. 2. Explain the nature of moral deliberation with reference to the main psychological factors involved in it. (Alld. 57)

प्र० २. नैतिक विवेचन को ऐसी व्याख्या कीजिए जिसमें उसके अन्तर्गत मनोवैज्ञानिक तत्व स्पष्ट हो जायँ।

उत्तर :—मनुष्य की नैतिक विवेचना के विषय उसके ऐच्छिक कार्य हैं। इन ऐच्छिक कार्यों का निर्णय उसके चरित्र पर निर्भर है। उसे विभिन्न विकल्पों में चुनाव करना पड़ता है, उनके परिणामों का विश्लेषण करना पड़ता है, तब कहीं जाकर वह किसी निश्चय पर पहुंच पाता है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने पर नैतिक विवेचन में चार मनोवैज्ञानिक तत्व मिलते हैं :—

१. विभिन्न इच्छाओं की चेतना।
२. परस्पर विरुद्ध इच्छाओं का संघर्ष।
३. इच्छाओं के परिणामों का नैतिक विवेचन।
४. निर्णय।

नैतिक विवेचन का प्रारम्भ इच्छा की चेतना से होता है यह इच्छा केवल भूख मात्र नहीं होती बल्कि उसमें किसी वस्तु की ओर स्पष्ट प्रवृत्ति होती है। उस वस्तु से हमारे अपने अन्दर महसूस होने वाली किसी कमी की पूर्ति होती है। हम यह समझते हैं कि उस वस्तु की प्राप्ति से हमको सन्तोष मिलेगा। परन्तु मानव मन की प्रवृतियाँ अनेक हैं और उनके साथ ही उसकी इच्छाएँ भी अनेक हैं। हम केवल भोजन ही नहीं चाहते बल्कि प्रेम भी चाहते हैं। खाने की भूख के साथ-साथ

मनुष्य में काम वासना भी उतनी ही तीव्र होती है। इस प्रकार मनुष्य की चेतना मे एक ही समय मे अनेक इच्छाएँ सामने आती हैं।

यदि ये इच्छाएँ एक ही प्रकार की हो अथवा उनका सम्बन्ध एक ही इच्छा-मण्डली (Universe of Desires) से हो तो किसी प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न नहीं होता। परन्तु यदि ये इच्छाएँ व्यक्ति के चरित्र अथवा आदर्श से विरुद्ध हो अथवा परस्पर विरोधी हों तो फिर संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। सभी व्यक्तियों के मन मे आये दिन इसी प्रकार की विभिन्न परस्पर विरुद्ध इच्छाओं में संघर्ष होता रहता है। प्रत्येक एक दूसरे को हराकर अपनी पूर्ति करना चाहती है। कभी एक इच्छा प्रबल होती है तो कभी दूसरी। ये इच्छाएँ अकेली नहीं होती। वे विभिन्न इच्छाओं के मण्डलों से सम्बन्ध रखती है। इच्छाओं का संघर्ष विभिन्न व्यक्तित्व अथवा विभिन्न इच्छा मण्डलों का संघर्ष है। उनमे जीवन के दो आदर्शों का संघर्ष है। उदाहरण के लिये राम द्वारा सीता को वनवास दिये जाने के ही प्रसंग को लीजिए। जो राम वन मे सीता का रावण द्वारा हरण हो जाने पर वृक्ष लतादिक से पूछते फिरते थे और दिन रात जिनके आँसू न थमते थे वे ही आदर्श प्रेमी राम कैसे सीता को वनवास की आज्ञा दे सके। लक्ष्मण को सीता को वन में छोड आने का आदेश देने के पूर्व उनके मन मे कितना संघर्ष हुआ होगा। एक ओर प्रेम था दूसरी ओर मर्यादा का रक्षण। एक ओर प्रेमी राम थे दूसरी ओर राजा राम। इस संघर्ष मे अन्त मे कर्तव्य विजयी हुआ और हृदय पर पत्थर रखकर राम ने सीता के वनवास की आज्ञा दी। इसी प्रकार का संघर्ष एक विद्यार्थी की आमोद-प्रमोद की इच्छाओं और अध्ययन की इच्छा मे होता है। यह ध्यान देने की बात है कि सभी विद्यार्थी ऐसे संघर्ष में पढ़ाई का संकल्प स्थिर नहीं रख पाते। अनेक पढ़ाई छोडकर आमोद-प्रमोद में लग जाते है। धोबी के कहने पर सीता को वन में छोडवा देना राम जैसे चरित्र का ही काम हो सकता है।

इस संघर्ष की अवस्था मे मनुष्य किंकर्तव्य विमूढ हो जाता है। महाभारत के युद्ध के प्रारम्भ से पूर्व जब अर्जुन के हृदय मे अन्तर्द्वन्द मचा तब वह हथियार छोड कर श्रीकृष्ण के सन्मुख बैठ गया। संघर्ष के समाप्त होने तक मनुष्य कुछ नहीं कर सकता। निर्बल संकल्प वाले व्यक्ति अपने को रोक नही सकते और परस्पर विरोधी कार्य कर बैठते है। परन्तु सबल व्यक्ति उन विरोधी इच्छाओं के परिणामो का नैतिक विवेचन प्रारम्भ कर देते हैं।

इस नैतिक विवेचन मे पहली आवश्यक बात है कि इच्छाओं के विषय को पूर्णतः स्पष्ट कर लिया जाय। बहुधा यह होता है कि मनुष्य स्वयं नही जानता कि वह कोई काम क्यों करना चाहता है। स्वभावतः मनुष्य पलायनवादी और आराम पसन्द है। वह कर्तव्य से भागना चाहता है। वह अपनी मूल प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट करना चाहता है। वह मनचाही वस्तु को प्राप्त करना चाहता है। चरित्र बडी

कठिनता से अर्जित होता है। मन पर सतत नियन्त्रण रखकर शुभ कर्म करने और शुभ विचार रखने की आदतें डालने में व्यक्ति को कठोर संकल्प शक्ति से काम लेना पडता है। अतः परस्पर विरुद्ध इच्छायें उठने पर हमें उनके हेतु और परिणाम दोनों का विश्लेषण करना चाहिये। कई बार जिस इच्छा को हम बाहर से देखने से हानिकारक नहीं पाते वही बारम्बार दोहराने से बुरी आदत बन जाती है और क्रमशः मनुष्य के चरित्र के पतन का कारण होती है। कभी कभी लोग सोचते हैं कि एक आध बार शराब पीने अथवा जुआ खेलने से कोई बुराई नहीं है परन्तु विश्लेषण करने से यह ज्ञात होगा कि इनके पीछे हेतु अनैतिक है और परिणाम भी। इसी इसी जिसको हम प्रेम समझते हैं उसकी प्रेरक बहुधा निम्न वासना होती है। अतः प्रत्येक इच्छा के प्रेरक तत्व को जान लेना परमावश्यक है। परिणामों का विवेचन करते समय हमें उनके व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों पक्षों पर दृष्टि रखनी चाहिये। नैतिक कार्य में व्यक्ति और समाज दोनों के शुभ का समन्वय है।

हेतु और परिणाम के अतिरिक्त इच्छा के साध्य और साधन का विश्लेषण भी आवश्यक है। मान लीजिये कि कोई व्यक्ति अपनी माता की दवादारू करने में असमर्थ है। वह किसी धनिक व्यक्ति के पास पहुचता है। धनी उसको कुछ भी देने से इन्कार कर देता है। उस व्यक्ति के हृदय में यह इच्छा उठती है कि उस धनिक के पेट में छुरा भोककर उसकी तिजोरी में से रुपया निकाल ले। यहाँ पर वह अपनी माँ को बचाने के लिये प्रयत्नशील है। उसकी इच्छा का साध्य नैतिक है परन्तु साधन घोर अनैतिक। केवल वही इच्छा शुभ है जिसमें कार्य और उसके परिणाम, लक्ष्य और उसके साधन दोनों शुभ हों।

इस प्रकार सभी इच्छाओं का विश्लेषण कर लेने पर व्यक्ति के सामने उनका नैतिक मूल्य स्पष्ट हो जायगा। अब जिस इच्छा का नैतिक मूल्य सर्वाधिक हो उसी का चुनाव किया जाना चाहिये। इस प्रकार नैतिक विवेचन कर लेने पर मनुष्य एक निर्णय पर पहुंच जाता है। परन्तु कार्य रूप में परिणित किये बिना उस इच्छा का पूर्ण सन्तोष नहीं हो सकता। सफल नैतिक विवेचन से अन्तर्द्वन्द समाप्त हो जाता है परन्तु पूर्ण सन्तोष तो शुभ इच्छा की पूर्ति के संकल्प को कार्य रूप में परिणत करने से ही होता है।

अध्याय २—(क)

Q. 1. Explain the doctrines of Freedom and Determinism in ethies, pointing out their strong and weak points. (Alld. 53).

प्र० १. नीतिशास्त्र में स्वतन्त्रता और नियतिवाद के सिद्धान्तों को उनके गुण दोष बतलाते हुए व्याख्या कीजिये।

Q. 2. Show how determinism and freedom are both essential for morals (Alld. 56.)

प्र० २. नैतिकता के लिये इच्छा स्वातन्त्र्य और नियन्त्रण दोनों की आवश्यकता है ? समझाइये।

Q. 3. Explain fully the moral significance of "Freedom of the will" (Alld. 55)

प्र० ३. स्वतन्त्र-इच्छा के नैतिक महत्व की पूर्ण व्याख्या कीजिए।

Q. 4. Write critical notes on :—

Freedom is self-determinism. (Alld. 54)

प्र० ४. विवेचनात्मक टिप्पणी लिखिये :—

स्वतन्त्रता आत्मनियंत्रण है।

प्र० ५. स्वतन्त्र-इच्छा का नैतिक महत्व।

उत्तर :—सकल्प की स्वतन्त्रता की मान्यता के बिना नीतिशास्त्र असंभव है। "तुम्हे करना चाहिये।" "यह पाप है" "यह उचित है" इत्यादि नैतिक निर्णय तभी अर्थपूर्ण हो सकते है जब कि यह मान लिया जायकि मनुष्य संकल्प करने में स्वतन्त्र है। कॉन्ट के अनुसार संकल्प की स्वतन्त्रता नीतिशास्त्र की प्रमुख मान्यता है। उसको सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं। वह अनुभव पूर्व (A prior) सत्य है। "तुम्हे करना चाहिये अतः तुम कर सकते हो।" कह कर कान्ट ने यह दिखलाया कि 'चाहिये' मे ही 'स्वतन्त्रता' छिपी है। स्वतन्त्रता नैतिकता का आधार है। यदि हम किसी कार्य को करने और न करने मे स्वतन्त्र है तभी यह कहा जा सकता है कि उसको करना चाहिये अथवा न करना चाहिये।

स्वतन्त्रता का अर्थ :—स्वतन्त्रता का अर्थ है उत्तरदायित्व (Responsibility) अर्थात् यह कि मनुष्य अपने अच्छे और बुरे धर्मो के लिये स्वय उत्तरदायी है। यदि मनुष्य अपने ऐच्छिक कार्यो मे स्वतन्त्र न हो तो फिर हम उसे उसके कामो के लिये उत्तरदायी नही टहरा सकते। मनुष्य अपने व्यवहार, चरित्र, ऐच्छिक कार्य

कठिनता से अर्जित होता है। मन पर सतत नियन्त्रण रखकर शुभ कर्म करने और शुभ विचार रखने की आदतें डालने में व्यक्ति को कठोर संकल्प शक्ति से काम लेना पडता है। अतः परस्पर विरुद्ध इच्छायें उठने पर हमें उनके हेतु और परिणाम दोनो का विश्लेषण करना चाहिये। कई बार जिस इच्छा को हम बाहर से देखने से हानिकारक नहीं पाते वही बारम्बार दोहराने से बुरी आदत बन जाती है और क्रमशः मनुष्य के चरित्र के पतन का कारण होती है। कभी कभी लोग सोचते है कि एक आध बार शराब पीने अथवा जुआ खेलने से कोई बुराई नहीं है परन्तु विश्लेषण करने से यह ज्ञात होगा कि इनके पीछे हेतु अनैतिक है और परिणाम भी। इसी इसी जिसको हम प्रेम समझते है उसकी प्रेरक बहुधा निम्न वासना होती है। अतः प्रत्येक इच्छा के प्रेरक तत्व को जान लेना परमावश्यक है। परिणामों का विवेचन करते समय हमें उनके व्यक्तिगत और सामाजिक दोनो पक्षो पर दृष्टि रखनी चाहिये। नैतिक कार्य में व्यक्ति और समाज दोनो के शुभ का समन्वय है।

हेतु और परिणाम के अतिरिक्त इच्छा के साध्य और साधन का विश्लेषण भी आवश्यक है। मान लीजिये कि कोई व्यक्ति अपनी माता की दवादारू करने मे असमर्थ है। वह किसी धनिक व्यक्ति के पास पहुचता है। धनी उसको कुछ भी देने से इन्कार कर देता है। उस व्यक्ति के हृदय मे यह इच्छा उठती है कि उस धनिक के पेट मे छुरा भोककर उसकी तिजोरी मे से रुपया निकाल ले। यहाँ पर वह अपनी माँ को बचाने के लिये प्रयत्नशील है। उसकी इच्छा का साध्य नैतिक है परन्तु साधन घोर अनैतिक। केवल वही इच्छा शुभ है जिसमे कार्य और उसके परिणाम, लक्ष्य और उसके साधन दोनो शुभ हो।

इस प्रकार सभी इच्छाओ का विश्लेषण कर लेने पर व्यक्ति के सामने उनका नैतिक मूल्य स्पष्ट हो जायगा। अब जिस इच्छा का नैतिक मूल्य सर्वाधिक हो उसी का चुनाव किया जाना चाहिये। इस प्रकार नैतिक विवेचन कर लेने पर मनुष्य एक निर्णय पर पहुच जाता है। परन्तु कार्य रूप मे परिणित किये बिना उस इच्छा का पूर्ण सन्तोष नहीं हो सकता। सफल नैतिक विवेचन से अन्तर्द्वन्द समाप्त हो जाता है परन्तु पूर्ण सन्तोष तो शुभ इच्छा की पूर्ति के सकल्प को कार्य रूप मे परिणित करने से ही होता है।

अध्याय २—(क)

Q. 1. Explain the doctrines of Freedom and Determinism in ethies, pointing out their strong and weak points. (Alld. 53).

प्र० १. नीतिशास्त्र में स्वतन्त्रता और नियतिवाद के सिद्धान्तों को उनके गुण दोष बतलाते हुए व्याख्या कीजिये।

Q. 2. Show how determinism and freedom are both essential for morals (Alld. 56.)

प्र० २. नैतिकता के लिये इच्छा स्वातन्त्र्य और नियन्त्रण दोनों की आवश्यकता है ? समझाइये।

Q. 3. Explain fully the moral significance of "Freedom of the will" (Alld 55)

प्र० ३. स्वतन्त्र-इच्छा के नैतिक महत्व की पूर्ण व्याख्या कीजिए।

Q. 4. Write critical notes on :—

Freedom is self-determinism. (Alld. 54)

प्र० ४. विवेचनात्मक टिप्पणी लिखिये :—

स्वतन्त्रता आत्मनियंत्रण है।

प्र० ५. स्वतन्त्र-इच्छा का नैतिक महत्व।

उत्तर :—सकल्प की स्वतन्त्रता की मान्यता के बिना नीतिशास्त्र असभव है। "तुम्हे करना चाहिये।" "यह पाप है" "यह उचित है" इत्यादि नैतिक निर्णय तभी अर्थपूर्ण हो सकते है जब कि यह मान लिया जायकि मनुष्य सकल्प करने मे स्वतन्त्र है। कॉन्ट के अनुसार संकल्प की स्वतन्त्रता नीतिशास्त्र की प्रमुख मान्यता है। उसको सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नही। वह अनुभव पूर्व (A prior) सत्य है। "तुम्हे करना चाहिये अतः तुम कर सकते हो।" कह कर कान्ट ने यह दिखलाया कि 'चाहिये' मे ही 'स्वतन्त्रता' छिपी है। स्वतन्त्रता नैतिकता का आधार है। यदि हम किसी कार्य को करने और न करने मे स्वतन्त्र है तभी यह कहा जा सकता है कि उसको करना चाहिये अथवा न करना चाहिये।

स्वतन्त्रता का अर्थ :—स्वतन्त्रता का अर्थ है उत्तरदायित्व (Responsibility) अर्थात् यह कि मनुष्य अपने अच्छे और बुरे धर्मो के लिये स्वय उत्तरदायी है। यदि मनुष्य अपने ऐच्छिक कार्यो मे स्वतन्त्र न हो तो फिर हम उसे उसके कामो के लिये उत्तरदायी नही टहरा सकते। मनुष्य अपने व्यवहार, चरित्र, ऐच्छिक कार्य

नियतिवाद :—ह्वीलराइट ने इस सिद्धान्त के समर्थन में दी जाने वाली युक्तियों को तीन भागो में बाँटा है। वे निम्नलिखित हैं : —

१. कार्यकारणवाद (आगमनात्मक युक्ति) :—पहली युक्ति कार्यकारणवाद पर निर्भर है। विज्ञान प्रकृति के व्यापारों में कार्यकारण की खोज करता है। क्रमशः नई नई बातों के कारणो की खोज हो रही है। यदि यह प्रगति इसी प्रकार चलती गई तो शीघ्र ही हमे समस्त बातो के कारणो का ठीक-ठीक पता चल जायगा। इसी प्रकार किसी दिन विज्ञान मनुष्य के ऐच्छिक कार्यो के कारणो का भी पता लगा लेगा।

२. कार्य कारण नियम (निगमनात्मक युक्ति) :—विज्ञान के अनुसार कार्य-कारण नियम सर्वव्यापी और अटल है। इसी आस्था पर समस्त विज्ञान टिका है। इस सामान्य नियम से यह तथ्य निकलता है कि ऐच्छिक कार्यों के भी कारण अवश्य होंगे क्योंकि कार्य-कारण नियम विश्वजनीन है। न तो कोई वस्तु अकारण हो सकती है न स्वयं अपने कारण। अतः प्रत्येक भौतिक और मानसिक व्यापार का एक कारण है जो कि उससे पहले विज्ञान है।

३. ज्ञानशास्त्रीय युक्ति :—कान्ट के अनुसार जिस वस्तु का ज्ञान होता है वह ज्ञान के नियमों से बँधी है। ज्ञान का नियम यह है कि किसी वस्तु के ज्ञान के लिये अन्य वस्तुओं से उसके सम्बन्ध को जानना आवश्यक है। इनमे मुख्य सम्बन्ध कार्यकारण का है। कारण का ज्ञान हुए बिना हम किसी वस्तु को नही जान सकते। अतः जिस वस्तु को हम जानते हैं उसका कारण भी अवश्य है और उसका थोड़ा बहुत ज्ञान भी हमे अवश्य है। इसलिये मनुष्य के ऐच्छिक कार्यों के भी कारण होगे।

४. मनोवैज्ञानिक युक्ति :—संकल्पो का कारण प्रेरणाएँ और इच्छाएँ हैं। अन्तर्द्वन्द्व मे सबसे अधिक बलशाली प्रेरणा अथवा इच्छा ही संकल्प का कारण होती है और ये वाह्य परिस्थितियो तथा मानसिक रचना पर निर्भर हैं। अतः वंशानुक्रम और वाह्य परिस्थिति मानव सकल्प को नियमित करती हैं।

५. ईश्वरवाद और जडवाद भी नियमवाद का समर्थन करता है। उनके अनुसार क्रमशः ईश्वर अथवा जड प्रकृति ही समस्त वस्तुओं का कारण है।

नियमवाद की आलोचना—पहली युक्ति आभास मात्र है। विज्ञान का नवीनतम सिद्धान्त सापेक्षता का सिद्धान्त (Theory of Relativity) है। उसके समस्त निर्णय सभावनाएँ (Probabilities) मात्र है निश्चित तथ्य नहीं। जैसा कि ह्यूम (Hume) ने बतलाया कोई भी निर्णय या तो तथ्यात्मक हो सकता है या समरुप (Necessary)। वैज्ञानिक निर्णय अथवा नियम तथ्यात्मक है अतः वे समरुप नहीं हैं। वे केवल सम्भावित है। इसी प्रकार ह्यूम ने आगमनात्मक निर्णयों की समरुपता का निराकरण किया। यदि हम किसी चीज़ का दस बीस या सौ बार

एक दूसरी चीज से निकलते देखते हैं तो उसके आधार पर हम यह आगमनात्मक निर्णय नही दे सकते कि वह दूसरी चीज पहली चीज का कारण है। सभी आगमनात्मक निणय संशयात्मक है। ह्यूम की यह युक्तियॉ इतनी अकाट्य है कि बहुत से विद्वानो के मत में उनका आज तक खडन नही किया जा सका है।

२. दूसरी युक्ति इस सिद्धान्त पर टिकी है कि कार्यकारण सम्बन्ध सार्वजनीन और शाश्वत है। परन्तु स्वयं परमाणु विज्ञान ने ही इसका खडन कर दिया है। वैज्ञानिको ने परमाणु मे विद्युत्कणो की अनिश्चित गति के कारणो का पता लगाने मे अपनी असमर्थता मान ली है। यद्यपि विज्ञान की यह असफलता मानव के संकल्प स्वातन्त्र्य को सिद्ध करने की युक्ति नही हो सकती तथापि इससे नियमवादियों की निगमनात्मक युक्ति का खडन अवश्य हो जाता है। इसके अतिरिक्त सभी वस्तु सकारण होती हैं—इस आगमनात्मक सिद्धान्त में साध्य साधन दोष है। ससार की समस्त वस्तुओ के कारणो का पता लगाए बिना यह कैसे कहा जा सकता है कि सभी वस्तुएँ सकारण हैं।

३. ज्ञान शास्त्रीय युक्ति की भी सीमाएँ हैं। यह आवश्यक नही है कि बिना कारण को जाने किसी वस्तु का ज्ञान हो ही न सके। रहस्यवादी और सशयवादी सर्वोच्च ज्ञान को कार्यकारण से परे मानते हैं।

४. मनोवैज्ञानिक युक्ति के अनुसार मन ही समस्त संकल्पो का कारण है। निःसन्देह मन और उसकी इच्छाओ तथा वासनाओं का मनुष्य के कार्यो मे भारी हाथ रहता है। परन्तु जैसा कि गीताकार ने निर्देश किया है मन से परे बुद्धि है और बुद्धि से परे है आत्मा। अतः अभ्यास और वैराग्य भावना से आत्मा मन का नियंत्रण करके अपने संकल्पो मे स्वतन्त्र हो सकती है। चरित्र की समरूपता से नियमवाद सिद्ध नही होता।

५. जडवाद का खडन काय-कारणवाद के खंडन से ही हो जाता है। ईश्वरवाद में ईश्वर को जगत् से परे कोई बाहरी सत्ता मानने मे दार्शनिक कठिनाइयॉ है और यदि उसको गीता के समान अन्तःस्थ भी माना जाय तो फिर प्रत्येक व्यक्ति में आत्मा के रूप में विद्यमान होने के कारण ईश्वर द्वारा नियत्रण आत्मा द्वारा नियन्त्रण के समान हो जाता है।

अनियतवाद (Indeterminism) :—नियतिवाद के विरुद्ध अनियतिवादियो ने निम्नलिखित तर्कों के आधार पर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि मनुष्य के सकल्प सर्वथा स्वतन्त्र हैं और उसमे चरित्र अथवा स्वभाव या परिस्थिति इत्यादि से किसी प्रकार का कार्य कारण सम्बन्ध खोजना भारी भूल है।

१. नियतिवादियो की मनोवैज्ञानिक युक्ति का खडन करते हुए अनियतिवादियों का यह कहना है संकल्प शक्ति प्रेरणा अथवा इच्छा के कारण नहीं बल्कि क्षणिक आवेग से आकस्मिक चुनाव करती है। इस कारण मनुष्य स्वतन्त्र है। उसके

भूतकालीन आचरण से उसके भविष्य के व्यवहार को पहले से नहीं बतलाया जा सकता। व्यवहार चरित्र का अनिवार्य परिणाम नहीं है। प्रत्येक नवीन संकल्प एक पूर्णतः नवीन सृष्टि है। सकल्प शक्ति एक अज्ञान शक्ति है। प्रत्येक संकल्प व्यक्ति की उस क्षण की इच्छा पर निर्भर है। इसी कारण जुडवा भाइयो तक के व्यवहार भी एक दूसरे से भिन्न पाए जाते हैं।

२. नियतिवाद को मानने से समस्त नैतिक शास्त्र निरर्थक हो जाता है। यदि मनुष्य प्रत्येक कर्म को अपने वंशानुक्रम अथवा परिस्थितियो के कारण करता है तो फिर वह उस कर्म के लिये किसी प्रकार भी उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। ऐसा होने पर उसके सन्मुख "चाहिये" का कोई अर्थ नहीं। जब वह वाध्य है तब उससे यह कैसे कहा जा सकता है कि उसे यह अथवा वह करना अथवा न करना चाहिये।

३. इसी आधार पर कानून भी व्यर्थ हो जाएँगे। यदि कोई व्यक्ति वाध्य होकर चोरी करता है तो फिर वह उसके लिये उत्तरदायी नहीं है और न ही उसको दड दिया जा सकता है। इस प्रकार न तो चोर की भर्त्सना की जा सकती है न साधु की प्रशसा, न वधिक को दडित किया जा सकता है न परोपकारी को पुरष्कृत।

४. धार्मिक व्यक्ति संकल्प की स्वतन्त्रता के सबसे बड़े हिमायती हैं। यदि व्यक्ति वाह्य और आन्तरिक परिस्थितियो के आधीन है तो फिर ईश्वर भक्ति इत्यादि असंभव अथवा व्यर्थ हो जाते है।

परन्तु उपरोक्त विवेचन से यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता कि मनुष्य पूर्णतः अनियंत्रित है और उसके किसी कार्य का कुछ पता नही कि किस क्षण क्या कर बैठे। वस्तुतः नैतिकता के लिये इच्छा स्वातन्त्र्य और नियन्त्रण दोनों की आवश्यकता है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि प्रेरणाएँ और इच्छाएँ सकल्पों को निर्धारित करती है परन्तु ये प्रेरणाएँ और इच्छाएँ भी तो किसी आत्मा की प्रेरणाएँ और इच्छाएँ हैं। अर्न्तद्वन्द्व मे परस्पर विरोधी इच्छाओ के संघर्ष में जब चुनाव का प्रश्न आता है तब वह आत्मा का ही काम है। आत्मा वही इच्छा अथवा प्रेरणा चुनता है जो कि उसके स्वभाव के अनुरूप हो। इस प्रकार संकल्प मे आत्मनियन्त्रण अवश्य है परन्तु वाह्य नियन्त्रण नहीं है। इस प्रकार संकल्प करने मे आत्मा स्वतन्त्र है।

परन्तु इसमे चरित्र का नियन्त्रण है। स्वेच्छापूर्वक कामो को बार-बार दोहराने से वे चरित्र का स्थायी अग बन जाते हैं और आदतें पड़ जाने पर फिर व्यक्ति उसी प्रकार के सकल्प करने को वाध्य हो जाता है। इस प्रकार किसी व्यक्ति के चरित्र को जानकर उसके भविष्य के व्यवहार को जाना जा सकता है। परन्तु इसका अर्थ नियतिवाद नही है। व्यक्ति ने अपने स्वतन्त्र संकल्प से कुछ कामों को बारबार दोहरा कर उनकी आदत डाली है। अब वह बहुधा आदतों से वाध्य अवश्य

है। परन्तु फिर धीरे-धीरे अभ्यास करके वह पुरानी आदतों को छोड़कर नवीन आदते डाल सकता है। इस प्रकार चरित्र की समरूपता संकल्प की स्वतन्त्रता की विरोधी नहीं है।

कार्यकारण नियम भी संकल्प शक्ति का विरोधी नहीं है। संकल्प की स्वतन्त्रता का अर्थ कारण रहित संकल्प नहीं है बल्कि आत्मा के द्वारा संकल्प है। बाहरी परिस्थितियो का दास होने पर व्यक्ति परतन्त्र है। मन का नियन्त्रण करके बुद्धि के अनुसार निश्चित कर्म करना ही सकल्प की स्वतन्त्रता है।

इस प्रकार स्वतन्त्रता का अर्थ अनियन्त्रण न होकर आत्म-नियन्त्रण है। नैतिक कार्य मे आत्मा अपने परम शुभ के आदर्श के अनुसार अपना सकल्प निश्चित करता है। मैकेन्जी के शब्दों मे "नैतिक जीवन का अर्थ ही चरित्र निर्माण है अर्थात् निश्चित आदतो का निर्माण।" निश्चित आदतो मे समरूपता होती है जिसके कारण चरित्रवान व्यक्ति पर भरोसा किया जा सकता है। ईमानदारी ईमानदार व्यक्ति का स्थायी गुण है परन्तु इसका अर्थ परतन्त्रता न होकर आत्म-नियन्त्रण है—क्योंकि उसने ईमानदारी के गुण को स्वेच्छापूर्वक चुना है और उस पर अमल करने की आदत डाली है। आत्मा के स्वभाव के अनुसार चलना ही सच्ची स्वतन्त्रता है। वही स्वधर्म है और वही निःप्रयास है। उसमे स्वतन्त्रता और समरूपता दोनो हैं।

अध्याय ३

Moral Situation. The Object of Moral Judgement—Motives and Consequences.

(नैतिक परिस्थिति—नैतिक निर्णय का विषय—हेतु और परिणाम)

Q. 1. What are the characteristics of a moral situation? Illustrate your answer from the individual and social life of man? (Alld. 56. Part II.)

प्र० १. नैतिक परिस्थिति का स्वरूप क्या है ? व्यक्ति-जीवन और समाज-जीवन से इसका उदाहरण दीजिए।

उत्तर :—मानव जीवन प्राकृतिक व्यापारों के समान सरल प्रक्रिया नहीं है। मनुष्य में बुद्धि भी है और संवेगशीलता भी। बहुधा उसकी भावनाएँ, इन्द्रियाँ, इच्छाएँ और प्रवृत्तियाँ उसको एक ओर खींचती हैं और बुद्धि दूसरी ओर। उसमें स्वार्थ भी है और परार्थ भी। स्वार्थ और परार्थ की भावनाओं में भी आए दिन संघर्ष मचा रहता है। फिर अत्यधिक बौद्धिक व्यक्ति के सामने एक और भी समस्या रहती है। वह प्रत्येक विषय की तह में इतना गहरा उतर जाता है, उसके सामने हर समय इतने विकल्प रहते हैं कि यह समझना कठिन हो जाता है कि क्या करें क्या न करे। ऐसी परिस्थिति का प्रायः सभी को अनुभव होता रहता है। इस दशा में मनुष्य किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। उसे अपना कर्तव्य नहीं सूझता। यही नैतिक परिस्थिति है।

महाभारत के युद्ध मे अर्जुन के सन्मुख भी इसी प्रकार की नैतिक परिस्थिति थी। जब कुरुक्षेत्र के मैदान मे कौरव और पांडव दोनों की सेनाएँ आमने-सामने खड़ी थीं तब अर्जुन ने श्रीकृष्ण से उन दोनों के बीच में अपना रथ ले चलने को कहा। जब रथ उन दोनो सेनाओं के बीच मे आ पहुंचा तब अर्जुन ने दोनो ओर के योद्धाओं को देखा। उसने देखा कि कौरव दल मे उसके मामा थे, गुरु थे, चचेरे और ममेरे भाई तथा अन्य बन्धु-बान्धव युद्ध के हेतु तैयार खड़े थे। उनको देखकर अर्जुन को रोमाच हो आया और गान्डीव धनुष हाथ से छूट गया। बुद्धि मोहित हो गई। उन्होंने श्रीकृष्ण से कहा कि मैं इन सबको मारकर राज्य लेकर क्या करूँगा। तीनों लोक के राज्य के लिये भी मैं इनको न मारना चाहूँगा। अपने कुटुम्बियों को मारकर हम कैसे सुखी होंगे। इनको मारने से कुल का नाश होगा। कुल नाश से धर्म क्षय होगा। धर्म के नाश से पाप बढ़ेगा और स्त्रियाँ दूषित हो जाएँगीं जिससे वर्णसंकट बढ़ेंगे और उनसे पितरों की भी दुर्गति होगी। इस प्रकार से शोक करता हुआ अर्जुन बोला—

न चैतद् विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम—
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥२-६
कार्पण्यदोषोपहत स्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढ़ चेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यतेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥२-७

अर्थात् हम लोग यह भी नहीं जानते कि हमारे लिये क्या करना श्रेष्ठ है अथवा यह भी नही जानते कि हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे और जिनको मारकर हम जीना भी नही चाहते। वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सामने खडे हैं। कायरता रूप दोष करके उपहृत हुए स्वभाव वाला और धर्म के विषय में मोहितचित्त हुआ मैं आपको पूछता हूँ जो कुछ निश्चय किया हुआ कल्याणकारक साधन हो वह मेरे लिये कहिये क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ इसलिये आपके शरण हुए मेरे को शिक्षा दीजिए।

विश्लेषण करने मे इस नैतिक परिस्थिति मे कुछ विशेषताएँ दिखाई पड़ेंगी—

१. नैतिक चेतना :—नैतिक परिस्थिति की पहली विशेषता नैतिक चेतना है। इस अवसर पर बुद्धि तो मोहित हो जाती है परन्तु नैतिक चेतना सजग रहती है। व्यक्ति को अच्छे और बुरे का ज्ञान रहता है। परन्तु वह इनमें स्पष्ट अन्तर नहीं कर पाता कि क्या बिल्कुल अच्छा है और क्या बिल्कुल बुरा। उसे बुरे मे भी अच्छाई और अच्छे मे भी बुराई दिखाई पडती है। उपरोक्त उदाहरण मे अर्जुन का यही हाल था। वह यह जानता था कि क्षत्रिय का कार्य युद्ध करना है और यह भी कि युद्ध के बिना कोई चारा नहीं है परन्तु इस युद्ध मे उसको महापाप दिखाई पड रहा था। दूसरी ओर युद्ध न करने से कर्तव्य से तो गिरना पडता था परन्तु अपने बन्धु बान्धवो को मारकर राज्य भोगने से उसको दर-दर की ठोकरें खाना और कर्तव्यच्युत होना अधिक उत्तम दिखाई पडता था। अर्जुन दूर तक सोचता है। कुल नाश से अधर्म, अधर्म से स्त्रियो का पतन, उससे वर्णसंकट और परिणाम-स्वरूप पितरों की दुर्गति। इस समस्त विचारधारा मे अर्जुन की नैतिक चेतना इतनी सजग दिखाई देती है कि वह अकल्पनीय की भी कल्पना कर लेता है। इस प्रकार नैतिक परिस्थिति मे पड़े व्यक्ति की नैतिक चेतना अत्यन्त प्रदीप्त रहती है।

२. विकल्प :—नैतिक परिस्थिति की दूसरी विशेषता विकल्पो की उपस्थिति है। नैतिक परिस्थिति में कम से कम दो विकल्प अवश्य होते हैं जो बराबर अच्छे या बुरे प्रतीत होते हैं। इस संशय के कारण मनुष्य की संकल्प शक्ति काम नहीं करती। इस सशय का मुख्य कारण व्यक्ति और समाज, स्वार्थ और परार्थ का

सधर्म है। उपरोक्त उदाहरण में अर्जुन को तो लड़ने से लाभ ही था। लड़कर मर जाने से स्वर्ग मिलता और जीतने से पृथ्वी का राज्य भोगता। इस प्रकार लड़ने में उसका सब प्रकार से स्वार्थ था। परन्तु दूसरी ओर समाज का प्रश्न था। लड़ने से कुल नाश और फिर धर्म नाश, समाज और पितरों की अधोगति इत्यादि विकल्पों में अर्जुन के सन्मुख समाज का हित युद्ध न करने में दिखाई पड़ता था। इन दोनों विकल्पों में अर्जुन को मार्ग नहीं सूझ रहा था। वह सामाजिक कल्याण के सन्मुख वैयक्तिक सुख को हेय समझता था। नर संहार करके राज्य भोग करने से भिखारी होकर कायर कहलाना अधिक पसन्द करता था।

३. स्वतन्त्र इच्छा। नैतिक परिस्थिति में पड़े हुए मनुष्य को नैतिक चेतना के कारण अपने दायित्व का मान होता है। परन्तु इच्छा की स्वतन्त्रता के कारण यह दायित्व और भी भारी प्रतीत होने लगता है। वह समझता है कि वही अपने भावी जीवन का विधाता है और कि भविष्य का अच्छा या बुरा होना उसी पर निर्भर है। यदि मनुष्य अपने को वाह्य अथवा आन्तरिक परिस्थिति में स्वतन्त्र न समझे तो फिर नैतिक परिस्थिति का कोई अर्थ ही नहीं है। नैतिक द्वन्द्व का कारण ही मनुष्य की स्वतन्त्रता है। परन्तु फिर भी उसको समाज के बन्धनों का आभास रहता है। वह यह अनुभव करता रहता है कि वह लोक विरुद्ध कार्य नहीं कर सकता अथवा उसको समाज के विरुद्ध कार्य नहीं करने चाहिये। इस प्रकार स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रता का यह द्वन्द्व स्वार्थ और परार्थ के द्वन्द्व के समान प्रबल होता है।

उपरोक्त उदाहरण में यद्यपि अर्जुन युद्ध न करने का निश्चय-सा कर चुका है परन्तु तो भी वह क्षत्रिय होने के नाते युद्ध करना अपना सामाजिक कर्तव्य समझता है और उसको यह आभास बराबर है कि युद्ध छोड़कर वह कायरता कर रहा है। इस प्रकार एक ओर अपनी इच्छा और दूसरी ओर लोककर्तव्य के बीच पड़ा वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है और श्रीकृष्ण की शरण में जाकर उचित शिक्षा की याचना करता है।

Q. 2. How Can we solve the conflicts in a moral situation ? What are the different steps in a moral decision ?

प्र० २० हम नैतिक परिस्थिति के द्वन्द्व का किस प्रकार समाधान कर सकते हैं ? एक नैतिक निश्चय में कौन-कौन से विभिन्न सोपान हैं ?

उत्तर :—नैतिक परिस्थिति के द्वन्द्वों का समाधान दो प्रकार से किया जा सकता है—

१. नीति द्वारा :—नैतिक परिस्थिति में स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रता, स्वार्थ और परार्थ में द्वन्द्व रहता है। यदि नैतिक विश्लेषण द्वारा यह नैतिक सत्य स्पष्ट किया जा सके कि परार्थ में ही सच्चा स्वार्थ है और लोकतन्त्रता में ही सच्ची

स्वतन्त्रता, तो फिर यह द्वन्द्व समाप्त हो जायगा। गीता में अर्जुन को मोह होने पर श्रीकृष्ण ने नीति द्वारा उसका समाधान करने की चेष्टा की थी। अर्जुन का सामाजिक कर्तव्य था कि वह अपने स्वभावजन्य कर्म को निष्काम भाव से करे। ऐसा करने पर स्वार्थ और परार्थ, स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रता का झगड़ा ही नहीं खड़ा होता क्योंकि दोनो एक ही प्रतीत होते। परन्तु अर्जुन ज्ञान और कर्म को भिन्न समझकर कर्म छोड़ बैठा और ज्ञान छाँटने लगा। इस पर श्रीकृष्ण ने समझाया कि वास्तव मे ज्ञान और कर्म मे कोई भेद नहीं है। "एकं साख्यन योगं व यः पश्यति स पश्यति।" अर्थात् जो सांख्य और योग को एक करके देखता है वही ठीक देखता है। अतः मनुष्य को निष्काम भाव से अपने स्वभाव नियत कर्म करते जाना चाहिये।

२. तर्क द्वारा :—नैतिक परिस्थिति मे उचित अनुचित के विषय मे संशय रहता है और सशय का एकमात्र यही उपाय हो सकता है कि तर्कपूर्वक विश्लेषण करके दोनो विकल्पो मे से उचित अनुचित का ज्ञान किया जाय। श्रीकृष्ण ने गीता मे नीति के साथ साथ तर्क का भी प्रयोग किया है। एक ही बात को उन्होंने नाना प्रकार के तर्कों से समझाने की चेष्टा की है। गीता के सांख्ययोग, कर्मयोग, ज्ञान कर्म संन्यास योग इत्यादि दूसरे अध्याय से लेकर अट्ठारहवे अध्याय तक नाना प्रकार के तर्क द्वारा श्रीकृष्ण ने अर्जुन के नैतिक द्वन्द्व का समाधान किया है। इस प्रकार तर्क से नैतिक परिस्थिति का समाधान हो जाता है जिसके कारण अर्जुन श्रीकृष्ण से कहता है—नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धात्वत्प्रसादान्मयाच्युत।

स्थितोऽस्मि गत सन्देह : करिष्ये वचन तव ॥ १८-७३

अर्थात् हे अच्युत। आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे स्मृति प्राप्त हुई है इसलिये मैं संशय-रहित हुआ स्थित हूँ और आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। यह है नैतिक परिस्थिति का समाधान। समाधान होने पर ही नैतिक निश्चय होता है। परन्तु विश्लेषण करने से इस नैतिक निश्चय तक पहुँचने की प्रक्रिया में अनेक सोपान दिखाई देंगे—

१. विकल्पों का स्पष्टीकरण—नैतिक परिस्थिति मे विकल्प स्पष्ट नहीं होते और इसी कारण मार्ग नहीं सूझता। गीता में अर्जुन के सामने दो ही विकल्प थे युद्ध करना और युद्ध न करना। दोनो ही विकल्पो में उसको अनेक दोष दिखाई पड़ते थे परन्तु क्यो कि उसको और कोई विकल्प नहीं सूझ रहा था अतः उसने कायरता का लाञ्छन उठाकर और अधिकार छोड़कर भी युद्ध न करना ही श्रेयस्कर समझा। उसके विचार में लड़ना स्वार्थ था और इस कारण परार्थ के लिये उसका त्याग आवश्यक था। परन्तु वह यह भी जानता था कि इस प्रकार वह क्षत्रिय का कर्तव्य छोड़ रहा है। इस द्वन्द्व के कारण वह द्विविधा में पड़ा था। श्रीकृष्ण ने उसके सामने और विकल्प स्पष्ट किये। उन्होंने बतलाया कि एक तीसरा विकल्प

भी हो सकता है जिससे इन दोनों विकल्पों की कठिनाइयों का समाधान हो सकता है। युद्ध, निष्काम भावना, अथवा ईश्वरार्पणबुद्धि से अथवा लोक संग्रह की भावना से भी किया जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में स्वधर्म का पालन भी होगा और कर्मफल का बन्धन भी न होगा। इसी में व्यक्ति और समाज दोनों का कल्याण है।

२. परिणामों का विश्लेषण :—विकल्पो का स्पष्टीकरण हो जाने पर फिर उनके परिणामो का विश्लेषण होना चाहिये। इतिहास और अपने गत अनुभव के आधार पर व्यक्ति विकल्पो के परिणामो का विश्लेषण करता है। यदि सभी विकल्पों के परिणामो का विश्लेषण कर लिया जाय तो स्थिति स्पष्ट हो जाती है और नैतिक निर्णय में आसानी होती है। गीता में अर्जुन के सामने दो विकल्प थे। उनमें भी उसने युद्ध करने के परिणाम को तो अधिक सोचा परन्तु युद्ध न करने के परिणाम का उतना विश्लेषण नहीं किया। यह कार्य श्रीकृष्ण ने किया। उन्होंने समझाया कि युद्ध न करने से बदनामी होगी जो कि मरने से भी बदतर है। इसके अतिरिक्त उन्होंने तीसरे और सर्वश्रेष्ठ विकल्प निष्काम कर्मयोग के परिणाम का विस्तार-पूर्वक विश्लेषण करके यह दिखाया कि उसमें कोई दोष नहीं बल्कि सब प्रकार से शुभ ही शुभ है। इस प्रकार यह आवश्यक है कि सभी विकल्पों के परिणामो का विश्लेषण किया जाय।

३. कल्पना से अपने को परिणामों के देशकाल में रखना—कल्पना की शक्ति से प्रत्येक व्यक्ति अपने भविष्य की कल्पना करके अपने कार्यों के परिणामो को सोच सकता है। इस प्रकार से सोचने से निर्णय करने में आसानी हो सकती है। यह कल्पना शक्ति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही शीघ्र उचित मार्ग का निश्चय हो सकेगा।

४. अपने को उन लोगों की दृष्टि से देखना जिन पर हमारे कार्य का प्रभाव पड़ता हो—नैतिक व्यक्ति में दूसरे से तादात्म्य अनुभव करके उनकी दशा को समझने की कल्पनाशीलता होनी चाहिये। उसको समाज की दृष्टि से अपने कामों के परिणाम का विवेचन करना चाहिये। उसको स्वयं को दूसरो की स्थिति में रखकर यह सोचना चाहिये कि उसके कामो का उन पर कैसा प्रभाव पड़ेगा तभी वह सामाजिक दृष्टि से उचित कार्य कर सकेगा और परार्थ की दृष्टि से अनुचित कार्य चाहे स्वार्थ की दृष्टि से कितना भी अच्छा हो, सदैव अनुचित ही रहता है। अन्ततोगत्वा स्वार्थ और परार्थ मे समन्वय की आवश्यकता है।

५. कार्यों का मूल्यांकन और मूल्यों की तुलना :—चौथे सोपान के पश्चात् व्यक्ति को प्रत्येक विकल्प के कार्यों का मूल्यांकन करना चाहिये और फिर इन मूल्यों की परस्पर तुलना करके यह देखना चाहिये कि किस कार्य का नैतिक मूल्य अधिक है। इस कार्य मे पर्याप्त नीति विषयक ज्ञान की आवश्यकता है। उसे यह

जानना चाहिये कि मूल्य क्या है ? कौन से मूल्य सर्वश्रेष्ठ है ? इत्यादि । नैतिक परिस्थिति में तो बुद्धि भी मोहित हो जाती है अतः किसी योग्य व्यक्ति से सलाह भी ली जा सकती है । गीता मे श्रीकृष्ण ने सभी विकल्पो का मूल्यांकन करके उनके मूल्यों की परस्पर तुलना की है और फिर अर्जुन को सर्वश्रेष्ठ मार्ग बतलाया है ।

६. **निश्चय** :—अब निश्चय की स्थिति आती है । सभी विकल्पो के मूल्यो की परस्पर तुलना से सर्वश्रेष्ट विकल्प सामने आ जाता है और बाकी पीछे छूट जाते हैं । इस प्रकार एक मार्ग निश्चित हो जाता है ।

७. **क्रिया** :—परन्तु निश्चय को क्रिया मे परिणित किये बिना नैतिक परिस्थिति की मानसिक उलझन समाप्त नहीं होती । अतः क्रियान्वित होने पर ही नैतिक निश्चय का पूर्ण समाधान होता है ।

उपरोक्त सात विषय किसी न किसी रूप में नैतिक निश्चय की प्रक्रिया में उपस्थित रहते हैं । यह हो सकता है कि उनके क्रम मे थोड़ा हेर-फेर हो जाय अथवा सोपानों की संख्या कम या अधिक हो जाय । व्यक्ति की नैतिक और मानसिक अवस्था के साथ व्यावहारिक जीवन में उपरोक्त क्रम में हेर-फेर होगे ही परन्तु विश्लेषण करने पर उसमे यह सातो अंग उपलब्ध होंगे ।

Q. 3. What do you understand by End and Means in Ethics ? Explain clearly with illustrations. (Alld. 56. Part II)

प्र० ३ साध्य और साधन का नीतिशास्त्र में क्या महत्व है ? उदाहरणों द्वारा स्पष्ट समझाइये ।

Q 4. Does the end Justify the means ? Examine fully (Alld 53)

प्र० ४. क्या साध्य साधन को प्रमाणित करता है? पूर्णतः विवेचन कीजिए।

उत्तर :—साध्य और साधन को ही मिलाकर एक नैतिक कार्य सम्पन्न होता है । प्रत्येक कार्य मे एक साध्य होता है अर्थात् वह जो कि उस कार्य के द्वारा कर्त्ता का अभिप्राय है । जो कुछ हम प्राप्त करना चाहते है वही हमारा साध्य है । इस प्रकार नीतिशास्त्र साध्यो का शास्त्र है अर्थात् वह मनुष्य के विभिन्न साध्यो मे शुभ और अशुभ का विवेचन करता है । वह बतलाता है कि कौन-सा साध्य वाञ्छनीय है और कौन-सा अनुचित । वह सुख, गुण, पूर्णता, शक्ति आदि मानव के विभिन्न साध्यो का विश्लेषण करके उनका मूल्यांकन करता है और फिर इन मूल्यो की तुलना करके यह निश्चित करता है कि सर्वोच्च साध्य क्या है । यही परम शुभ है । यही मानव के सभी कार्यों का लक्ष्य है । जो कार्य उसकी प्राप्ति में सहायक हैं वे उचित हैं और जो उसकी प्राप्ति मे बाधक हैं वे अनुचित हैं और त्याज्य हैं । इसी अर्थ मे तुलसीदास जी ने कहा है—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये ताहि कोटि वैरी सम यद्यपि परम सनेही।

परन्तु यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि क्या साध्य साधन को प्रमाणित करता है (Does the end justify the means ?) मनुष्य के आचरण में साधन की पवित्रता का क्या स्थान है ? कहा जाता है कि सन्त क्रिस्पिन अमीरों के घरों से चमड़ा चुरा कर गरीबों के लिये जूते बनाया करते थे। क्या उनका यह कार्य अच्छा था ? अमीर लोग एक ओर तो जनता को लूटते हैं और दूसरी ओर मन्दिर बनवाते और दान करते हैं तो उनका आचरण कहाँ तक नैतिक है ?

मार्क्स के अनुसार साध्य साधन के औचित्य का विधाता है (End justifies the means). साध्य और साधन एक ही हैं। कार्य करने में कर्ता की दृष्टि साध्य पर रहनी चाहिये। अन्त भला तो सब भला। समाजवादी साध्य की पूर्ति के लिये कोई भी साधन काम में लाया जा सकता है। जिससे सबसे शीघ्र लक्ष्य प्राप्त हो वही सर्वोत्तम साधन है। अतः मार्क्स ने सशस्त्र क्रान्ति का समर्थन किया। शान्ति का उपाय निसन्देह क्रान्ति से अधिक उत्तम है परन्तु इतिहास बतलाता है कि वह सदैव विफल रहा। साधन की अच्छाई और बुराई उसके साध्य अथवा फल पर निर्भर है। मजदूरों की क्रान्ति से पूँजीवाद का नाश और एक वर्गहीन समाज की स्थापना होगी अतः वह सर्वथा उचित है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि लूटमार अच्छी है। अच्छा साध्य होने पर ही साधन अच्छा होगा। बुरा साध्य होने पर तो अच्छा साधन भी बुरा हो जायगा। अतः मार्क्स के अनुसार यह प्रश्न ही गलत है कि क्या साध्य साधन को प्रमाणित करता है ? किस अवस्था में कौन-सा साधन उपयुक्त है इसका निर्णय तो इतिहास ही करेगा। यदि क्रान्ति के द्वारा साम्यवादी-समाज की स्थापना होती है तो वह सर्वथा उचित है।

गाँधीजी का सिद्धान्त इसके सर्वथा विरुद्ध है। उनके अनुसार साधन ही साध्य का औचित्य प्रमाणित करता है (Means justifies the end) परम साध्य अनिश्चित है। उसकी स्पष्ट कल्पना नहीं की जा सकती। फिर तब उससे हम बुरे साधनों का औचित्य किस प्रकार सिद्ध कर सकते हैं। साधन और साध्य की शृंखला का कभी अन्त नहीं होता। जो एक साधन का साध्य है वही किसी अन्य साध्य का साधन है। हम अन्तिम साध्य को नहीं जान सकते। हमारे हाथ में तो केवल साधन ही हैं अतः अच्छे साध्य के लिये अच्छा साधन परमावश्यक है।

वस्तुतः उपरोक्त दोनों ही नियम एकांगी हैं। साध्य साधन का सम्बन्ध इतना पेचीदा है कि किसी सरल नियम से उसका समाधान नहीं किया जा सकता। यदि साध्य साधन को प्रमाणित करता है तो फिर सन्त विनोबा और डाकू मानसिंह में कोई अन्तर नहीं। दूसरी ओर यह भी नहीं कहा जा सकता कि कभी बुरे साधन का प्रयोग ही न किया जाय। महाभारत में स्वयं श्रीकृष्ण ने द्रोणाचार्य को मरवाने

के लिये युधिष्ठिर द्वारा झूठ बोलवाया। डाक्टर को रोगी को अच्छा करने के लिये कष्टदायक साधन भी प्रयोग करने पड़ते हैं। सफल से सफल पिता को भी बालक को कभी-कभी ताड़ना देनी ही होती है। गीता का समस्त नीतिशास्त्र युद्ध के औचित्य का समर्थन करता है।

किस परिस्थिति मे कौन से साधन का प्रयोग किया जाय यह सम्पूर्ण परिस्थिति के विश्लेषण से ही ज्ञात हो सकता है। स्वयं गाँधीजी को भी नमक कानून तोड़ने में बुरे साधन का प्रयोग करना पड़ा था। गाँधीजी ने उस विषय मे एक सिद्धान्त बतलाया। जब किसी काम से अच्छे और बुरे परिणाम एक ही व्यक्ति को भोगने पड़ें और बुरे परिणामो से अच्छे परिणाम अधिक हो तो वह कार्य उस व्यक्ति के लिये अच्छा ही होगा। उदाहरण के लिये यदि किसी रोगी की एक टाँग बिल्कुल खराब हो चुकी हो और उसे उससे असह्य कष्ट होता हो तब उस टाँग को काटना ही उचित होगा यद्यपि का ने में भी रोगी को भयकर कष्ट होगा। यहाँ पर रोगी की टाँग काटना इसलिये उचित होगा कि टाँग कटने से समस्त शरीर का कष्ट दूर होगा। गाँधीजी के नमक कानून तोड़ने के उदाहरण मे वह कानून तो भारत का ही था और उसको तोड़ने मे भारतीयो को ही कष्ट था। परन्तु उसके तोड़ने से स्वराज्य मिलता था और इस प्रकार दुख से अधिक सुख होता था।

प्र० ५. नीतिशास्त्र में उद्देश्य और उपाय में क्या सम्बन्ध है ? विचारात्मक आलोचना कीजिये।

उत्तर :—पिछला प्रश्नोत्तर देखिये।

अतः न तो साध्य साधन का औचित्य ठहराता है न साधन साध्य का। साध्य और साधन के सम्बन्ध को समझने के लिये सम्पूर्ण नैतिक परिस्थिति का विश्लेषण करना होगा। जब अच्छे साधनो से साध्य नही मिलता हो और बुरे साधन से हुआ दुख उसके साध्य से मिले सुख के सामने नगण्य हो और इस सुख और दुख का सम्बन्ध एक ही व्यक्ति अथवा समूह से हो तब बुरे साधन का प्रयोग भी अनुचित नहीं कहा जायगा।

Q. 5. What exactly is the relation between end and means in ethics ? Discuss fully. (Alld. 53).

Q. 6 What exactly is the object of moral judgement ? Explain in this connection the relative importance of the factors in the whole moral situation. (Alld 54)

प्र० ६. निश्चित रूप से नैतिक निर्णय का विषय क्या है ? इस विषय में सम्पूर्ण नैतिक परिस्थिति के अंगों का सापेक्ष महत्व समझाइये।

उत्तर :—नैतिक निर्णय का विषय समस्त ऐच्छिक कार्य है। परन्तु ऐच्छिक कार्य मे भी कई अग होते हैं। आन्तरिक अवस्था मे कार्य के पहले उसकी प्रेरणा

हेतु, अभिप्राय, इच्छा, विचार, चुनाव अथवा संकल्प होता है। इस आन्तरिक अवस्था के पश्चात् शारीरिक क्रियाएँ होती हैं और तब उनका वाह्य परिणाम देखने मे आता है। इस प्रकार केवल यही कहना पर्याप्त नही हो सकता कि ऐच्छिक कार्य नैतिक निर्णय का विषय है। प्रश्न यह है कि नैतिक निर्णय का विषय हेतु है अथवा परिणाम। मान लीजिए कि कोई धनी नाम करने के लिये किसी संस्था को रुपया दान करता है। उससे परिणाम शुभ होता है परन्तु उसका हेतु स्वार्थपूर्ण है। तब क्या वह कार्य अच्छा है अथवा बुरा।

सुखवादियों के अनुसार किसी कार्य का नैतिक मूल्य उसके परिणाम पर निर्भर है। वैन्थम (Bentham) के शब्दो मे हेतुओं का अच्छा या बुरा होना "उनके परिणामो पर निर्भर है।" इसी प्रकार मिल (Mill) के अनुसार "हेतु को कार्य की नैतिकता से कुछ नहीं करना होता।" यहाँ पर यह ध्यान देने की बात है कि वेन्थम और मिल ने हेतु को कार्य का प्रेरक माना है। सुखवादियों के अनुसार सुख और दुख की अनुभूतियाँ ही कार्य की प्रेरक हैं। सभी लोगों के कार्य इसी प्रकार के होते हैं। अतः मिल के अनुसार कार्य के प्रेरकों को अनेक प्रकार का मानना एक भारी मनोवैज्ञानिक भूल है। अतः कार्यों के परिणाम ही में शुभ अशुभ का निर्णय किया जा सकता है।

दूसरी ओर अन्तः अनुभूतियों एवं बुद्धिपरतावादियों के अनुसार नैतिक निर्णय का विषय कार्य का हेतु (Motive) है। कान्ट (Kant) के शब्दो मे, "हमारी क्रियाओं के परिणाम उनको नैतिक मूल्य नहीं दे सकते।" अन्तः अनुभूतिवादियों के अनुसार हमारे कार्यो के श्रोत और प्रेरक तत्व ही उसको अच्छा या बुरा बनाते हैं। डा० मार्टीनो (Martineau) के अनुसार यदि किसी कार्य के प्रेरक भाव निम्न कोटि के हैं तो हमे उस कार्य को बुरा मानना चाहिये और यदि वे उच्च कोटि के हैं तो उसे हमें भला मानना चाहिये। बटलर (Butler) कहता है "किसी कार्य की अच्छाई या बुराई बहुत अधिक उस हेतु पर निर्भर है जिससे कि वह किया जाता है।"

हेतु और परिणाम का परस्पर सामजस्य होने पर कोई समस्या नहीं खड़ी होती और नैतिक निर्णय दोनो ही पर होता है। परन्तु जब हेतु अच्छा हो और परिणाम बुरा अथवा हेतु बुरा हो और परिणाम अच्छा, तब यह प्रश्न सामने आता है कि नैतिक निर्णय परिणाम पर होगा अथवा हेतु पर। उदाहरण के लिये एक डाक्टर रोगी को भला चगा करने के हेतु से उसका आपरेशन करता है परन्तु बहुत सावधानी करने पर भी उससे रोगी की मृत्यु हो जाती है। इस उदाहरण मे हेतु अच्छा है परिणाम बुरा। अतः यह प्रश्न होता है कि क्या डाक्टर का आपरेशन करना अनुचित था? ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जायगा कि मानव के किसी कार्य के उसी अंश को नैतिक अथवा अनैतिक कहा जा सकता है जिसके लिये वह

स्वतन्त्र रूप से उत्तरदायी है। जैसा कि गीता ने यथार्थ ही कहा है कि कार्य का फल मनुष्य के हाथ में नहीं है। अनुभव और इतिहास भी इसी का समर्थन करता है। अतः जब परिणाम हमारे हाथ मे नही है तब फिर हम उसके लिये उत्तरदायी कैसे हो सकते हैं और जब हम उसके लिये उत्तरदायी ही नहीं हैं तब तो उसको नैतिक अथवा अनैतिक कहना वैसा ही होगा जैसा कि आकाश से बिजली गिरने अथवा अनावृष्टि या अतिवृष्टि को अनैतिक कहना। यहाँ पर यह बात निसदेह माननीय है कि जहाँ तक किसी कार्य का परिणाम किसी मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर है उस सीमा तक उसको अच्छा या बुरा अवश्य कहेगे। वास्तव मे हेतु और परिणाम एक दूसरे के विरोधी नहीं है। हेतु परिणाम का पूर्वाभास है। परिणाम हेतु का बाह्य रूप है। परन्तु हेतु और परिणाम मे परस्पर भेद होने पर हेतु ही नैतिक निर्णय का विषय होगा। डा० जान्सन (Dr. Johnson) के शब्दों में "किसी कार्य की नैतिकता उस हेतु पर निर्भर रहती है जिससे कि हम कार्य करते हैं। यदि मैं किसी भिखारी की ओर उसके सर तोडने के इरादे से एक अद्धक्राउन फेंकता हूँ और वह उसको उठा लेता है तथा उससे खाने की सामग्री खरीद लेता है तब भौतिक परिणाम तो शुभ है परन्तु मेरे सम्बन्ध मे काम बहुत गलत है।"

अब इसी से सम्बद्ध एक दूसरा प्रश्न है कि नैतिक निर्णय का विषय हेतु (Motive) है अथवा अभिप्राय (Intention). वास्तव में यह प्रश्न सुखवादियों ने उठाया है। सुखवादी सुख दुख की अनुभूतियों को हेतु मानते हैं और अभिप्राय को उससे भिन्न मानते हैं। बेन्थम के अनुसार "एक हेतु एक विशेष ढंग से कार्य करते हुए सुख और दुख के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।" अभिप्राय, बेन्थम के अनुसार किसी काय का लक्ष्य अथवा साध्य है जिससे वह कार्य करने को बाध्य होता है। अतः अभिप्राय ही नैतिक निर्णय का विषय है क्योकि हेतु तो सभी एक ही प्रकार के होते हैं। यही मिल (J. S. Mill) का भी मत है। मिल के शब्दो में "कार्य की नैतिकता पूर्णतः अभिप्राय पर अर्थात जो कुछ कर्ता करना चाहता है उस पर निर्भर है। परन्तु हेतु अर्थात् जिससे वह ऐसा करता है नैतिकता मे कोई अन्तर नहीं डालती जब तक कि उससे काम मे कोई अन्तर नहीं पडता।"

बेन्थम और मिल ने यह ठीक ही कहा है कि सुख और दुख की अनुभूतियों का कोई नैतिक मूल्य नहीं है परन्तु उनकी गलती यह है कि उन्होने इन अनुभूतियों को ही हेतु समझा। सुख और दुख केवल अन्ध अनुभूति मात्र है। वे किसी बौद्धिक कर्ता के प्रेरक कारण किस प्रकार हो सकते हैं। हेतु तो क्रिया का लक्ष्य है। अतः हेतु की प्रकृति को सही रूप में न समझने के कारण ही सुखवादी उसको नैतिक निर्णय का विषय नही मानते।

वस्तुतः हेतु अभिप्राय का ही एक अंश है। उसमें साध्य और साधन दोनों ही सम्मिलित हैं। यहाँ पर साध्य साधन के सम्बन्ध का प्रश्न भी आ जाता है। क्या

साध्य साधन को अथवा साधन साध्य को प्रमाणित करता है ? वास्तव मे न तो साध्य अच्छा होने से साधन अच्छा हो सकता है और न साधन अच्छा होने से साध्य अच्छा हो सकता है। किसी भी कार्य के पूर्णतः नैतिक होने के लिये साध्य और साधन दोनों ही अच्छे होने चाहिये। अतः हेतु और अभिप्रायः दोनों ही नैतिक निर्णय का विषय है। यहाँ पर यह स्मरणीय है कि नैतिक नियम सम्पूर्ण नैतिक परिस्थिति का भली प्रकार विश्लेषण करके ही लागू किये जा सकते हैं। (साध्य साधन के सम्बन्ध के विस्तृत विवेचन के लिये प्रश्न नं० ४ का उत्तर देखिये)

इस प्रकार अभिप्राय में हेतु भी सम्मिलित है। अतः अभिप्राय को नैतिक निर्णय का विषय कहने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अकेला हेतु ही नैतिकता का निर्णायक नहीं है। उसके साथ साधन का विचार भी आवश्यक है।

मैकेन्जी (Mackenzie) ने अभिप्राय में भी कई प्रकार के भेद माने हैं—

१. तात्कालिक और प्रच्छन्न अभिप्राय (Immediate and Remote intention), दो आदमियों का तात्कालिक अभिप्राय एक ही अर्थात् किसी डूबते को बचाना हो सकता है परन्तु उनके प्रच्छन्न अभिप्राय भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। एक उसकी जान बचाना चाहता है दूसरा उसको पकड़ कर पुलिस में देना चाहता है। यहाँ पर तात्कालिक और प्रच्छन्न दोनों ही अभिप्राय नैतिक निर्णय के विषय होंगे।

२. वाह्य और आन्तरिक अभिप्राय (Outer and Inner Intention) :— किसी सुअर के दुख से घबराकर अब्राहम लिंकन ने उसको नाली से बाहर निकाल दिया। यहाँ पर वाह्य अभिप्राय तो उसका दुख दूर करना था और आन्तरिक अभिप्राय उसके दुख से उत्पन्न अपनी बेचैनी को दूर करना था। ऐसी परिस्थिति में वाह्य और आन्तरिक दोनों ही अभिप्राय नैतिक निर्णय का विषय है।

३ प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अभिप्राय (Direct and Indireet Intention) :—जब एक क्रान्तिकारी सम्राट को ले जाने वाली ट्रेन को उड़ा देना चाहता है तब उसका प्रत्यक्ष अभिप्राय तो सम्राट को ही मारना है परन्तु अप्रत्यक्ष अभिप्राय उस ट्रेन के अन्य यात्रियों को भी मारना है क्योंकि वह जानता है कि सम्राट् के साथ बहुत से और लोग भी मर जायेंगे।

४. चेतन और अचेतन अभिप्राय (Conscions and unconscions Intention) :—इस प्रकार किसी व्यक्ति का चेतन अभिप्राय मानव जाति की भलाई हो सकता है जब कि अचेतन रूप मे वह अपनी बड़ाई के लिये काम करता है। यहाँ अचेतन अभिप्राय उस अभिप्राय को कहते हैं जो कि कर्ता निश्चित रूप से नहीं जानता। परन्तु नैतिक निर्णय का विषय अचेतन अभिप्राय भी हो सकता है विशेषतः जब कि कर्ता को उसकी उपस्थिति का ज्ञान हो चाहे वह अपने कार्य को उसके कारण न मानता हो।

५. सिद्धान्तरूप और यथार्थ अभिप्राय (Formal and Matenal Intention) किसी सरकार को उलटने का षड्यन्त्र करने वाले दो व्यक्तियो के यथार्थ अभिप्राय एक होते हुए भी सिद्धान्तरूप अभिप्राय अलग-अलग हो सकते हैं क्योकि जबकि उसको एक अत्यधिक प्रगतिशील होने के कारण हटाना चाहता है, दूसरा उसको इसलिए हटाना चाहता है कि वह अत्यधिक रूढ़िवादी है। यहाँ पर सिद्धान्तरूप और यथार्थ दोनो ही अभिप्रायो पर नैतिक निर्णय दिया जायेगा।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि हेतु अथवा साध्य का विचारमात्र नही वल्कि सम्पूर्ण अभिप्राय ही नैतिक निर्णय का विषय है।

यहाँ पर एक और प्रश्न भी खड़ा होता है। क्या चरित्र नैतिक निर्णय का विषय है ? मैकेन्जी के अनुसार "केवल कुछ संकुचित अर्थों में ही यह कहा जा सकता है कि नैतिक निर्णय अभिप्राय अथवा केवल हेतु पर ही दिया जाता है। सत्य तो यह प्रतीत होता है कि पूर्णतः विकसित नैतिक निर्णय प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप मे सदैव कर्ता के चरित्र पर दिया जाता है। केवल एक की हुई वस्तु पर ही नही बल्कि सदैव एक करने वाले व्यक्ति पर ही हम नैतिक निर्णय देते हैं।"

यह सिद्धान्त भ्रम मूलक है। अभिप्राय चरित्र का ही प्रगट करता है। किसी मनुष्य के व्यवहार को देख करके ही हम उसका चरित्र जानते हैं अतः जिस सीमा तक कोई विशेष व्यवहार किसी व्यक्ति के चरित्र को प्रगट करता है उस सीमा तक हम उसके चरित्र को अच्छा या बुरा कह सकते हैं। परन्तु चरित्र एक गहन मनो-वैज्ञानिक रचना है। बुरे से बुरे व्यक्ति भी कभी-कभी अच्छे काम करते है अच्छे से अच्छे चरित्र के व्यक्ति भी कभी-कभी बुराइयो के शिकार होकर बुरा कार्य कर कर सकते है। अतः किसी बुरे कार्य को देखकर किसी व्यक्ति के सम्पूर्ण चरित्र को बुरा नही कहा जा सकता और न ही किसी अच्छे काम को देखकर किसी व्यक्ति के चरित्र को बुरा कहा जा सकता है। चरित्र किसी व्यक्ति के नैतिक मूल्य का निर्णायक है न कि उसके किसी विशेष कार्य के नैतिक मूल्य था। उस काम के नैतिक मूल्य का निर्णायक तो उसका अभिप्राय ही होगा।

मनुष्य की आदतें भी नैतिक निर्णय की विषय हैं क्योकि बाद को बाध्य स्वभाव पड़ जाने पर भी प्रारम्भ मे तो मनुष्य स्वेच्छा से ही आदत डालता है। बारम्बार इच्छा पूर्वक एक कार्य को दोहराने से फिर उसकी आदत पड जाती है जो कि इच्छा न रहने पर भी मनुष्य को कार्य करने को बाध्य करती है।

इस प्रकार सक्षेप मे हेतु, अभिप्राय, साध्य, साधन और आदत इत्यादि स्वेच्छा मूलक कार्य नैतिक निर्णय के विषय हैं। (नैतिक परिस्थिति के विभिन्न

अंगो की विस्तृत व्याख्या के लिये प्रश्न १ का उत्तर देखिये। आपेक्षिक महत्व में क्रम इस प्रकार होगा—स्वतन्त्र इच्छा, विकल्प, नैतिक चेतना)

Q. 7. Which do you think is the object of moral Judgment—the motive of the act or its consequences? (Alld. 58).

प्र० ७, नैतिक निर्णय का विषय किसे समझते हैं—क्रिया के अभिप्राय को या उसके परिणाम को ?

उत्तर :—पिछले प्रश्न का उत्तर देखिये ?

Q. 8. What is the nature of moral Judgment? Do we Judge the motive or the consequences of on act? (Alld. 56).

प्र० ८. नैतिक निर्णय का स्वरूप क्या है ? हम किसी कर्म की प्रेरणा के आधार पर उसकी नैतिकता का निर्णय करते हैं अथवा परिणाम के आधार पर ?

उत्तर :—किसी वाक्य के मानसिक रूप को निर्णय (Judgment) कहते हैं। परन्तु निर्णय अनेक प्रकार के होते हैं। नैतिक निर्णय अन्य सभी निर्णयों से भिन्न हैं। अन्य निर्णयों की तुलना मे उनकी विशेषताएँ निम्निलिखित हैं :—

१. नैतिक निर्णय तथ्य सम्बन्धी न होकर मूल्य सम्बन्धी निर्णय हैं। मनोविज्ञान, भौतिक विज्ञान इत्यादि के निर्णय तथ्य सम्बन्धी हैं। "सूरज पूरब में निकलता है" एक तथ्यात्मक निर्णय हैं। "महात्मा गाँधी बड़े चरित्रवान व्यक्ति थे" यह एक मूल्यात्मक निर्णय है। इस प्रकार नैतिक निर्णय "क्या है" न होकर "क्या होना चाहिए" है। वह वर्णानात्मक न होकर विवेचनात्मक है। वह किसी कार्य की अच्छाई या बुराई की विवेचना करने वाली मानसिक क्रिया है।

२. नैतिक निर्णय आदर्शमूलक (Normative) हैं। विज्ञान सामान्यतः यथार्थमूलक (Positive) होता है या आदर्शमूलक। नीतिशास्त्र आदर्शमूलक विज्ञान है। म्यूरहैड के शब्दो मे "वह आचरण पर (Upon) निर्णय से सम्बन्धित है, यह निर्णय कि इस प्रकार का आचरण उचित और अनुचित है।.........वह न्यायात्मक (Judicial) निर्णय के विषय के रूप मे आचरण से व्यवहार करता है केवल काल मे कहे गये आचरण से नहीं।"

३. मैकेन्जी के अनुसार "नैतिक निर्णय का स्वभाव केवल वैसा नही है जो कि तर्कशास्त्र कहलाने वाले का है। वह केवल किसी के बारे मे (About) निर्णय नही बल्कि किसी पर (Upon) निर्णय है।" नैतिक निर्णय में हम किसी नैतिक मानदण्ड के आधार पर किसी विशेष कार्य की अच्छाई बुराई का निर्णय करते हैं।

४. नैतिक निर्णय अनुमानात्मक (Inferential) है। किसी भी कार्य पर नैतिक निर्णय देने के पूर्व हम उसको नैतिक मानदण्ड की कसौटी पर कसते हैं और फिर उसी से उसके अच्छे या बुरे होने का निश्चय करते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नही कि प्रत्येक विषय में तर्क वितर्क करना आवश्यक है। बहुधा साधारण बातो मे किसी कार्य के नैतिक मूल्य को हम सहज अनुभूति अथवा अर्न्तदृष्टि से ही जान जाते हैं। केवल गहन और सन्देहात्मक विषयो में ही नैतिक मानदण्ड को स्पष्ट रूप से सन्मुख लाकर कार्यो पर लागू करना होता है।

(प्रश्न के शेष अंश के उत्तर के लिये प्र० ५ का उत्तर देखिये)।

अध्याय ४

The Standard as Law—External Laws of the Tribe, The Society. the State or God.

नियम का मानदण्ड—समुदाय, समाज, राज्य व ईश्वर का वाह्य नियम।

Q. 1. Consider the significance of Law in Ethics and explain the different forms in which it has been conceived as a standard of conduct. (Agra 54).

प्र० १. नीतिशास्त्र में नियम के महत्व पर विचार कीजिए और जिन भिन्न रूपों में नियम नैतिक मानदंड माना गया है उनकी व्याख्या कीजिये।

Q. 2. Explain the meaning of Law as a standard of conduct in morals and classify its various forms. (Agra 51).

प्र० २. नैतिक मानदंड के रूप में नियम की व्याख्या कीजिये और उसके अनेक रूपों को स्पष्ट कीजिये।

Q. 3. Discuss critically the theory, 'Law is the standard of morality'. (Alld. 56)

प्र० ३. नैतिक निर्णय के मानदंड के रूप में नियमवाद के सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

Q. 4. Write critical notes on:—Law as moral end. (Alld. 54).

प्र० ४. 'नैतिक साध्य के रूप में नियम' पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिये।

उत्तर :—नियमवाद या नियम को नैतिक मानदंड मानने वाले सिद्धान्त के अनुसार नैतिकता नियम पर आधारित है। कोई भी कार्य स्वयं उचित या अनुचित नहीं है, उसका निर्णय नियम करता है। यदि कार्य नियम के अनुसार है तो वह उचित है और यदि नियम के विरुद्ध है तो वह अनुचित है। उद्देश्यवादी नैतिक धारणाओं के विरुद्ध नियमवादी धारणायें कानून अथवा नियम पर जोर देती हैं। वाह्य नियम साधारणतः चार श्रेणियों में विभाजित किये जा सकते हैं यथा समुदाय (Association or Group of Tribe) का नियम, समाज (Society) का नियम, राज्य (State) का नियम और ईश्वर (God) का नियम।

समुदाय का नियम :—प्राचीन काल में लोग छोटे-छोटे दल झुण्ड या समुदायों में विभक्त थे। प्रत्येक समुदाय का एक सरदार होता था जिसकी आज्ञा

मानना समुदाय के प्रत्येक व्यक्ति का धर्म था। यही समुदाय का नैतिक नियम था। परन्तु क्रमशः सरदार और दल के सदस्यो में संघर्ष प्रारम्भ हुआ। कभी-कभी सरदार की विभिन्न आज्ञाएँ ही परस्पर विरोधी होती थी। अतः बुद्धिमान सदस्यो को उसकी आज्ञाओ का उल्लंघन अनिवार्य जान पडने लगा। मानव की स्वतन्त्र चेतना किसी प्रकार के वाह्य दबाव को नही चाहती। वे दबाव नैतिक "चाहिए" को नहीं उत्पन्न करते। बौद्धिक चेतना वाह्य आज्ञा से अधिक समीचीन नियम की आवश्यकता अनुभव करती है। नैतिक नियम बल प्रयोग पर आधारित नहीं हैं।

समाज का नियम :—छोटे-छोटे समुदाय मिलकर क्रमशः समाज बने। मनुष्य स्वभावतः भी सामाजिक प्राणी है। उसके लिये सामाजिक मत का बडा महत्व है। अतः कुछ विचारको के अनुसार सामाजिक नियम ही नैतिकता के मानदंड है। इसमें लोकमत, परम्परा, रूढ़ियाँ और रीति-रवाज़ आते हैं। समाज जिसकी प्रशंसा करे वही अच्छा है और समाज जिसे बुरा समझे वही बुरा है। बेन (Bain) के शब्दों में "एक नैतिक कार्य सामाजिक सत्ता द्वारा बनाया हुआ और प्रत्येक नागरिक पर वाधित माना गया नियम है। उसकी नैतिकता सामाजिक सत्ता के मूल उद्देश्यो को पूर्ण करने मे नही बल्कि उसके एक सत्ता द्वारा आरोपित होने से बनी है।" समाज के इन नियमो के साथ सामाजिक श्लाधा का लालच और सामाजिक वहिष्कार का भय लगा रहता है।

अतः समाज के नियम मनुष्यो के स्थायी भावो पर आधारित हैं। वे देश और काल के साथ परिवर्तित होते रहते हैं और इ   उनसे कोई सार्वभौम नियम नहीं मिल सकता। वे बहुधा परस्पर विरुद्ध भी होते हैं। अतः वे नैतिक नियम के आधार नही बन सकते। दूसरे सामाजिक नियम भी बल प्रयोग और भय पर आधारित है अतः स्वतन्त्र और निर्भय व्यक्ति उनका विरोध करने से नहीं डरेंगे। तीसरे सामाजिक नियम मनुष्यो के वाह्य आचरण पर ही लागू होते हैं। समाज मनुष्य के कार्यों के प्रेरक कारणो को नही जान सकता। परन्तु नैतिकता कार्यों के आन्तरिक पक्ष पर निर्भर है। चौथे जैसे-जैसे मानव में बौद्धिक चेतना विकसित होती है वह लोकमत का अंधानुकरण करने की बजाय सामाजिक नियमों की बुद्धि के प्रकाश में आलोचना करने लगता है। बुद्धि के विरुद्ध होने पर वह उनका विरोध करने को वाध्य हो जाता है। पाँचवे कोई भी वाह्य दबाव नैतिक नियमो की सृष्टि नही कर सकता क्योकि नैतिक नियम स्वतन्त्र संकल्प पर आधारित है।

राज्य का नियम :—हॉब्स (Hobbes) और बेन (Bain) इत्यादि राज्य अथवा सरकार के नियमो को ही नैतिकता का मानदंड मानते हैं। हाब्स के शब्दो में "सब प्रकार के उचित अनुचित के विषयो मे नागरिक कानून ही अपील करने के लिये एक मात्र सर्वोच्च न्यायालय है।" बेन के शब्दो मे "नैतिकता प्रत्येक विषय

में नागरिक सरकार अथवा देश के नियम से एक रूप है।" इस प्रकार राज्य अथवा सरकार द्वारा निषिद्ध कार्य अनुचित हैं और उनके द्वारा प्रतिपादित कार्य उचित।

सामाजिक नियमों के विरुद्ध लागू होने वाले समस्त तर्क राजनैतिक नियमों पर भी लागू होते हैं। १. राजनैतिक नियम राज्य और सरकार के परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तनशील हैं। विभिन्न देश और काल में वे भिन्न-भिन्न होते हैं। अतः उन पर शाश्वत नैतिक नियम नहीं बनाये जा सकते। २. राजनैतिक नियम जीवन के सभी व्यापारों में मार्ग निर्देश नहीं करते। उनका क्षेत्र अत्यन्त संकुचित है। वे हमारे अन्तःकरण, प्रेरणाओं और अनुभूतियो में प्रवेश नहीं कर सकते। अतः उनके आदेशों से नैतिक जीवन के सभी व्यापारो में प्रकाश नहीं मिल सकता। ३. राजनैतिक नियम समाज के कल्याण के लिये बनाएँ जाते हैं। अतः वे साध्य न होकर साधन मात्र हैं। नुचित होने पर उनका विरोध किया जा सकता है और समाज एवं व्यक्ति के कल्याण का आदर्श ही उनके उचित अथवा अनुचित होने का निर्णय करेगा। ४. राजनैतिक नियम भी बल प्रयोग और भय पर आधारित हैं अतः वे नैतिक नियमों के श्रोत नहीं हो सकते। ५. राजनैतिक नियम वाह्य नियम हैं नैतिकता आन्तरिक है और व्यक्ति के स्वतन्त्र संकल्प पर आधारित है।

ईश्वरीय नियम :—डेकार्ट (Descartes) लॉक (Locke) और पैले (Paley) इत्यादि दार्शनिको के अनुसार ईश्वर की आज्ञा ही नैतिकता का मानदण्ड है। ईश्वर की आज्ञा के अनुरूप कर्म उचित हैं और उसके विरुद्ध अनुचित। ई वर नैतिक नियमो के अनुसार नहीं चलता बल्कि नैतिक नियम ही उसकी स्वेच्छा के साथ परिवर्तित होते रहते हैं। लॉक के अनुसार "नैतिकता का सच्चा आधार केवल ईश्वर की इच्छा और नियम है।" भारतीय न्याय दर्शन भी ईश्वरीय नियम को नैतिक आदेश मानता है। ईश्वर अपने आदेशो को सन्त और पैगम्बरों द्वारा प्रगट करता है और साधारण जन उसको शास्त्रो द्वारा जान सकते हैं।

यह मत ईश्वर को स्वेच्छाचारी बना देता है। ईश्वर उचित को अनुचित और अनुचित को उचित बना सकता है। यह मत सच्ची धार्मिक चेतना के विरुद्ध है। ईश्वर नीति से परे अवश्य है परन्तु फिर भी उसको अशुभ के साथ अपनाना अनुचित होगा। जैसा कि गीताकार ने यथार्थ ही बतलाया है ईश्वर स्वभाव से ही शुभ और सत है अतः ईश्वरीय आदेश नैतिक आदेशों से भिन्न नहीं होने चाहिये। दूसरे ईश्वरीय आज्ञा के पालन और परिणाम स्वरूप उसके पुरुष्कार भोगने अथवा उसके दण्ड से बचने के लिये किये गये कार्य व्यवसायिक बुद्धि से

प्रेरित हैं। नैतिकता स्वयं साध्य है। स्वर्ग अथवा नरक के भय से किये हुये कार्य नैतिक नही कहे जा सकते।

आन्तरिक नियम :—इन वाह्य नियमो के अतिरिक्त कुछ लोग अन्तःकरण के आन्तरिक नियम को ही नैतिकता का मानदंड मानते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार अन्तःकरण की आज्ञा मानना उचित और उसकी अवहेलना करना सर्वथा अनुचित है। अर्न्तचेतना किसी ध्येय के दृष्टिकोण से नहीं बल्कि अपने सहज ज्ञान से ही शुभाशुभ का निर्णय कर लेती है। नैतिकता ज्ञान, सौन्दर्य अथवा अन्य किसी भी गुण पर नही बल्कि अर्न्तचेतना के सहज ज्ञान जनित नियम पर आधारित है।

इस सिद्धान्त को मानने में भी अनेक कठिनाइयाँ हैं। जाति और व्यक्तियों के साथ-साथ विभिन्न वातावरण, संस्कार और सामाजिक परम्पराओ में अन्तःकरण भी भिन्न-भिन्न होते हैं। अतः उनको प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। मैकेन्जी के शब्दो मे "जो मनुष्य अर्न्तचेतना से कार्य नही करता वह निश्चय ही गलत कार्य करता है, वह अपने शुभ के मानदंड के अनुसार भी कार्य नहीं करता। परन्तु एक मनुष्य अर्न्तचेतना के अनुसार कार्य करते हुये भी अपने मानदंड में किसी अपूर्णता के कारण गलत कार्य कर सकता है।" अतः आदर्शनिक सहज ज्ञानवाद के आधार पर कोई निश्चित, विश्वसनीय और सार्वभौम नैतिक मानदंड नही मिल सकता। दूसरी ओर दार्शनिक सहज ज्ञानवाद नैतिक नियमो को बतलाता है और उनकी अनिवार्यता पर जोर देता है परन्तु उनके मूल में जो नैतिक सिद्धांत हैं उनकी व्याख्या नही करता। वह परम शुभ की कोई कल्पना नहीं देता। अतः विरोध और अपवाद की स्थिति में उससे कोई निर्देश नही प्राप्त हो सकता। नैतिक आदर्श की अनुपस्थिति में अन्तःकरण की आज्ञाएँ सिद्धान्त शून्य और निरंकुश हो जाती हैं।

नियमवाद की सामान्य आलोचना :—

१. नियमवाद "करना चाहिये" के स्थान पर "करना पड़ेगा" की स्थापना करता है। "नैतिक चाहिये" को जानने के लिये उद्देश्यवादी दृष्टिकोण अपनाना पड़ेगा। नैतिक नियम किसी वाह्य अथवा आन्तरिक दबाव पर आधारित नहीं हैं। वे व्यक्ति द्वारा अपने ऊपर स्वयं लागू किये जाते हैं।

२. नियमवाद नीतिशास्त्र की आधार भूत मान्यता आत्मा की स्वतन्त्रता का खंडन करता है। यदि मनुष्य नियम से बँधा है तो फिर उसके सन्मुख "नैतिक चाहिए" अर्थ हीन हो जाता है।

३. नियमवादी नीतिशास्त्र कठोर है क्योकि वह अपवाद के लिये कोई स्थान नही छोडता। नियम प्रत्येक अवस्था में मान्य हैं। वे अनुलंघनीय आज्ञाएँ हैं।

४. यह वास्तव में उलटी बात है। नियमों का अपने आप में कोई अर्थ नहीं। वे आदर्शों को प्राप्त करने के साधन मात्र हैं। अतः नियमों के साध्य परम आदर्श को ही नीतिशास्त्र का परम शुभ मानना चाहिये। ऐसी अवस्था में जो नियम परम आदर्श की ओर ले जाएँगे वे उचित और जो विरुद्ध ले जाएँगे वे अनुचित माने जाएँगे।

५. नियमवाद के अनुसार नैतिक मानदंड निरंकुश है। वह समाज, समुदाय, राज्य अथवा ईश्वर की मनमानी इच्छा पर निर्भर रहता है। उसका कोई अनिवार्य बौद्धिक आधार नहीं है। परन्तु नैतिक नियम आत्मा की प्रकृति के अनुरूप और बुद्धि पर आधारित होते है।

६. वाह्य नियम पुरस्कार की आशा और दंड के भय पर आधारित हैं। परन्तु यदि हानि लाभि का विचार ही कर्मों का प्रेरक कारण है तो फिर नैतिकता का स्थान स्वार्थ और गुणों का स्थान व्यवसायिक बुद्धि ले लेती है। इस प्रकार का कार्य कभी नैतिक नहीं कहा जा सकता। नैतिकता स्वयं साध्य है। वह किसी प्रकार के अच्छे बुरे परिणाम के विचार पर आधारित नहीं है।

Q. 5. Explain the significance of moral law and show how it differs from the laws of is and must. In which of these three classes would you place the laws of God and why? (Agra 49).

प्र० ५. नैतिक नियम के महत्व की व्याख्या कीजिये और यह वतलाइये कि नैतिक नियम "है" सूचक और 'करना पड़ेगा' सूचक नियमों से किस प्रकार भिन्न हैं ? तुम ईश्वर के नियम को इन तीन नियमों में से किस कोटि के नियमों में रखोगे और क्यों ?

उत्तर :—म्यूरहैड ने नैतिक चेतना के विकास में तीन अवस्थाएँ वतलाई हैं। सर्व प्रथम व्यक्ति और जाति का आचरण वाह्य नियमों द्वारा नियन्त्रित होता है। यह मनुष्य जाति की विचार हीन अवस्था है। इसके पश्चात्, बुद्धि की शक्ति वढ़ने पर वाह्य नियम का स्थान आन्तरिक चेतना के नियम ले लेते हैं। इस अवस्था में व्यक्ति वाह्य दवाव से मुक्त होकर आन्तरिक नियमो पर चलता है। कुछ समय पश्चात् जब यह दोनो प्रकार का नियमवाद अपूर्ण जान पडता है तब एक नवीन नैतिकता की स्थापना होती है जिसमें कि नियम को एक स्वयं साध्य परम श्रेय के आधीन माना जाता है। इस प्रकार नैतिकता नियमवाद से भिन्न है। नियम "करना पड़ेगा" के सूचक हैं। उनका आधार वल प्रयोग अथवा दवाव है। दूसरी ओर नैतिक नियम किसी आन्तरिक अथवा वाह्य दवाव पर आधारित नहीं है। उनमें "करना पड़ेगा" के स्थान पर "करना चाहिये" का बोध होता है।

(नैतिक नियम और नियमवाद की विस्तृत तुलना के लिये पिछला प्रश्नोत्तर देखिये ।)

नियम तीन श्रेणियो मे विभाजित किये जा सकते हैं, नैतिक, राजनैतिक और प्राकृतिक । राजनैतिक नियम वे नियम हैं जिनका नियमवाद में वर्णन किया गया वे वल प्रयोग पर आधारित हैं । उनका उल्लंघन करने पर दड मिलता है । उनका स्वरूप "करना पडेगा" का निर्देश है । इन पर आधारित नैतिकता कानूनी नैतिकता है । उसके अनुसार नियम स्वयं साध्य है । प्राकृतिक नियम "है" के नियम हैं । वे प्राकृतिक जगत के नियम हैं । वे तथ्यात्मक, स्थायी और अपरिवर्तनशील हैं । उदाहरण के लिये और मण्डल के नियमो को लिया जा सकता है ।

नैतिक नियम जहाँ एक ओर "करना पडेगा" की श्रेणी के नियमो से भिन्न हैं वहाँ दूसरी ओर उनका स्वरूप "है" की श्रेणी के नियमो से लगभग विपरीत है । उनके विरुद्ध नैतिक नियम "चाहिये" की श्रेणी में आते हैं । वे आदर्शात्मक, स्वतः साध्य और विवेक युक्त होते हैं । उनमें परिस्थिति के अनुसार अपवाद भी सभव हैं । वे परिणाम नहीं बल्कि प्रेरणाओ पर जोर देते हैं । वे कर्तव्य सूचक नियम हैं ।

ईश्वरीय नियमो को "है" और "करना पडेगा" दोनो ही प्रकार की श्रेणियों में रख सकते हैं । जहाँ तक वे स्थायी और अपरिवर्तनशील हैं वहाँ तक वे प्राकृतिक नियमो के ही समान हैं । परन्तु आज्ञाओ के रूप में लेने पर राजनैतिक नियम की श्रेणी में आ जाते हैं । परन्तु यदि ईश्वर को घट घट व्यापी आत्मा के रूप मे लिया जाय तो ईश्वरीय आदेश बौद्धिक आत्मा के आदेश होगे और वे नैतिक नियमों की श्रेणी में भी रखे जा सकते हैं । उस अवस्था में आत्म साक्षात्कार ही सच्चा ईश्वर साक्षात्कार माना जायगा और आत्मा के अनुसार चलना ईश्वरीय आदेश पर चलने के तुल्य होगा । इस प्रकार दैवी चेतना को प्राप्त करना ही परम शुभ बन जायगा ।

Q. 6, Write notes on :—The place of compulsion in morality. (Alld. 53).

प्र० . "नैतिकता में दबाव के स्थान" पर टिप्पणी लिखिये । इसके उत्तर के लिए पिछला प्रश्नोत्तर देखिए ।

अध्याय ५

Intuitionism

सहज ज्ञानवाद

Q. 1. What do you mean by Conscience? What are the elements involved in it? Is it a reliable standard of moral conduct? (Agra 57).

प्र० १. अन्तरात्मा का क्या अर्थ है? इसमें कौन-कौन से तत्व सम्मिलित हैं? यह कहाँ तक एक विश्वस्त नैतिक व्यवहार की कसौटी है?

Q. 2. What do you understand by the term conscience? Can it be regarded as the standard of moral judgment? If not, what is its importance in moral life? (Agra 48).

प्र० २. अन्तरात्मा से आप क्या समझते हैं। क्या अन्तरात्मा नैतिक निर्णय का मानदंड हो सकती है? यदि नहीं, तो नैतिक जीवन में अन्तरात्मा का क्या स्थान है?

Q. 3. Describe the defects of conscience as a standard of ethical judgment.

प्र० ३. नैतिक निर्णय के मानदंड की दृष्टि से अन्तरात्मा के दोषों वर्णन कीजिये।

उत्तर :—मनुष्य का अनुभव दो प्रकार का होता है एक वाह्य और दूसरा आन्तरिक। इसी प्रकार उसका ज्ञान भी दो प्रकार का होता है एक तो वाह्य इंद्रियों द्वारा और दूसरा अन्तरात्मा अथवा अन्तःकरण (Conscience) द्वारा। इस दूसरे प्रकार के ज्ञान को सहज ज्ञान, आन्तरिक आदेश अथवा अन्तः अनुभूति (Intuition) कहते हैं। अन्तरात्मा मनुष्य को उसके कर्तव्य का ज्ञान कराती है। यह उसको सत् पथ पर आरूढ़ रखती है। यह आत्मा की वह शक्ति है जिसके द्वारा आत्मा उचित, अनुचित सद् और असद् का अन्तर पहचानता है। यह अन्तरात्मा व्यक्तिगत नहीं वल्कि सार्वभौम है। म्यूर हैड के शब्दों में अन्तरात्मा ज्ञान अथवा निर्णय है।"

अन्तरात्मा के तत्व :—अन्तरात्मा को भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने भिन्न भिन्न रूप में देखा है। सुखवादी उसे आत्म प्रेम व दूरदर्शिता मानते हैं। उपयोगितावादी उसको सहानुभूति के रूप में देखते हैं। सहज ज्ञानवादियों में भी उसके विषय में

भिन्न-भिन्न धारणाये हैं । कुछ उसे नैतिक प्रज्ञा (Moral sense) अथवा नैतिक इन्द्रिय मानते हैं जो कि किसी भी कार्य के शुभाशुभ का तत्काल निर्णय कर देती है । कुछ अन्य उसको विवेकात्मक अन्तःअनुभूति (Rational Intuition) मानते हैं । उनके अनुसार अन्तरात्मा को भले बुरे का सहज ज्ञान रहता है और वह किसी कार्य के नैतिक मूल्य को सहज ही जान जाती है । धार्मिक अन्तः अनुभूतिवाद (Religious Intuitionism) के अनुसार यह मनुष्य के अन्तःकरण में ईश्वर की आवाज है और उसके भले बुरे का ठीक बोध कराती रहती है । पूर्णतावादियो के अनुसार अन्तरात्मा केवल अन्तःकरण न होकर सम्पूर्ण आत्मा है जो कि शुभाशुभ का निर्णय करती है । इस प्रकार अन्तरात्मा में अनेक तत्व हैं । वह विधान-निर्माता, अभियोग लगाने वाला, साक्षी, न्यायधीश और दंड दाता भी है ।

क्या अन्तरात्मा नैतिक निर्णय का मानदंड हो सकती है ? :—अन्तरात्मा को नैतिक निर्णय का मानदंड बनाने का औचित्य बहुत कुछ उसके स्वरूप की धारणाओं पर निर्भर है । यदि उसको नैतिक प्रज्ञावाद (Moral Sense School) के समान इन्द्रिज्ञान के सदृश तर्क वितर्क रहित ज्ञान माने तो कई कठिनाइयाँ सामने आती हैं । १. नैतिक विवेक मे से चिन्तन के स्थान को नही निकाला जा सकता । अनेक धर्म संकट के अवसरो पर अन्तरात्मा एकाएक कोई आदेश नहीं दे सकती और उस समय विचार से काम लेना आवश्यक हो जाता है । २. यह सिद्धान्त नैतिक-मूल्य को एक अनुभूति मात्र बना देता है । परन्तु बुद्धि तत्व की अनुपस्थिति मे यह समझना कठिन है कि यह अनुभूति अन्य अनुभूतियो से कैसे भिन्न है । इसके अतिरिक्त यह अनुभूति हमें कोई सार्वभौम मानदण्ड नही दे सकती क्योकि देश और काल के अन्तर के साथ यह नैतिक अनुभूति भी परिवर्तनशील है । एक ही कार्य की नैतिकता के विषय मे अनेक लोगो की अनेक अनुभूतियाँ देखने मे आती हैं । ऐसी परिस्थिति मे यह कहना कठिन है कि कौन-सा निर्णय यथार्थ है । ३. यह सिद्धान्त नैतिक निर्णय का आत्मगत बना देता है । तर्क की अनुपस्थिति में निर्णय वस्तुगत नही हो सकते । परम शुभ की कल्पना की अनुपस्थिति मे अन्तरात्मा कैसे भले बुरे का निर्णय कर सकती है । यह परम शुभ की कल्पना हमें बुद्धि द्वारा ही उपलब्ध हो सकती है । नैतिक निर्णय अनुभूति अथवा स्थायी भावो पर निर्भर नही रह सकते । बुद्धि की अनुपस्थिति में केवल अनुभूति या स्थायी भाव अन्धे होगे । यह सिद्धान्त अन्तःकरण के परिष्कार अथवा परिवर्तन की व्याख्या नही कर सकता ।

कडवर्थ (Cudworth) क्लार्क (Clarke) और वुलेस्टन (Wollaston) एक प्रकार के दार्शनिक सहज ज्ञानवाद का प्रतिपादन करते हैं । उनके अनुसार अन्तरात्मा का स्वरूप बौद्धिक है और उसे उचित अनुचित का सहज ज्ञान रहता

है। कान्ट अन्तरात्मा को एक ऐसी व्यावहारिक बुद्धि मानता है जो कि सब में है और सबको भले रे का ज्ञान कराती है।

दार्शनिक सहज ज्ञानवाद के आधार पर अन्तरात्मा के सिद्धान्त को मानने में भी अनेक कठिनाइयाँ हैं :—१. यह सिद्धान्त नैतिक नियमों की व्याख्या नहीं करता और ना ही उनके बौद्धिक आधार का अन्वेषण करता है। वह हमें उचित अनुचित तो बतलाता है परन्तु यह नहीं बतलाता कि वे उचित या अनुचित क्यों है। वह उद्देश्यवादी न होकर नियमवादी है। वह परम शुभ के दृष्टिकोण से नैतिक नियमों की प्रामाणिकता सिद्ध करने से इन्कार कर देता है। अतः वह रूढ़िवादी और बु िीन है।

२. नैतिक नियम व्यक्ति के लिये निरपेक्ष हैं क्योंकि वे उसको वंशानुक्रम से प्राप्त होते हैं परन्तु जाति के दृष्टिकोण से वे अनुभव पर आधारित है। सामान्य बुद्धि उनको सहज ज्ञान जनित समझती है परन्तु आलोचनामक दृष्टि से वे ऐसे नहीं ज्ञात होते।

३. नैतिक नियम व्यवहारिक जीवन में कोई स्पष्ट मार्ग निर्देश नहीं कर सकते। वे अमूर्त हैं। असाधारण परिस्थितिय में उनसे कोई प्रकाश नहीं मिलता। अपवाद के प्रसंगो में उनको संशोधित और परिवर्तित करने की आवश्यकता है। जेम्स सेठ (James Seth) के शब्दों मे "दार्शनिक सहज ज्ञानवाद विषय-वस्तुहीन आकार है (From without matter) औ र अपरोक्ष सहज ज्ञानवाद आकार-हीन वस्तु विषय (Matter without form) है।"

४. सहज ज्ञानवाद नैतिक नियमो के संघर्ष की स्थिति में सामञ्जस्य नहीं स्थापित कर सकता। सभी नियमों को न रूप से उचित समझने के कारण वह यह निश्चित नहीं कर सकता कि दो परस्पर विरुद्ध नैतिक नियमो में कौन श्रेष्ठ है। केवल परम शुभ की स्पष्ट कल्पना ही कर्तव्यो के संघर्ष में उचित राह दिखा सकती है।

५. अन्तरात्मा को सम्पूर्ण आत्मा न मानने पर उसका नियम आत्मा के लिये एक बाह्य नियम बन जाता है। उसको तभी आन्तरिक नियम माना जा सकता है जबकि वह सम्पूर्ण आत्मा का नियम हो।

आदर्शनिक सहज ज्ञानवाद (Unphilosophical Intuitionism) के अनुसार अन्तरात्मा एक नैतिक इन्द्रिय हैं जिसके द्वारा हम किसी कार्य के नैतिक गुण को उसी प्रकार जान सकते हैं जैसे अन्य इन्द्रियो से वस्तुओं के भिन्न-भिन्न गुणों को जानते हैं। यह ज्ञान दो प्रकार से हो सकता है।

१. सुख और दुख की अनुभूति से।

२. सुन्दरता तथा कुरूपता की अनुभूति से। इसमें से प्रथम पर आधारित सिद्धान्त नैतिक बोध (Moral sense) का सिद्धान्त कहलाता है और द्वितीय पर आधारित सिद्धान्त सौंदर्य बोध (Aesthetic Sense) का सिद्धान्त कहलाता है। नैतिक बोध अथवा नैतिक इन्द्रियवाद की आलोचना पीछे की जा चुकी है। अब सौन्दर्य बोध अथवा रसेन्द्रियवाद का विवेचन करना है। इस सिद्धान्त को मानने वालों में शेफ्टसबरी (Shaftesbury) हचिसन (Hutcheson), हर्बाट (Herbart) और रस्किन (Ruskin) मुख्य है। शेफ्टसबरी के शब्दो में "जो कुछ सुन्दर और सत्य है वह रुचिकर और शुभ है।" इसी प्रकार रास्किन कहता है "मुझे बतलाओ कि तुम क्या चाहते हो और मैं तुम्हे बतलाऊँगा कि तुम क्या हो। हर्बार्ट भी सौन्दर्य और शुभ को एक मानता है। हचिसन भी कर्मों के सौन्दर्य और कुरूपता की बात करता है। इस प्रकार इन सभी दार्शनिको के अनुसार अन्तरात्मा रसानुभूति है जो कि क्रियाओं के सौन्दर्य और कुरूपता को एकदम देख लेती है। शेफ्टसबरी और हचिसन केवल सौन्दर्यानुभूति को पर्याप्त न पाकर नैतिकता को मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति के कारण मानते है और रसानुभूति को समस्त समाज के अधिकतम लोगो के अधिकतम लाभ के लिये लाभदायक मानते है।

रसेन्द्रियवाद की आलोचना :—१. नैतिक चेतना मे बाध्यता है और सौन्दर्यानुभूति मे केवल प्रशसा की भावना। नैतिक कर्तव्य अरुचिकर भी हो सकता है परन्तु रसानुभूति सदैव रुचिकर ही होती है।

२. नैतिकता रसानुभूति अथवा किसी भी अन्य अनुभूति पर आधारित नहीं हो सकती क्योंकि अनुभूतियाँ परिवर्तनशील है और नैतिक निर्णय वस्तुगत, शाश्वत, निरपेक्ष और प्रामाणिक है।

३. सौन्दर्य का मानदंड देश और काल के अनुसार परिवर्तनशील है अतः उसके आधार पर कोई शाश्वत नैतिक सिद्धान्त नही बनाये जा सकते। वास्तव मे सौन्दर्यानुभूति आत्मगत है और नैतिकता वस्तुगत। अतः दोनो एक दूसरे से भिन्न है।

४. यह आवश्यक नही है कि जो सुन्दर हो वह शुभ भी हो। कभी-कभी सुन्दर व्यक्ति भी चरित्रहीन होता है। कुछ वस्तुएँ सौन्दर्य की दृष्टि से अत्यन्त श्रेष्ठ होते हुये भी नैतिक दृष्टि से अत्यन्त हीन होती है। अतः सौन्दर्य सदैव शुभ नही माना जा सकता।

५. रसेन्द्रिवाद विचार परिवर्तन अथवा चरित्र रूपान्तर की व्याख्या नहीं कर सकता। रसानुभूति जनक निर्णय सहज और अभ्रान्त होते हैं। उनमे तर्क का स्थान नहीं है। परन्तु दूसरी ओर नैतिक निर्णय विचार पर आधारित होने के कारण पुनर्विचार करने से बदल भी सकते हैं।

६. नैतिकता सौन्दर्यानुभूति से अधिक व्यापक है। सौन्दर्य की अनुभूति न होने पर व्यक्ति में उतनी अधिक न्यूनता नहीं आती जितनी नैतिक गुणों के अभाव में आती है। नैतिकता के अनेक गुणों का सौन्दर्यानुभूति में सर्वथा अभाव है। नैतिकता में बाध्यता होती है, अनुमोदन और तिरष्कार होता है, शुभाशुभ की चेतना होती है। प्राइस के अनुसार "कर्तव्य की भावना को रुचि (Relish) में नहीं घटाया जा सकता।" रैशडल दो में "सौन्दर्य विषयक निर्णय संवेदनाओं से आवश्यक रूप से और अप्रथक प्रतीत होते हैं जो कि अत्यधिक मौलिक नैतिक निर्णय की अपेक्षा भी एक विशेष भौतिक रचना की पूर्व कल्पना करते हैं।"

७. रसानुभूति का सम्बन्ध एक विशेष प्रकार के सौन्दर्य से होता है परन्तु नैतिक चेतना आत्मा के कल्याण से सम्बन्धित होती है। अतः रसानुभूति और नैतिक चेतना में संघर्ष होने पर नैतिक चेतना को ही महत्व मिलना चाहिये। रसानुभूति के अनुसार उचित और नैतिक दृष्टि से अनुचित कार्य हमारी आत्मा के एक छोटे से अंश को सतोष देता है और एक बड़े भाग के लिये हानिकारक होता है अतः नैतिक निर्णय सौन्दर्य विषयक निर्णय से श्रेष्ठ हैं। नैतिकता कला से ऊँची है। समाज के हित मे कला के हित का नैतिकता के हित मे सौन्दर्यानुभूति का बलिदान करना उचित है।

इस प्रकार अन्तरात्मा के विषय में विभिन्न धारणाओं के गुण दोष का विवेचन करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि अन्तरात्मा को इन अर्थों में नैतिक निर्णय का मानदंड नहीं माना जा सकता। केवल एक ही अर्थ में अन्तरात्मा नैतिक निर्णय का मानदंड बन सकती है। पूर्णतावाद के अनुसार यदि अन्तरात्मा को सम्पूर्ण आत्मा की आवाज माना जाय तो उससे नैतिक जीवन में आवश्यक निर्देश प्राप्त हो सकता है। यह आत्मा किसी व्यक्ति विशेष की आत्मा न होकर वह सार्वभौम आत्मा होगी जो कि प्रत्येक व्यक्ति मे मौजूद है। इस सार्वभौम आत्मा का सार बुद्धि है क्योंकि मनुष्य में बुद्धि ही सार्वभौम तत्व है। अतः उस पर आधारित निर्णय भी सार्वभौम ही होंगे। इसी अर्थ में कान्ट ने अन्तरात्मा को भ्रान्तिहीन माना है।

नैतिक जीवन में अन्तरात्मा का स्थान :—इस अर्थ में अन्तरात्मा को लेने पर वास्तव मे वह नैतिक जीवन मे सतत निर्देश करने वाली आत्मा की आवाज बन सकती है। परन्तु तर्क युक्त विचार करने से यह स्पष्ट हो जायगा कि वास्तव मे अन्तरात्मा को नैतिक निर्णय का आधार किसी भी अर्थ मे नही माना जा सकता क्योंकि नैतिक निर्णय में परम शुभ की तुलना मे उपस्थित कर्म पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। अन्तरात्मा में किसी प्रकार के विचार की गुंजाइश नहीं। विकसित चरित्र वाले व्यक्तियो को उनकी अन्तरात्मा साधारण कार्यों में राह

दिखा सकती है। परन्तु गहन नैतिक प्रसंगो में बुद्धि पूर्वक निर्णय करना अत्यावश्यक है। नैतिक निर्णय मे भले बुरे का विचार करके स्वतन्त्र नैतिक निर्णय दिया जाता है। चरित्रवान व्यक्तियो की सहज दूरदर्शिता के रूप में अन्तरात्मा का नैतिक जीवन मे महत्व अवश्य है परन्तु उसके निर्णयो पर सदैव बुद्धि का अंकुश रखना आवश्यक है।

Q. 4. What is conscience? How is it related to Moral Sense and to Practical Reason? Examine the view that conscience is the supreme principle of morals. (Agra 44).

प्र० ४. अन्तरात्मा क्या है? उसका नैतिक इन्द्रिय और व्यवहारिक बुद्धि से क्या सम्बन्ध है? अन्तरात्मा को नैतिक नियमों का परम सिद्धान्त मानने वाले मत की परीक्षा कीजिये।

उत्तर :—पिछला प्रश्नोत्तर देखिये।

Q. 5. Trace the development of the idea of conscience, bringing out the different sense in which it was held by Shaftesbury, Hutcheson, Adam Smith and Butler. What does Kant mean by saying that an erring conscience is a chimera? Examine this view. (Agra 49).

प्र० ५. अन्तरात्मा के विचार का विकास दिखलाइये और शैफ्टसबरी, हचिसन, आदमस्मिथ और बटलर द्वारा माने हुए उसके भिन्न-भिन्न अर्थों को स्पष्ट कीजिये। कान्ट के यह कहने का क्या तात्पर्य है कि एक भूल करने वाली अन्तरात्मा मृगतृष्णा है? इस विचार की परीक्षा काजिये।

उत्तर :—शैफ्टसबरी, हचिसन और बटलर नैतिक बोध के सिद्धान्त को मानते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार सौन्दर्य बोध के समान नैतिकता का भी सहज बोध होता है। हचिसन और शैफ्टसबरी ने हॉब्स के स्वार्थवाद की आलोचना की और वैयक्तिक तथा सामाजिक शुभ में परस्पर सगति मानी। सौन्दर्यवादियो ने नैतिक बोध को मनुष्य की स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्ति की देन मानकर सामाजिक भावनाओं के द्वारा व्यक्तियो को एक सूत्र में बाँध दिया।

शैफ्टसबरी :—शैफ्टसबरी ने हाब्स के स्वार्थवाद का विश्लेषण करके व्यक्ति और समाज के अटूट सम्बन्ध पर जोर दिया। वह पहला विचारक था जिसके अनुसार नैतिक बोध से ही नैतिकता का मूल्यांकन हो सकता है। वह अन्तरात्मा को नैतिक इन्द्रिय मानता है जो कि शुभाशुभ का प्रत्यक्ष ज्ञान कराती है। उस नैतिक इन्द्रिय के अनुसार सुन्दर कार्य शुभ और असुन्दर अशुभ होते हं और

उसे कर्मो से सौत्दर्य का सहज बोध हो जाता है। यह सौन्दर्य अथवा नैतिकता की रुचि स्वाभाविक है।

नैतिक ज्ञान के मूल में नतिक बोध :—शैफ्ट्सबरी के अनुसार नैतिक ज्ञान के मूल में नैतिक बोध रहता है। यह बोध सबमें समान रूप से विकसित नहीं रहता परन्तु इसका परिष्कार किया जा सकता है। नैतिक ज्ञान कोरी बुद्धि पर आधारित न होकर नैतिक भावना पर आधारित है। सदाचार मे कलात्मक रुचि भी आवश्यक है। नैतिक शुभ सौन्दर्य पर निर्भर है और सौन्दर्य समग्रता मे अंगों की सगति और सन्तुलन पर निर्भर है।

स्वार्थ परमार्थ का प्रश्न :—हॉब्स के विरुद्ध शैफ्ट्सबरी कर्मो के बाह्य रूप और परिणाम को नहीं बल्कि उनकी प्रेरणाओ को नैतिक निर्णय का विषय मानता ह। शुभ मे अंग और अंगी, अंश और पूर्ण की संगति होनी चाहिये। अतः स्वार्थ-वाद एकांगी और अपूर्ण है। शुभ कर्म वही है जिसमें व्यक्ति के साथ समाज का भी हित हो। स्वार्थ के साथ परमार्थ का सामञ्जस्य हो। यह सन्तुलन ही मनुष्य को आनन्द देता है। शैफ्ट्सबरी के अनुसार मनुष्य मे तीन प्रकार की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं स्वाभाविक, आत्म और अस्वाभाविक। स्वाभाविक प्रवृतियाँ प्रेम, दया, सहानुभूति तथा आनन्द का श्रोत हैं। आत्म भावनाएँ एक सीमा तक शुभ है और अस्वाभाविक प्रवृत्तियाँ व्यक्ति और समाज दोनों के लिये अशुभ हैं। इस विश्लेषण से शैफ्ट्सबरी ने नैतिक सद्गुणो के महत्व की स्थापना की।

आलोचना :—१. शैफ्ट्सबरी सौन्दर्य बोध और नैतिक बोध के अन्तर को भूल जाता है। नैतिकता कला की समीक्षा करती है। कला नैतिकता के समकक्ष नहीं हो सकती।

२. नैतिकता की व्याख्या नैतिक इन्द्रिय से नहीं की जा सकती। नैतिक बोध को परिमार्जित करने के लिये शिक्षा की आवश्यकता होने पर शिक्षा ही नैतिकता का मानदण्ड हो जायगी। नैतिकता का मानदंड कुछ परिष्कृत रुचि वालो के लिये न होकर जन साधारण पर लागू होने वाला होना चाहिये।

३. शैफ़्ट्सबरी नैतिक आचरण को समझाने मे असमर्थ रहा। वह हॉब्स के परम स्वार्थवाद की सफल आलोचना नहीं कर सका। उसके सिद्धान्त मे नैतिक बाध्यता की भावना को समझना कठिन है। स्वार्थ और पदार्थ के परस्पर सम्बन्ध की भी सफल व्याख्या नहीं हो सकती है।

परन्तु फिर भी शैफ़्ट्सबरी ने ही सबसे पहले मानव स्वभाव का विश्लेषण करके स्वार्थी और परमार्थी प्रवृत्तियों की सगति को समझा । उसने नैतिकता को बुद्धि से हटाकर भावना पर आधारित किया और सामाजिक कर्तव्य को प्रेरित करने वाली भावनाओं को नैतिकता का केन्द्र विन्दु बनाया।

हचिसन :—हचिसन ने नैतिक इन्द्रियवाद के साथ बटलर के अन्तर्बोध के सिद्धान्त को भी स्वीकार किया।

नैतिक बोध :—हाब्स के आत्मगत सिद्धान्त के विरुद्ध हचिसन ने सौन्दर्य के समान नैतिकता को भी वस्तुगत माना। नैतिक गुण शाश्वत हैं। यद्यपि नैतिक बोध सब लोगों में समान रूप से जाग्रत नहीं हैं फिर भी वह उचित शिक्षा द्वारा व्यापक और परिमार्जित बनाया जा सकता है। अपने नैतिक बोध के सिद्धान्त के साथ हचिसन धार्मिक भावना को भी मिला देता है। उसके अनुसार अधिकाधिक सार्वभौम सुख का अर्जन करना भगवान और उसके द्वारा दिये हुए नैतिक बोध का परम लक्ष्य है। हचिसन के अनुसार भी नैतिक बोध की प्रेरणा बुद्धि नहीं बल्कि प्रवृत्तियों से ही मिलती है।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण :—हचिसन मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा अपने सिद्धान्तों की पुष्टि करता है। वह शान्त परोपकार, शान्त आत्म प्रेम और अशान्त वासनाओं का भेद समझाकर अशान्त वासनाओ को सभी परिस्थितियों में अशुभ मानता है। उसके अनुसार परोपकार स्वार्थ निरपेक्ष होना चाहिए। निजी सुख के प्रति उचित दृष्टिकोण में स्वार्थ और परमार्थ का सामञ्जस्य होता है।

आलोचना :—हचिसन के नैतिक बोध का अर्थ स्पष्ट नहीं है। उसने उसकी रुचि, सहज प्रवृत्ति और बोध आदि अनेक प्रकार से व्याख्या की है। यद्यपि बटलर के प्रभाव से वह नैतिक बोध के अनुशासन करने की क्षमता की बात कहता है तथापि वह यह बतलाने में असमर्थ है कि नैतिक बोध का सब कर्मों पर निरपेक्ष प्रभुत्व है। नैतिक बोध को रुचि मानने पर न तो वह सम्पूर्ण व्यक्ति को प्रभावित कर सकता है और न उसका प्रभुत्व ही निरपेक्ष हो सकता है।

बटलर :—बटलर ने अन्तर्मुखी और बाह्य निरीक्षण द्वारा अपने नैतिक सहज ज्ञानवाद की स्थापना की। उसके अनुसार अन्तर्बोध का आदेश और अधिकार सर्वोच्च है और प्रकृतिदत्त होने के कारण उसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

धार्मिक वृत्ति :—अपने अन्तर्बोध के सिद्धान्त को समझाने के लिये बटलर धार्मिक तर्कों का सहारा लेता है। उसके अनुसार अन्तर्बोध की शिक्षाएँ स्वयं भगवान की शिक्षाएँ हैं और जब मनुष्य उनको मानता है तो भगवान प्रसन्न होते हैं।

सामाजिकता :—बटलर के अनुसार समाज उस विधान की भाँति है जिसके अंग उस पर निर्भर है। मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक है। इस सामाजिक प्रवृत्ति को समझाने के लिए वह तीन तर्क प्रस्तुत करता है। पहले तो मनुष्य स्वभाव से ही परोपकारी है। दूसरे लोक प्रवृत्तियाँ स्वाथ और परार्थ से परे हैं और तीसरे अन्तर्बोध स्वार्थ और परार्थ की परस्पर विरोधी प्रवृत्तियो पर नियंत्रण रखता और

उनकी सन्तुलित करता है। मनुष्य और मनुष्य समाज केवल प्रथक-प्रथक अंगो का समन्वय मात्र न होकर एक सुव्यवस्थित विधान हैं। अन्तर्बोध इन विभिन्न अंगो के बीच सामञ्जस्य उत्पन्न करता है। वह मानव स्वभाव के चार तत्वो मे सर्वोच्च तत्व है। बटलर के अनुसार ये तत्व हैं विशिष्ट आवेग, राग और प्रवृत्तियाँ, परोपकार, आत्म प्रेम और अन्तर्बोध। अपने-अपने स्थान पर सभी तत्व शुभ हैं परन्तु अपनी सीमाओ का उल्लंघन करने पर वे बुरे हो जाते हैं। अन्तर्बोध अन्य प्रवृत्तियो पर निर्भर हैं क्योकि वह स्वयं सद्‌गुण नही उत्पन्न कर सकता परन्तु फिर भी वह सबसे ऊपर हैं क्योकि वह उन सबका सन्तुलन करता है।

अन्तर्बोध :—इस प्रकार अन्तर्बोध परोपकार और आत्म प्रेम दोनो से श्रेष्ठ हैं। वह समस्त प्रकृतियो से श्रेष्ठ है। वह प्रत्येक व्यक्ति मे है और सबका नैतिक निर्देशक है। वह स्वाभाविक है क्योकि मानव विधान के स्वभाव के अनुरूप है। वह वास्तविक आत्मा और बुद्धि है।

आलोचना :—बटलर की नैतिक विधान की धारणा वैराग्यवाद की विरोधी हैं क्योकि उसके अनुसार अन्तर्बोध सभी इच्छाओ की सामान्य तृप्ति का आदेश देता है।

२. बटलर ने प्लेटो, अरस्तू और शैफ्टसबरी के सिद्धान्त के साथ ईसाई ईश्वरज्ञान, विशुद्ध नैतिकता, स्टोइकवाद और सुखवाद इत्यादि का समन्वय किया। उसके सिद्धान्तो में उसका धार्मिक स्वभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। उसके अनुसार वर्तमान जीवन भावी जीवन के लिए साधन मात्र है। अतः व्यक्ति को इस जीवन में भविष्य के जीवन के सुख और संरक्षण के लिए सद्‌गुण और धर्मनिष्ठ बुद्धि की उन्नति करनी चाहिए।

३. बटलर ने परम स्वार्थवाद का मनोवैज्ञानिक खंडन किया। परन्तु वह अन्तर्बोध और आत्म-प्रेम के सम्बन्ध को समझाने मे असफल रहा। सुख और सद्‌गुण के विरोध को वह ईश्वर ज्ञान द्वारा दूर करने की चेष्टा करता है। उसका उपयोगितावाद और अन्तर्बोधवाद परस्पर असंगत है।

कान्ट के अनुसार "गलती करने वाली अन्तरात्मा एक मृगतृष्णा मात्र है।" अर्थात् अन्तरात्मा कभी गलती नहीं कर सकती। वह सदैव उचित मार्ग का ही निर्देश करती है। यहाँ पर कान्ट का तात्पर्य किसी व्यक्तिगत अन्तःकरण से नहीं है। अन्तरात्मा को वैयक्तिक मानने पर अनेक दोषपूर्ण होने की भी संभावना हो सकती है। रस्किन के शब्दो मे "व्यक्ति का अन्तरात्मा संघ का अंतरात्मा हो सकता है।" परन्तु जब कान्ट अन्तरात्मा को भ्रान्तिहीन मानता है तो उसका तात्पर्य उस नैतिक अथवा व्यावहारिक बुद्धि से है जो सार्वभौम है, सबमे व्यापक है। वह एक ऐसी परम बौद्धिक शक्ति है जो कि मनुष्य जाति को सामान्य नैतिक नियमो का ज्ञान कराती है। वह प्रत्येक में गुप्त रूप से उपस्थित है। किसी में वह कम विकसित

होती है और किसी में अधिक। इसी कारण विभिन्न मनुष्यो की, नैतिक समझ में अन्तर पड जाता है। परन्तु शिक्षा और अभ्यास के द्वारा इस शक्ति का सभी में विकास किया जा सकता है।

अन्तरात्मा को सार्वभौम और वस्तुगत एवं समस्त आत्मा की आवाज मान लेने पर कान्ट की उक्ति सही हो सकती है परन्तु व्यक्तिगत रूप में लेने पर अन्तरात्मा के आदेश भ्रान्ति पूर्ण हो सकते हैं। वैयक्तिक जीवन में व्यक्ति की अन्तरात्मा उसके नैतिक मानदण्ड से उसके कर्मों की सगति अथवा असंगति की चेतना है। व्यक्तिगत नैतिक मानदण्ड दूषित होने पर अन्तरात्मा भी दूषित हो जायगी। यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है इस प्रकार की अन्तरात्मा वैयक्तिक है और सर्वसामान्य अन्तरात्मा का प्रतिनिधित्व नही करती। इस प्रकार डाकू हत्यारे अथवा शैतान की अन्तरात्मा उसको अशुभ मार्ग की ओर ले जाती है। वास्तव में अन्तरात्मा के बनने में वंशानुक्रम और सामाजिक वातावरण दोनो का ही हाथ है। वह व्यक्ति और समाज दोनो पर निर्भर है। उसकी आवाज को स्पष्ट सुनने के लिए अभ्यास की आवश्यकता है। उसकी बारबार अवहेलना करने से उसकी आवाज सुनाई नही पड़ सकती। मनुष्य में स्वार्थी और परार्थवादी दोनो प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं। बहुत दिनो तक स्वार्थ का अभ्यास करने और अन्तरात्मा की परोपकार वृत्ति को दबाने का परिणाम क्रमशः अन्तरात्मा की सुव्यवस्था अथवा भ्रष्टता मे प्राप्त होता है। प्रत्येक मनुष्य में ईश्वरीय अंश है। उसका विकास करने से ही उसे शुभाशुभ का ज्ञान होता है। इस सार्वभौम, बौद्धिक और ईश्वरीय सम्पूर्ण आत्मा की आवाज ही अन्तरात्मा है। उसको पहचानने और विकसित करने से मनुष्य कभी मार्ग-भ्रष्ट नहीं हो सकता।

Q. 6. 'Ethical doctrine must tell why, if the devil's conscience approves of the devil's acts, as it well may do, the devil's conscience is nevertheless in the wrong'. Discuss. (Agra 50).

प्र० 6. "नैतिक सिद्धान्त को यह बतलाना चाहिए कि क्यों यदि शैतान की अन्तरात्मा शैतान के कार्यों का अनुमोदन करती है (जैसा होना स्वाभाविक है) तो भी शैतान की अन्तरात्मा गलती पर है। इस कथन की विवेचना कीजिए।"

उत्तर :—पिछला प्रश्नोतर और प्रश्न ३ में अदार्शनिक सहज ज्ञानवाद की आलोचना देखिए।

Q. 7. What is intuitionism? What are the forms that this theory assumes? Give a critical estimate of intuitionism as an ethical theory.

प्र० ७. सहज ज्ञानवाद क्या है? यह सिद्धान्त कौन-कौन से रूप ग्रहण करता है? एक नैतिक सिद्धान्त के रूप में सहज ज्ञानवाद की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

उत्तर :—सहज ज्ञानवाद के अनुसार व्यक्ति में बिना सोच-विचार किये हुए ही कर्म के शुभाशुभ होने का ज्ञान कर लेने की शक्ति है। इस सिद्धान्त में अन्तरात्मा किसी कार्य के परिणाम अथवा उद्देश्य पर विचार किये बिना ही उसके औचित्य को जान जाती है। म्यूर हैड के अनुसार सहज ज्ञानवादी सिद्धान्तों में निम्नलिखित सामान्य विशेषताएँ पायी जाती है :—

१. अन्तरात्मा अन्ततोगत्वा एक सरल और स्वाभाविक वस्तु है।

२. उसके निर्णय सहज हैं। धोखाधड़ी और कायरता के कार्यों का तिरष्कार किया जाता है और बिना कारण बतलाए अथवा खोज किए हुए सत्यता, साहस और आत्म संयम के कार्यों का समर्थन होता है।

३. अतः उसमें सुख अथवा उपयोगिता के गौण विचारों का विचार किए बिना ही हमारी आधीनता पर एक विशेष अधिकार होता है।

४. इसी कारण उसकी सार्वभौमिकता भी है। वह उच्चतम और निम्नतम सभी जातियों में और सभी नैतिक व्यक्तियों में पायी जाती है।

सहज ज्ञानवाद के मुख्य रूप दो हैं :—दार्शनिक और अदार्शनिक। अदार्शनिक के भी दो रूप हैं :—नैतिक इन्द्रियवाद और रसोन्द्रियवाद। (इन सभी मतों की विस्तृत व्याख्या एवं आलोचना के लिए प्रश्न ३ और ५ के उत्तर देखिए)

———

अध्याय ५

The standard's of pleasure—Hedonism, Egoistic and Altruistic, gross and refined, Psychological and Ethical. Ethical doctrines of Bentham, Mill and Sidwick.

सुख का मानदंड सुखवाद—स्वार्थवादी और परार्थवादी, स्थूल और परिष्कृत मनोवैज्ञानिक और नैतिक। बेन्थम, मिल और सिजविक के नैतिक सिद्धान्त।

Q. 1. Write short notes on :—

1. Epicurianism (55)
2. Cyrenaics.
3. Charvakas

प्र० १. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :—

१. एपीक्यूरिअनिज्म
२. सिरेनैक्स
३. चार्वाक

उत्तर :—सिरेनैक्स (Cyrenaics) स्थूल सुखवाद है। उसका प्रवर्तक एरिस्टिपस (Aristippus) सीरीन देश का रहने वाला था। अतः उसका मत सिरेनैक्स कहलाया। एरिस्टिपस सुकरात का मतावलम्बी था यद्यपि उसने सुकरात के उपदेशों की जड़वादी और स्थूल सुखवादी व्याख्या की। सुकरात आनन्द को जीवन का ध्येय मानता है। बुद्धि का लक्ष्य कर्मों के मूल्य को निश्चित करना है। नैतिक व्यक्ति को चाहिए कि वह किसी कर्म के तात्कालिक और भविष्य में होने वाले सुखप्रद और दुखप्रद परिणामों का विश्लेषण करके सर्वाधिक सुख देने वाले कर्म को कर्तव्य माने। एरिस्टीपस ने इस सिद्धान्त की स्थूल व्याख्या की। उसके अनुसार सभी सुख मूल रूप में एक से ही है। उनमें केवल तीव्रता, मानव और स्थायित्व का अन्तर है। उसका कहना था कि सुकरात के आनन्द का अर्थ इन्द्रिय सुख है। अतः सिरेनैक्स का सिद्धान्त शुद्ध सुखवाद (Pure hedonism) अथवा इन्द्रिय परक या स्वार्थवादी सुखवाद (Sensualistic egoistic hedonism) कहलाता है। सभी सुख एक ही जाति के हैं। अतः जो अधिक तीव्र और स्थायी सुख हो वही उत्तम है। अधिक तीव्र होने के कारण शारीरिक सुख आत्मिक सुखों से अधिक श्रेष्ठ हैं। तीव्र इन्द्रिय सुख ही जीवन का ध्येय है। सेठ (Seth) के शब्दों में, "वर्तमान को भविष्य के लिए बलिदान करना अनुचित और खतरनाक है : वर्तमान हमारा है, भविष्य संभवतः कभी न हो। पहले और पीछे देखने का

अर्थ जीवन के लक्ष्य को खो देना है, उस सुख को खो देना है जो कि अनिवार्य रूप से वर्तमान की ही वस्तु है। वेपरवाह, विचारहीन, बुद्धि से अविचलित, शुद्ध और सरल अनुभूति का जीवन ही सिरेनैक आदर्श है।

एरिस्टीपस सोफिस्ट्स के सापेक्षवाद को स्वीकार करता है। संवेदनाएँ और अनुभव ही ज्ञान के एक मात्र विषय हैं। भविष्य अनिश्चित है। भूतकाल मृतक है। वर्तमान ही हमारे हाथ में है। तत्कालीन सुख ही एकमात्र शुभ है। सुख देने वाला व्यवहार शुभ और दुख देने वाला अशुभ है।

एरिस्टीप्स मनोवैज्ञानिक सुखवाद को मानता है। उसके अनुसार मनुष्य सदैव सुख खोजता है। उसे केवल तात्कालिक सुख की ही परवाह है। सुख ही कर्मों का एकमात्र प्रेरक है। अनुभव और ज्ञान जितना ही अधिक होगा उतना ही अधिक सुख मनुष्य को प्राप्त होता है। नीति के ज्ञान की अनुपस्थिति में मनुष्य दुख पाता है। यहाँ पर यह ध्यान देने की बात है कि अपने को सुकरात का अनुयायी कहते हुए भी एरिस्टीपस सुकरात के विरुद्ध यह मानता है कि मनुष्य को भविष्य की चिन्ता न करनी चाहिए। कर्मों का औचित्य उनके परिणामों पर निर्भर है। कर्म स्वयं शुभ अथवा अशुभ नहीं होते। सुख देने वाले कर्म शुभ होते हैं और दुख देने वाले अशुभ। इस प्रकार कुछ स्थितियों में चोरी, पाप और व्यभिचार आदि तक शुभ हैं। परन्तु ऐरिस्टीपस यह मानता है कि जिन सुखों का परिणाम दुख हो वे अवश्य त्याज्य हैं। सुख के परिणाम के अनुसार किसी कर्म, ज्ञान, संस्कृति अथवा विवेक का नैतिक महत्व है।

आलोचना :—एरिस्टीपस प्रथम विचारक था जिसने कि जड़वाद को आदर्श बनाया। अतः उसके सिद्धान्त में एक आन्तरिक विरोध विद्यमान है। एक ओर तो वह भविष्य की चिन्ता न करके लांछन उठाकर भी तीव्रतम सुख की प्राप्ति का उपदेश देता है और दूसरी ओर वह यह भी कहता है कि सुख की प्राप्ति के लिये विवेक से काम लेना आवश्यक है। एक ओर वह कहता है कि अधिक से अधिक शारीरिक सुख भोग करना ही बुद्धिमानी है और दूसरी ओर यह भी कहता है कि मनुष्य को अपनी आन्तरिक स्वतन्त्रता कभी भी न खोनी चाहिए। एक ओर उद्वेग और उत्तेजना विहीन जीवन को नीचा कहा गया है और दूसरी ओर एरिस्टीपस का कहना है कि सुखभोग के बीच भी मनुष्य को कभी भी बौद्धिक दृढ़ता न खोनी चाहिये। एक ओर तो वह मनुष्य को चिन्तन शून्य जीव मानते हुए इन्द्रिय सुख को जीवन का ध्येय बतलाता है और दूसरी ओर सुख प्राप्ति के हेतु बुद्धि को आवश्यक बतलाता है।

वास्तव में एरिस्टीपस का सिद्धान्त नैतिक सन्देहवाद पर आधारित है जो कि जड़वाद का नैसर्गिक परिणाम है। जड़वादी के अनुसार आत्मा नहीं है, शरीर क्षणभंगुर है, कर्मवाद मिथ्या है, कोई नैतिक नियम शाश्वत नहीं है। ईश्वर का

अस्तित्व नहीं है। सब कुछ जड़ है। अतः चिन्ता छोड़कर वर्तमान समय में सुख भोग करना ही बुद्धिमानी है। परन्तु जड़वाद के विरुद्ध दार्शनिक संसार में बहुत कुछ कहा जा चुका है। अब तो वैज्ञानिक तक जडवाद को नहीं मानते। अतः जडवाद पर आधारित कोई भी सिद्धान्त उपयुक्त नहीं हो सकता। दूसरे कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति भविष्य की चिन्ता छोड़कर वर्तमान दशा में मग्न रहना नही चाहेगा क्योंकि न चाहने पर भी वर्तमान के बाद भविष्य तो आएगा ही। अतः भविष्य के परिणाम को भूलकर वर्तमान मे चाहे जो कुछ करना भारी मूर्खता होगी। स्वयं एरिस्टीपस भी बुद्धि के महत्व को स्वीकार करता है परन्तु फिर बौद्धिक सुख को क्यो न शारीरिक सुख से श्रेष्ठ माना जाय। तीसरे शारीरिक सुख तीव्र हो सकता है परन्तु अधिक स्थायी तो मानसिक और आध्यात्मिक सुख ही होता है अतः कौन-सा सुख अधिक श्रेष्ठ है। चौथे मनुष्य मे स्वार्थ के समान ही परार्थ की भावना भी उतनी ही स्वाभाविक है। सुख मिलने पर भी कोई भी बौद्धिक मनुष्य पशु का जीवन व्यतीत करना नहीं चाहेगा। वास्तव में सिरेनैक्स का सिद्धान्त नितान्त विचार शून्य, निराशावादी, स्वार्थपूर्ण, अपरिमार्जित और अनैतिक है।

एपीक्यूरिआनिज्म (Epicurianism) :—एरिस्टीपस के विरुद्ध एपीक्यूरस ने संस्कृत सुखवाद की स्थापना की। उसका सिद्धान्त उसी के नाम से प्रचलित है। मानव मनोविज्ञान के विषय मे एरिस्टीपस और एपीक्यूरस की मान्यताओ में अन्तर था। यद्यपि दोनो ही यह मानते थे कि मनुष्य स्वभावतः ही सुख की खोज करता है परन्तु एपीक्यूरस ने इस बात पर जोर दिया कि मनुष्य पशु से भिन्न है। वह आत्म चेतन प्राणी है। उसमें बुद्धि है। अतः वह आगे पीछे की सोचता है। वह इन्द्रिय सुखो के लिये आत्मा की हत्या नही कर सकता। वह क्षणिक वर्तमान सुख के लिये भूत और भविष्य को नही भुला सकता। उसका जीवन केवल ऐन्द्रिक संवेदनाओ का जीवन नहीं है। उसमे मानसिक और बौद्धिक प्रवृत्तियाँ भी हैं। उनका सुख भी उसका सुख है बल्कि उनका सुख शारीरिक सुख से श्रेष्ठ है। मनुष्य पशु के समान निरुद्देश्य, व्यवस्थित और आवेगपूर्ण जीवन व्यतीत करना पसन्द नही करेगा। वह शान्त सुख चाहता है। उसकी बुद्धि उसे बतलाती है कि स्वच्छन्द उपयोग से स्वास्थ्य का नाश होता है तथा सयम से आत्मिक शान्ति मिलती है। असंतोष से बचने के लिए इच्छाओ को कम करना आवश्यक है क्योंकि सभी इच्छाओ की पूर्ति नही की जा सकती। एपीक्यूरस ने इच्छाओ का वर्गीकरण किया है प्राकृतिक, अनिवार्य, अनावश्यक और अर्थशून्य इत्यादि। उन्ही इच्छाओ की पूर्ति करना चाहिये जो कि स्वास्थ्यवर्द्धक और शान्तिदायक है। निष्क्रियता का सुख जीवन की हलचल से श्रेष्ठ है। उससे स्थायी शान्ति मिलती है।

इस प्रकार एपीक्यूरस ने सुख के दो भेद माने, एन्द्रिक सुख और बौद्धिक सुख तथा एरिस्टीपस के विरुद्ध बौद्धिक सुख को ऐन्द्रिक सुख से श्रेष्ठ माना। इन्द्रिय

सुख सक्रिय, प्रत्यक्ष, सजीव, तीव्र और क्षणिक है। बौद्धिक सुख शान्त, गंभीर और चिरस्थायी है। सुख का मानदंड उसकी तीव्रता नहीं वल्कि उसकी दीर्घता, स्थिरता तथा दुःख शून्यता है। शारीरिक दुख के अभाव और मानसिक शान्ति से ही जीवन सुखी हो सकता है। बौद्धिक सुख शारीरिक सुख से श्रेष्ठ है क्योंकि वह वर्तमान ही नहीं वल्कि भविष्य में भी सुख देता है। अतः एपीक्यूरस ने सस्ती इन्द्रियपरायणता की कटु आलोचना की। हलचल का जीवन सुखी जीवन नहीं है। शान्त एकरस जीवन ही यथार्थ रूप में आदर्श जीवन है। यह मानसिक सुख का जीवन है।

ऐसे शान्त जीवन की प्राप्ति के लिये मृत्यु, नरक, कर्मफल आदि के भय से मुक्ति आवश्यक है। स्थू। सुखवाद को डेमोक्रिटस के अणुवाद पर आधारित करके एपीक्यूरस मनुष्य को भयमुक्त करने की चेष्टा करता है। अणुवाद के अनुसार ईश्वर जगत का निर्माता नहीं है। जगत् अणुओं का संघटन मात्र है मृत्यु और अंणुओं का विघटन। मृत्यु से भय का कारण नहीं है। परलोक का अस्तित्व नहीं है। एपीक्यूरस के अनुसार देवता हैं परन्तु संसार के कार्यों में उनका कोई हाथ नही है अतः उनसे डरने का कोई कारण नहीं।

सुखी जीवन के लिये एपीक्यूरस सद्गुणों को आवश्यक मानता है। उनमें भी व्यवसायिक बुद्धि (Prudence) सर्वश्रेष्ठ और वांछनीय है। वही सुखी जीवन का मार्ग दर्शन कर सकती है। संयम, न्याय, सद्भाव, मैत्री इत्यादि गुणो से जीवन का सुख बढ़ता है। अन्याय इत्यादि से मनुष्य सदैव दुखी रहता है। प्लेटो और अरस्तू के समान एपीक्यूरस बुद्धि को सुखी जीवन का मार्गदर्शक मानता है। जीवन के ध्येय सुख की प्राप्ति के लिये व्यवसायिक बुद्धि ही एकमात्र साधन है। बुद्धि भविष्य में अधिक सुख मिलने की संभावना के सन्मुख वर्तमान क्षणभंगुर सुख को त्याग करने की शिक्षा देती है। उसके लिये दुख रहित होना श्रेय सुख की पहली शर्त है। इस प्रकार एपीक्यूरस ने सिरेनैक्स के सुखवाद का सुकरात की विवेक बुद्धि से सामंजस्य किया।

आलोचना :—१. एपीक्यूरस का सिद्धान्त निसन्देह रूप से सिरेनैक्स से श्रेष्ठ है। उसने एरिस्टीपस के स्थूल सुखवाद को सुसंस्कृत रूप दिया और बौद्धिक सुख को शारीरिक सुख से श्रेष्ठ माना। उसने बुद्धि को मानव जीवन का निर्देशक माना और क्षणिक सुख के स्थान पर स्थायी आनन्दपूर्ण जीवन को परम शुभ माना। परन्तु सद्गुणों को सुखी जीवन का साधन मात्र मानने से उसका सिद्धान्त भी विलासिता के स्तर पर आ जाता है। इसी प्रकार बौद्धिक सुख स्वय शुभ अथवा लक्ष्य न होकर सुखी जीवन का साधनमात्र है।

२. नैतिक जीवन निष्क्रिय जीवन नहीं है। एपीक्यूरस के अनुसार वास्तविक सुख दुख से मुक्ति है। इस प्रकार सुख एक निषेधात्मक अनुभूति है। अतः हलचल के जीवन से शान्त जीवन श्रेष्ठ है। नैतिक आदर्श वेदनाशून्य जीवन है। मनुष्य

को तटस्थ रहने का अभ्यास करना चाहिये। उसे सुख दुख दोनों के प्रति उदासीन रहना चाहिए। इस प्रकार एपीक्यूरस निष्क्रियता को प्रोत्साहित करता है। परन्तु वह यह भूल जाता है कि कर्म ही नैतिकता का आधार है। वह मानसिक शान्ति पर अत्यधिक जोर देता है।

२. स्वार्थमय आनन्द कभी भी सर्वोच्च शुभ नहीं हो सकता। आत्मत्याग आत्मरक्षा के समान ही मौलिक है। स्वार्थमय अनुभूतियों से सामाजिक भावनाओं की उत्पत्ति नहीं हो सकती। परोपकारी प्रवृत्तियों का भी मानव स्वभाव में उतना ही स्थान है।

३. व्यवसायिक बुद्धि पर आधारित नैतिकता सच्ची नैतिकता नही है। वह व्यवहारशास्त्र मात्र है। सुख प्राप्ति के साधन रूप में सदगुण यथार्थ सदगुण नहीं है। सच्ची नैतिकता निस्वार्थ और कर्तव्य भावना से प्रेरित होती है। उसका आधार शुद्ध बुद्धि है व्यवसायिक बुद्धि नहीं। नैतिकता स्वयं साध्य है वह किसी परिणाम पर निर्भर नहीं।

४. स्वार्थवादी सुखवाद से किसी प्रकार का सार्वभौम सिद्धान्त नहीं निकल सकता। जो वस्तु एक को सुख देती है वह दूसरे को दुख दे सकती है। यदि सुख ही ध्येय होगा तो फिर कोई भी नियम सर्वसाधारण नही हो सकता।

५. मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित होने के कारण स्वार्थवादी सुखवाद में मनोवैज्ञानिक सुखवाद के समस्त दोष आ गए हैं। (इन दोषो के विस्तृत विवेचन के लिये अगले प्रश्न का उत्तर देखिये)।

३. **चार्वाक नीति :**—भारत के चार्वाक मत के अनुयायी सुख को ही परम शुभ मानते हैं। उनका सिद्धान्त है "यावज्जवेत् सुखं जीवेत् ऋण कृत्वा घृत पिवेत।" इन्द्रिय सुख ही सर्व श्रेष्ठ सुख है। सुख में बहुधा दुख भी मिला रहता हैं परन्तु जैसे कोई भूमि के कारण अनाज को नही छोड़ता उसी प्रकार दुख के कारण सुख को नही छोड़ा जा सकता। मनुष्य को यह चेष्टा करनी चाहिए कि दुख की माया कम से कम हो। उसे अपने इसी जीवन में अधिक से अधिक सुख भोग की चेष्टा करनी चाहिये क्योकि परलोक कपोल कल्पना मात्र है। स्वर्ग और नरक की बातें धूर्तों ने भोले-भाले लोगों को फँसाने के लिये रची है। यज्ञादिक सब व्यर्थ है। सुख ही शुभाशुभ का निर्णायक है। जिस कार्य से सुख हो वह शुभ और जिससे दुख हो वह अशुभ होता है। सद्गुण अथवा मोक्ष मानव जीवन का लक्ष्य नहीं हैं। चार्वाक का मत सिरेनैक सम्प्रदाय के मत से मिलता जुलता है। वे शारीरिक स्थूल सुख को अध्यात्मिक सुख से अधिक श्रेष्ठ मानते हैं क्योकि वह अधिक तीव्र होता है। उनके अनुसार अर्थ और काम ही साध्य हैं। धर्म और मोक्ष व्यर्थ के ढकोसले हैं। सुख अथवा काम परम साध्य है। अर्थ काम का साधन है। वर्तमान हमारे हाथ में है, भविष्य अनिश्चित है। अतः खाना, पीना और मौज

उड़ाना ही परम-कर्तव्य है क्योंकि कल तो सभी को मरना है। मनुष्य को व्यक्तिगत और क्षणिक सुखों में अपने आप को मग्न कर देना चाहिये। शरीर के भस्म होने पर आत्मा भी मर जाती है। प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। पुर्नजन्म नहीं होता।

आलोचना :—१. चार्वाक मत ने जीवन के भावनात्मक पक्ष पर बल दिया जीवन मे अर्थ और काम के महत्व से किसी को भी इन्कार नहीं हो सकता परन्तु धर्म और मोक्ष को छोड़कर चार्वाक एकांगी हो जाता है।

२. चार्वाक नीति कोई नीति ही नहीं है। यह यथार्थ का पोषण करती और आदर्श की अवहेलना करती है। यह मानवीय और बौद्धिक गुणों का तिरष्कार करके पाशविक गुणों का समर्थन करती है। यह मत स्थूल और अपरिष्कृत है।

३. यह मत घोर स्वार्थवादी है। नीतिशास्त्र को स्वार्थ और परार्थ में सामञ्जस्य करना चाहिए। यह व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों पर आधारित न होने के कारण अव्यवहारिक है।

४. चार्वाक मत अबौद्धिक और संवेदनात्मक है। स्थूल सुखवाद के विरुद्ध सभी तर्क इस पर लागू होते हैं।

(विस्तृत आलोचना के लिये सिरनैक का आलोचना देखिये)।

Q 2. What is Hedonism ? Distinguish between psycho logical and ethical Hedonism. Does the later follow from the former ? (Agra 1939).

प्र० २. सुखवाद क्या है ? मनोवैज्ञानिक सुखवाद व नैतिक सुखवाद का भेद बतलाइये। क्या नैतिक सुखवाद मनोवैज्ञानिक सुखवाद से निकलता है ?

उत्तर :—सुखवाद उन सिद्धान्तों को कहते है जो कि सुख को ही परम श्रेय मानते हैं। यह यूनानी शब्द हीडॉन (Hedone) से लिया गया है। हीडौन के अर्थ होते हैं सुख अतः हीडेनिज्म या सुखवाद वे सिद्धान्त हैं जो सुख को जीवन का ध्येय मानते हैं। सुखवादी आत्मा को वासना प्रधान मानते हैं। यह उनके सिद्धान्त का अध्यात्मिक आधार है। आत्मा मूल प्रवृत्तियों, अनुभूतियो, संवेदनाओ और वस्तुओं की शृंखला मात्र है। बुद्धि केवल वासनाओं की सन्तुष्ट करने का साधन है। जैसा कि ह्यूम (Hume) ने कहा "बुद्धि वासनाओ की दास है और वही उसको होना चाहिये।" अतः निम्न वासनाओं की तृप्ति ही मानव का एक मात्र कर्तव्य है। बुद्धि इस कार्य मे उसकी सहायक है। सुखवादी अपने को सुकरात का अनुयायी मानते हैं परन्तु उन्होने उसके जीवन के ध्येय आनन्द को सुख मान लिया। उनके अनुसार सुखदायक कर्म, प्रेरणा और प्रवृत्ति शुभ है; और दुखदायक अशुभ। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सुखवादी सिद्धान्त इस धारणा पर आधारित है कि

मनुष्य स्वभावतः ही सुख की खोज करता करता है। बाकी सभी वस्तुएँ उसके सन्मुख सुख की खोज मे साधन हैं। सुख ही हमारी इच्छाओ का लक्ष्य है।

सैद्धान्तिक रूप से सुखवाद के दो भेद हैं :—मनोवैज्ञानिक और नैतिक। मनोवैज्ञानिक सुखवाद तथ्यात्मक है नैतिक सुखवाद आदर्शात्मक है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद मनुष्यो के स्वभाव का वर्णन करता है। उसका कहना है कि मनुष्य स्वभावतः ही सुख की खोज करता है। नैतिक सुखवाद के अनुसार हमारा परम श्रेय सुख है। उसका कहना है कि मनुष्य को सुख की खोज करनी चाहिये।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद से नैतिक सुखवाद नही निकलता। मैकेन्जी ने यथार्थ ही कहा है कि नैतिक सुखवाद का मनोवैज्ञानिक सुखवाद से सामजस्य नही हो सकता है। कोई भी तथ्यात्मक निर्णय किसी नैतिक निर्णय का आधार नहीं हो सकता। नीतिशास्त्र कोई तथ्यात्मक या वर्णनात्मक विज्ञान नही है। उसको इस बात से कोई तात्पर्य नहीं कि मनुष्य क्या चाहता है। वह तो नियामक विज्ञान है। उसका लक्ष्य यह खोज करना है कि मनुष्य का आदर्श क्या होना चाहिये। उसका सम्बन्ध केवल आदर्शों से ही है। नैतिक नियम सार्वभौम नियम है। वे सभी देश काल में सभी मनुष्यों के लिये एक से हैं। परन्तु तथ्यात्मक निर्णय सार्वभौम नही हो सकते। वे अपनी परिस्थितियों पर आधारित होते हैं। मनोवैज्ञानिक सुखवाद का केवल एक अर्थ मे नैतिक सुखवाद से सामजस्य किया जा सकता है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद का अर्थ यह लिया जाय कि हम किसी न किसी प्रकार का सुख खोजते हैं और नैतिक सुखवाद का अर्थ यह लिया जाय कि हमें अपना सर्वोच्च सुख खोज करना चाहिये। परन्तु यदि यह कहा जाय कि मनुष्य स्वभावतः ही सुख की खोज करता है तो फिर इस वाक्य का कोई अर्थ नहीं होगा कि उसको सुख की खोज करनी चाहिये। ग्रीन (Green) के शब्दो मे, "एक व्यक्ति जो कि केवल प्राकृतिक शक्तियो का परिणाम है उसे नैतिक नियमों का पालन करने का आदेश देना निरर्थक है।" तर्क के आधार पर नैतिक सुखवाद का मनोवैज्ञानिक सुखवाद से कोई सम्बन्ध नही है।

Q. 3. Distinguish between Psychological Hedonism and Ethical Hedonism. Give a critical estimate of Psychogical Hedonism. (Agra 52).

प्र० ३. मनोवैज्ञानिक सुखवाद और नैतिक सुखवाद में भेद कीजिए। मनोवैज्ञानिक सुखवाद की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

Q. 4. Critically discuss the theory of Psychological Hedonism.

प्र० ४. मनोवैज्ञानिक सुखवाद का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।

उत्तर :—मनोवैज्ञानिक सुखवाद के अनुसार मनुष्य स्वभाव से ही सुख की खोज करता है। वेन्थम के शब्दों में "प्रकृति ने मनुष्य को सुख और दुख नामक दो सर्वशक्तिमान स्वामियों के अधीन रख दिया है। उनको ही यह संकेत करना है कि हमें क्या करना चाहिये और हम क्या करेंगे।" प्रत्येक व्यक्ति उसी वस्तु को चाहता है—जो उसे सुख देती है और उसे केवल सुख के लिये ही चाहता है। वस्तुएँ स्वयं साध्य नहीं है बल्कि सुख की साधन मात्र हैं। सुख ही हमारी इच्छाओं का स्वाभाविक लक्ष्य है। सिरेनैक्स और एपीक्यूरिअन्स भी इसी मत का समर्थन करते हैं। मिल के अनुसार "किसी वस्तु की इच्छा करना और उसको सुखदायक पाना, उससे भागना और उसको दुख मय समझना सर्वथा अपृथक तथ्य हैं अथवा एक ही तथ्य के दो रूप हैं। एक वस्तु को वांछनीय समझना और उसको सुखकर समझना, एक ही और वही बात है। किसी वस्तु को उसके विचार के सुखकर होने के अनुपात के अतिरिक्त चाहना एक भौतिक और आध्यात्मिक असंभावना है।" इस प्रकार वेन्थम के समान मिल भी सुख को ही एक मात्र श्रेय समझते हैं। मिल ने तो ज्ञान, सौन्दर्य व धर्म तक को सुख का साधन मात्र माना है।

आलोचना :—१. यह सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक नहीं है। सुख की भावना का कर्म का प्रवर्तक मानना भारी भूल है। सुख तो इच्छा पूर्ति का परिणाम है न कि उसका प्रेरक। साधारणतः मनुष्य किसी वस्तु को चाहता है और मनचाही वस्तु के मिल जाने पर उसको सुख होता है। यह वस्तुएँ उसके स्वभाव के अनुरूप होती हैं और परिणाम स्वरूप दुख मिलने पर भी वह उन्हीं की खोज में रत रहता है। यथार्थ रूप में मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया इस प्रकार है—

१. कमी की अनुभूति २. वस्तु की इच्छा ३. वस्तु की प्राप्ति ४. सुखानुभूति। भूखे मनुष्य को खाना चाहिये खाने के बाद की सुखानुभूति नहीं। सुख की इच्छा करना और इच्छित वस्तु की खोज करना दो भिन्न बातें हैं। रैशडल के शब्दों में "सभी इच्छाओं की संतुष्टि में निसंदेह सुख है। परन्तु यह इस बात से बिल्कुल भिन्न बात है कि वस्तु की इसलिए इच्छा की जाती है क्योंकि वह सुखकर समझी जाती है अथवा उस अनुपात में इच्छा की जाती है जिसमें वह सुखकर समझी जाती है। सुखवादी मनोविज्ञान में क्रम भंग (Hysteron Proteron) दोष है। वह गाड़ी के घोड़े के आगे रख देता है। वास्तव में कल्पित सुखदायकता इच्छा से उत्पन्न होती है, इच्छा कल्पित सुखदायकता से नहीं उत्पन्न होती।

२. मनोवैज्ञानिक सुखवाद सुख का विचार (Idea of Pleasure) और सुखकर विचार (Pleasant Idea) में भेद नहीं करता। वांछित वस्तु का विचार सुखकर अवश्य होता है। परन्तु वह सुख नहीं होता। चुनी हुई वस्तु सदैव सुखकर होती है परन्तु मनुष्य सदैव सुख को नहीं चुनता। मनुष्य किसी वस्तु को

इसलिये चुनता है क्योंकि उस वस्तु की उसके व्यक्तित्व से एक रूपता है। सुख कर्म का सक्रिय कारण (Efficient Cause) अवश्य है परन्तु वह चुनाव का मूल कारण (Final Cause) नहीं। चुनाव का कुछ वस्तुगत मूल्य भी है। वस्तु स्वयं भी साध्य है केवल सुख प्राप्ति का साधन मात्र ही नहीं है।

३. यह बात इस तथ्य से और भी अधिक स्पष्ट हो जायगी कि इच्छाएँ तृप्ति से पहले होती है। बटलर (Butler) का कहना है कि कुछ वस्तुओं की इच्छाओ की इच्छाओं के अभाव में बहुत प्रकार के सुखों का अस्तित्व भी नहीं रहेगा। परोपकारी को परोपकार करने से सुख मिलता है परन्तु उसकी इच्छा का लक्ष्य परोपकार है सुख नहीं। मैकेन्जी के शब्दो मे "कुछ इच्छाओं के तृप्त होने पर सुख होता है और इच्छाएँ तृप्ति से पूर्व होनी चाहिये।" इस प्रकार कम से कम यह तो मानना ही पड़ेगा कि कुछ इच्छाएँ तो अवश्य ही सुख की इच्छाएँ नहीं हैं।

४. सुख (Pleasure) शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं। १. सुखानुभूति २. सुखदायक वस्तु। अतः वस्तु के अर्थ में निश्चय ही हम सदैव सुख की खोज करते हैं अर्थात् उन वस्तुओ की खोज करते हैं जिनकी प्राप्ति पर हमें सुख मिलता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि हम सुखानुभूति की खोज करते हैं। माता बच्चे को गोद मे इसलिये नहीं लेना चाहती कि वह कोमल और उष्ण है अथवा उसे उससे सुखानुभूति होती है बल्कि इसलिये कि वह बच्चे को प्यार करती है। मैकेन्जी के शब्दों में "यह तथ्य कि हम सुख (वस्तुएँ) चाहते हैं इस बात का प्रमाण नहीं है कि हम सुख (अनुभूति) चाहते हैं।"

५. सुखवाद में विरोध सिज्विक (Sidwick) के अनुसार, "यदि सुख की ओर प्रवृत्ति अत्यधिक बलवती होगी तो उसका लक्ष्य ही निरर्थक हो जायगा। "सुख पाने की जितनी ही अधिक आतुरता होगी उतना ही कम सुख मिलेगा। इसी सत्य को मिल ने यह कहकर समझाया है कि वही व्यक्ति सुखी है जिसका मन सुख के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु पर केन्दित है। एरिस्टीपस का सिद्धान्त निराशावाद बन कर रह गया। एपीक्यूरस ने सुख दुख के प्रति तटस्थ रहने अथवा दुखों को कम करने के लिये इच्छाओ को ही कम करने का उपदेश दिया। सुखवाद के इस आन्तरिक विरोध को मैकेन्जी इस प्रकार समझाता है, "यदि हम सुख भी चाहते हो तो उसको पाने का सर्वोत्तम तरीका बहुधा उसको भूल जाना ही है। यदि हम स्वयं सुख के विषय में ही सोचते हैं तो हम लगभग निश्चय ही उसको खो देगें, दूसरी ओर यदि हम अपनी इच्छाओं को वस्तुगत साध्यो की ओर मोड़ते हैं तो सुख स्वयं आता है।" यह सुखवादी विरोध सभी सुखो के विषय में सत्य नहीं है परन्तु फिर भी पूर्ण तृप्ति के लिये कुछ न कुछ निष्काम भाव अत्यन्त आवश्यक है।

उदाहरणार्थ यदि आप सिनेमा देख रहे हो तो उस समय सिनेमा देखने में ही ध्यान लगाने से सुख मिलेगा सिनेमा देखने के सुख पर ध्यान रखने से नहीं।

रैशडल ने यह संकेत किया है कि यह सुखवादी विरोध अतिशयोक्ति पूर्ण है "अनुभव यह नहीं बतलाता कि पहले से ही प्रस्तुत होने अथवा आयोजित होने पर सुख कम हो जाता है। मैं यह नहीं पाता कि मेरे स्वयं आज्ञा देने पर परोसा हुआ भोजन किसी अन्य के द्वारा आज्ञा दिये जाने पर परोसे हुए भोजन से सदैव कम सुख देता है। कुछ परिस्थितियो में पूर्व आयोजन प्रसन्नता को बढ़ा देता है।" एक अन्य उदाहरण मे यदि आप इसलिये कोई सिनेमा शो देखने जाते हैं कि आपको उससे सुख होगा तो इस पूर्व आयोजित सुखानुभूति से आपका सुख कम नहीं होता। कहना न होगा कि सुखवाद का विरोध सुखों पर लागू नहीं होता। वह केवल ऐसी ही परिस्थिति में लागू होता जबकि किसी वस्तु से मिलने वाले सुख के विचार में उस वस्तु को ही भुला दिया जाय अथवा उसके वस्तुगत मूल्य को बिल्कुल न माना जाय।

६. मनोवैज्ञानिक सुखवाद जडवादी तत्व दर्शन पर आधारित है। इस तत्व दर्शन का पर्याप्त खडन किया जा चुका है। विज्ञान के क्षेत्र तक में जड़वाद का सिद्धान्त पुराना हो चुका है।

७. सुखवादियों ने अधिकतर सुख की एकांगी व्याख्या की है। केवल इन्द्रिय सुख ही एकमात्र सुख नहीं है नाही वह सर्वोत्तम सुख है। बौद्धिक और आध्यात्मिक सुख उससे कहीं अधिक स्थायी हैं। मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी है। उसका बौद्धिक विकास जितना ही अधिक होगा उतना ही अधिक वह बौद्धिक सुख के महत्व को समझता जाता है।

८. सुखवादियों ने बुद्धि के महत्व को तो समझा परन्तु उसको इन्द्रियों का दास बनाना चाहा। वस्तुतः बुद्धि को ही भावना का निर्देशन करना चाहिये। आदर्श सुखी जीवन बुद्धि और भावना के सुचारु सामंजस्य से प्राप्त हो सकता है।

९. सुखवादियों का सिद्धान्त असामाजिक और वैयक्तिक है। इन्द्रिय सुख को ध्येय मानकर मनुष्य नितान्त स्वार्थी हो जाता है। वेन्थम ने अधिकाधिक लोगों के सुख को श्रेष्ठ माना परन्तु दूसरी ओर सुख की तीव्रता पर जोर देकर मनुष्य को कुछ न कुछ सन्तुलन और त्याग की आवश्यकता है। सामाजिक व्यक्ति के सामने कर्तव्य पहले है सुखवाद में। तत्कालीन इन्द्रिय सुख में संलग्न रहने वाला व्यक्ति कभी सामाजिक नहीं हो सकता।

१०. सुखवाद अव्यावहारिक है। यदि सभी व्यक्ति अपना अपना सुख खोजेंगे तब उनके स्वार्थमय सुखों का दूसरों से संघर्ष होने की अवस्था में कोई हल नहीं सूझ सकता और उस संघर्ष की अवस्था में व्यक्तियों का सुख भी खतरे में पड जाएगा।

११. सुखवाद अनैतिक है। मेकेन्जी के शब्दो में स्वार्थ सुखवाद नैतिक चेतना के सन्मुख एक घृणित रूप प्रस्तुत करता है। सुखवाद व्यवसायिक बुद्धि का सिद्धान्त है। वह कोई आदर्श नहीं रखता। उसमें नैतिक "चाहिए" का कोई अर्थ नही। वह मनुष्य की बुद्धि को इन्द्रियों का दास बनाकर मानव को पशुत्व की ओर ले जाता है।

१२. सुखवाद कोई सार्वभौम सिद्धान्त नही दे सकता। सुख का कोई सार्वभौम मापदंड नही हो सकता। सुखवाद के आधार पर सुख का मूल्य उसकी तीव्रता से आँका जा सकता है परन्तु तीव्रता कैसे आँका जाएगा? सुख व्यक्ति के चरित्र, परिस्थिति और मानसिक स्थिति पर निर्भर है। एक ही वस्तु एक को सुख देती है दूसरे को दुख। तथा एक ही वस्तु एक समय दुख देती है और दूसरे समय सुख। सुखवाद के अनुसार सुखो में कोई मूल्य भेद नही है। कुछ सुखवादियो ने गुणात्मक भेद भी माना है परन्तु फिर वे सुखवादी नही रहते क्योंकि फिर सुख नही बल्कि बुद्धि ही मूल्य की कसौटी बन जाती है।

१३. वैराग्यवाद से मुकाबला करने पर सुखवाद का मूल्य समझ मे आता है। वैराग्यवाद जीवन के कठोर और खुश्क पक्ष को सामने रखता है। सुखवाद ने भावनाओं और प्रवृत्तियो के मूल्य को समझाया। परन्तु दोनो ही एकांगी है। मिलकर दोनों सिद्धान्त एक दूसरे के पूरक हैं। सुखवाद का पूर्णतावाद के प्रकाश में रूपान्तर करने की आवश्यकता है।

Q. 5. Critically discuss the utilitarianism of Bentham.

प्र० ५. बेन्थम के उपयोगितावाद की आलोचनात्मक विवेचना कीजिये।

उत्तर :—बेन्थम ने अपने नैतिक सिद्धान्त में मनोवैज्ञानिक सुखवाद और नैतिक सुखवाद का सामंजस्य करने की चेष्टा की है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "Principles of Morals and Legislation" के प्रारंभ में ही वह कहता है कि "प्रकृति ने मनुष्य जाति को दुख और सुख, इन दो सर्व शक्तिमान शासको की अधीनता में रख दिया है। उनको ही यह निर्देश करना है कि हमको क्या करना चाहिये और हम क्या करेंगे।" इस कथन में प्रथम पंक्ति मनोवैज्ञानिक सुखवाद का समर्थन करती है और दूसरी उस पर आधारित नैतिक सुखवाद की स्थापना करती है। अतः बेन्थम के अनुसार मनुष्य सदैव सुख की प्राप्ति और दुखों का निवारण चाहता है और यही उसका नैतिक कर्तव्य भी है।

मानव का स्वाभाविक स्वार्थ—बेन्थम मनुष्य को स्वभावतः स्वार्थी मानता है। उसके अनुसार "अपने लिये सुख का अधिकांश भाग प्राप्त करना प्रत्येक बौद्धिक प्राणी का लक्ष्य है। प्रत्येक मनुष्य किसी अन्य मनुष्य की अपेक्षा अपने अधिक निकट है और कोई भी मनुष्य उसके लिये उसके सुख दुख को नही तौल

सकता ।" सभी प्रकार के परोपकार के पीछे मनुष्य का कोई न कोई स्वार्थ रहता है। मनुष्य परोपकार तभी करता है जब उसे उसमें अपना लाभ नजर आता है। बेन्थम के शब्दों में यह स्वप्न मत देखो कि मनुष्य अपनी छोटी उँगली भी तुम्हारे लिये हिलाएँगे जब तक कि ऐसा करने में उनका अपना स्वार्थ उनको स्पष्ट नहीं होगा। मनुष्यों ने ऐसा कभी नहीं किया और जब तक मानव स्वभाव वर्तमान तत्वों से बना है तब तक वे कभी ऐसा नहीं करेंगे। परन्तु वे तुम्हारी सेवा करने की इच्छा करेंगे जब कि ऐसा करने से वे अपनी सेवा कर सकते हों। बेन्थम के अनुसार मनुष्य की सभी प्रेरणाओं के मूल में आत्मवरण (Self Preference) का सिद्धान्त है। सुख दुख के अर्थों में ही कर्तव्य, नियम और सद्गुण आदि का महत्व है।

परार्थवादी सुखवाद—परन्तु मानव को स्वार्थी मानते हुए भी बेन्थम परार्थवादी है। उसके अनुसार "अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख" ही सर्वोच्च नैतिक आदर्श है। व्यक्ति का ध्येय मनुष्य मात्र का अधिकतम सुख खोजना होना चाहिये। जीवन का लक्ष्य सामाजिक सुख है वैयक्तिक सुख नहीं। नैतिकता का मानदण्ड सामूहिक सुख है। जाति, कर्म और अन्य भेद मिथ्या हैं। वही सुख शुभ है जो सर्वकल्याणकारी है। परन्तु इस सर्वकल्याणकारी सुख में व्यक्ति का सुख खो नहीं जाता बल्कि समान और निष्पक्ष रूप से सुरक्षित रहता है। इस प्रकार बेन्थम समानता या निष्पक्षता के सिद्धान्त (Principle of equity or impartiality) को स्वीकार करता है।

उपयोगितावाद:—बेन्थम उपयोगितावादी है। इसी सिद्धान्त के आधार पर वह परार्थवादी सुखवाद का समर्थन करता है। "उपयोगितावाद के सिद्धान्त से तात्पर्य उस सिद्धान्त से है जो कि प्रत्येक कर्म को उस प्रवृत्ति के अनुसार स्वीकार अथवा अस्वीकार करता है जो कि उन लोगों के सुख-दुख का ह्रास अथवा विकास करती प्रतीत होती हैं जिनका स्वार्थ उससे सम्बद्ध है।" अतः उपयोगिता ही नैतिकता का मापदंड है। वही कर्मों की वास्तविक परम प्रेरक है। परन्तु बेन्थम का यह उपयोगिताद असस्कृत है क्योंकि वह परिमाण ही को महत्वपूर्ण मानता है। उसके अनुसार गुण का प्रश्न निरर्थक है। परिमाण में समान होने पर सभी सुख समान हैं। बेन्थम के शब्दो में "सुख का परिमाण बराबर होने पर पुशिपन (एक खेल) उतना ही शुभ है जितना कविता।"

सुखवादी गणना (Hedonistic calculus):—यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि सुखों के परिमाण को कैसे मापा जा सकता है बेन्थम का विश्वास है कि सुखों को मापा जा सकता है। वह कहता है, "सुखों को तौलो और दुखो को तौलो और जो ठहरे वैसा ही उचित और अनुचित का प्रश्न ठहरता है।" बेन्थम एक ऐसा मापदंड चाहता था जो दृढ़ और ठोस हो, व्यक्तिगत विचार और भावनाओं से परे

हो। इस विवेचन में वह गणित के गणना के सिद्धान्त (mathematical calculas) से बहुत अधिक प्रभावित हुआ। उसका कहना था कि किसी कमरे की लम्बाई चौड़ाई और ऊँचाई के समान ही सुख को मापा जा सकता है। बेन्थम के पूर्व पैले (Paley) इत्यादि सुखवादियों ने परिमाण को मापने के लिये दो गुण माने थे दीर्घकालीनता और तीव्रता। बेन्थम ने इनके अलावा पाँच आयाम (dimensions) और माने। इस प्रकार उसके अनुसार सुख का परिमाण मापने के लिये सात आयामों को समझना आवश्यक है। तीव्रता (Intensity), दीर्घकालीनता (duration), सन्निकटता (nearness), निश्चितता (certainty). विशुद्धता (Purity) अर्थात् दुःखहीनता, उत्पादकता (fruitfulness) अर्थात् जिससे अन्य सुखों का भी उत्पादन हो और व्यापकता (extent) अर्थात् उससे लाभान्वित होने वाले व्यक्तियों की संख्या। ये सातों आयाम बेन्थम का सुखवादी गणना (Hedonistic calcules) अथवा नैतिक गणित (Moral Anthmetic) के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन सब आयामों से तोलकर हम किसी सुख के परिणाम की दूसरे सुख से तुलना कर सकते हैं और जो अधिक सुख दे वही शुभ है। यहाँ पर व्यापकता का आयाम बड़ा महत्वपूर्ण है क्योंकि इसको मानकर बेन्थम स्वार्थ से परार्थ पर पहुँच जाता है।

नैतिक अंकुश (Moral Sanctions)—परन्तु इस प्रकार स्वार्थ से परार्थ पर कैसे पहुँचा जा सकता है? यदि मनुष्य स्वभाव से ही स्वार्थी है तो फिर वह अधिक से अधिक लोगों का सुख क्या चाहेगा? वह दूसरों के सुख के लिये अपना सुख कैसे छोड़ सकता है? सामाजिक कर्तव्य करने मे कौन सा स्वार्थ हो सकता है? वैयक्तिक और सामाजिक सुख मे कोई सामंजस्य नहीं है। स्वार्थ और परमार्थ परस्पर विरुद्ध हैं। स्वयं बेन्थम के अनुसार बिना स्वार्थ के कोई भी व्यक्ति कोई कार्य नहीं करता। तो फिर बेन्थम स्वार्थ से परार्थ पर कैसे आता है? इस स्थानान्तरण को बेन्थम नैतिक अंकुश (Moral Sanctions) की कल्पना द्वारा समझाता है। उसके अनुसार ये नैतिक अंकुश चार प्रकार के हैं भौतिक अथवा प्राकृतिक अंकुश, राजनैतिक अंकुश, सामाजिक अंकुश और धार्मिक अथवा दैवी अंकुश। भौतिक अंकुश में प्राकृतिक नियमों का समावेश है जिनको न मानने से शारीरिक कष्ट होता है। इस प्रकार के अंकुश स्वास्थ्य के नियम हैं। आहार इत्यादि मे सन्तुलन रखना प्राकृतिक आदेश है। यदि हम उसका उल्लंघन करते हो तो नाना प्रकार के रोग शरीर मे घर कर लेते हैं। राजनैतिक अंकुश मे राज्य के कानून हैं जिनको तोड़ने पर व्यक्ति दंड का भागी होता है। राज्य के दंड का भय मनुष्यों को बहुत से सामाजिक अपराध करने से रोकता है और राज्य से सम्मान पाने के लोभ से वे बहुत से सामाजिक कार्य करते हैं। सामाजिक अंकुश में समाज के नियम हैं जिनके भंग करने पर समाज में बदनामी होती है और कभी-कभी बिरादरी से भी निकाल दिया

जाता है। समाज में परोपकारी व्यक्ति का नाम होता है और स्वार्थी की बदनामी। अतः समाज के भय से भी मनुष्य परार्थवादी बने रहते हैं। धार्मिक आदेशों में धर्म ग्रन्थों में दिये हुए नियम आते हैं जिनको पालन करने से स्वर्ग मिलता है और भंग करने से नरक। अतः धार्मिक अंकुश के कारण भी मनुष्य दान, सेवा, परोपकार इत्यादि में जुटे रहते हैं। इस प्रकार बाहरी आदेशों के दबाव से स्वार्थी मानव परोपकारी बना रहता है। वास्तव में वे वैयक्तिक सुख के लिये लाभदायक है, इसी कारण मनुष्य उनका पालन करता है। इस प्रकार उनसे वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही प्रकार के स्वार्थ सिद्ध होते हैं।

आलोचना :—१. बेन्थम का सुखवाद मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित है अतः उसमें मनोवैज्ञानिक सुखवाद के समस्त दोष आ गए हैं। (विस्तृत वर्णन के लिये पिछले प्रश्न के उत्तर को देखिये।)

२. स्वार्थ से परार्थ पर आने का कोई तरीका नहीं है। बेन्थम ने मनुष्य को स्वार्थी समझा और फिर उस पर परार्थ लादने की चेष्टा की परन्तु यदि स्वार्थ और परार्थ दो पूर्णतः विरोधी तत्व हैं तो उनमें सामंजस्य स्थापित करने के सभी प्रयत्न व्यर्थ हैं। शुद्ध स्वार्थ से परार्थ की उत्पत्ति असंभव है परन्तु फिर भी बेन्थम अपनी सुखवादी गणना में व्यापकता के आयाम को स्थान देता है। परन्तु स्वार्थ से इस प्रकार पदार्थ पर आने के लिये वह कोई तर्क पूर्ण युक्ति नहीं दे पाता।

३. नैतिक आदेशों को नैतिक कहना ही अनुचित है। नैतिक आदेश आन्तरिक आदेश हैं न कि वाह्य दबाव। दबाव से अथवा सुख या स्वार्थ लाभ की आशा से किया कोई भी कर्म नैतिक नहीं हो सकता। वह व्यवसायिक बुद्धि की प्रेरणामात्र हैं। उनमें किसी प्रकार की नैतिक वाध्यता नहीं है। बेन्थम व्यापकता के पक्ष में कोई भी सबल तर्क नहीं उपस्थित कर पाते।

४. सुखों में गुणात्मक भेद न मानकर बेन्थम ने अपने सुखवाद को स्थूल और इन्द्रियप्रेरक बना दिया है। केवल परिमाण-भेद को मानना सभी सुखों को एक ही स्तर पर रख देना है। इससे शारीरिक और मानसिक एवं आध्यात्मिक सभी सुख समान हो जाते हैं। इस पर आलोचकों ने इतनी आपत्ति की है कि कार्लाइल (Carlyle) ने तो उसको शूकर-दर्शन (Pig Philosophy) कह दिया है।

५. सुखवादी गणना नितान्त अव्यवहारिक है। सभी सुख व्यक्ति परिस्थिति और काल के अनुसार परिवर्तनशील हैं। जो वस्तु आज सुख देती है वही कल दुख देती है। जो वस्तु एक को सुखकर है वही दूसरे को दुखकर। इसके अतिरिक्त सुखानुभूति के समय सुख को मापा नहीं जा सकता और सुख की स्मृति मात्र के आधार पर उसको मापने से कोई ठीक बात नहीं जानी जा सकती। इसके अतिरिक्त विभिन्न आयामों में परस्पर विरोध होने पर फिर कौन-सा आयाम श्रेष्ठ माना जायगा। कोई भी सुख अधिक लोगों में बटने से उसकी तीव्रता कम हो जाती है।

ऐसी परिस्थिति में तीव्रता अधिक श्रेष्ठ है अथवा व्यापकता। बेन्थम के पास इन सब प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है।

६. व्यापकता का आयाम बेन्थम के स्वार्थवादी सुखवाद में एक विदेशी तत्व है। बेन्थम उपयोगितावादी अवश्य है परन्तु वह उपयोगितावाद को स्पष्ट नहीं कर पाता।

७. बेन्थम की मौलिक भूल स्वार्थ और परार्थ को परस्पर विरोधी मानने में है। परार्थ भी स्वार्थ के समान ही मानव-स्वभाव का सनातन गुण है। वह भी उतना ही स्वाभाविक है जितना स्वार्थ।

Q. 6. What are the main principles of utilitarianism? How is Mill's utilitarianism an improvment upon that of Bentham? (Alld. 56).

प्र० ६. परसुखवाद के मुख्य सिद्धान्त क्या हैं? मिल का परसुखवाद किस प्रकार बेन्थम के सुखवाद से श्रेष्ठ है?

Q 7. How did Mill modify the ethical theory of Bentham? Are such modifications hedonistcally justified? (Alld. 54).

प्र० ७. मिल ने बेन्थम के सिद्धान्त में कैसे संशोधन किया? क्या इस प्रकार के संशोधन का औचित्य सुखवाद के आधार पर सिद्ध किये जा सकता है?

Q. 8. Give Mill's proofs of his theory of utilitarianism and discuss their validity. What does he mean by the statement that it is better to be Socrates dissatisfied than a pig satisfied? (Agra 51).

प्र० ८. मिल के उपयोगितावादी सिद्धान्त के प्रमाण दीजिए और उनकी प्रामाणिकता को विवेचना कीजिए। एक सन्तुष्ट सुअर होने की अपेक्षा असंतुष्ट सुकरात होना अच्छा है—उसके इस कथन का क्या अर्थ है?

Q. 9. Give an outline of J. S. Mill's proofs of Hedonism and Altruism and discuss the soundness of his arguments.

प्र० ९. सुखवाद और परसुखवाद के पक्ष में दी गई मिल की युक्तियों की रूपरेखा दीजिये और उसके औचित्य की विवेचना कीजिये।

Q. 10. Give a critical estimate of Mill's utilitarianism.

प्र० १०. मिल के उपयोगितावाद का अलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिये।

उत्तर :—मिल ने अपने पिता जेम्स मिल और उसके मित्र बेन्थम के उपयोगितावाद का प्रचार किया। परन्तु दूसरी ओर वह सत्य की ओर भी जागरूक

रहा। इसी कारण उसके उपयोगितावाद में कुछ असंगतियाँ आ गईं। मिल ने उपयोगितावाद की व्याख्या इस प्रकार की है "वह मत जो कि उपयोगिता अथवा अधिकतम आनन्द के सिद्धान्त को नैतिकता का आधार मानता है तथा यह मानता है कि कर्म उसी अनुपात में उचित है जिसमे कि वे आनन्द उत्पन्न करने की ओर प्रवृत्त होते हैं और उस अनुपात मे अनुचित जिसमें कि वे आनन्द का उल्टा उत्पन्न करने की ओर प्रवृत्त होते हैं। आनन्द का तात्पर्य दुःख का अभाव और सुख है तथा आनन्द हीनता का अर्थ सुख का अभाव और दुःख।"

वेन्थम और मिल के सिद्धान्तों में अन्तर—

मिल के उपयोगितावाद की विशिष्टता :—उपयोगितावाद की इस व्याख्या को वेन्थम के सिद्धान्तों पर आधारित करने पर भी मिल का सिद्धान्त वेन्थम से भिन्न है। १. वेन्थम के अनुसार प्रवृत्तियों मे कोई भेद नहीं होता परन्तु मिल ने मानव प्रवृत्तियो मे वर्गीकरण किया और गुणभेद से कुछ को निम्न और कुछ को उच्च बतलाया। इस प्रकार बौद्धिक प्रवृत्तियाँ शारीरिक प्रवृत्तियों से कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं। २. इसी कारण उसने विभिन्न प्रकार के सुखों मे भी गुणात्मक भेद किया। वेन्थम के अनुसार सभी सुख एक ही प्रकार के हैं। यदि सुख का परिमाण सामान्य हो तो कविता और पुशिन के खेल मे कोई अन्तर नहीं। परन्तु इसके विरुद्ध मिल के अनुसार "एक सन्तुष्ट शूकर होने से एक असन्तुष्ट मानव होना कहीं अच्छा है, एक संतुष्ट मूर्ख होने से एक असतुष्ट सुकरात होना अधिक शुभ है।" अर्थात् केवल पशु प्रवृत्ति जन्य इन्द्रिय सुख ही सब कुछ नहीं है। मानसिक अथवा बौद्धिक सुख उससे कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं। ३. वास्तव मे वेन्थम और मिल की मानव की प्रकृति के सम्बन्ध मे भिन्न धारणाएँ थीं। वेन्थम ने मानव को पशु से अधिक कुछ नहीं समझा। उसके अनुसार मनुष्य सदैव सुख खोजता है। सुखों में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं हैं। मिल के अनुसार मानव निरापशु नहीं हैं। वह पशु से श्रेष्ठ है। उसमें बुद्धि है और बौद्धिक सुख इन्द्रिय सुख से श्रेष्ठ है। मानव की महत्ता उसकी बुद्धि में है। वह आँख मूँदकर सुख के पीछे नहीं भागता। वह सुखों मे गुणात्मक भेद करता है। ४. अतः वेन्थम और मिल के नैतिक सिद्धान्त भी भिन्न-भिन्न हो गए। वेन्थम के अनुसार मनुष्य को गुणात्मक-भेद किये बिना अधिकाधिक परिमाण में सुख देने वाले कर्म करने चाहिये। मिल के अनुसार मानव को पशु नहीं बनना है। उसकी मानवता मूल्यवान है। ऐन्द्रिक सुख का तिरष्कार करके भी मनुष्य बनना श्रेयस्कर है। मनुष्य का कर्तव्य उच्च गुणों एवं उच्च सुखों को प्राप्त करना है।

सुखवाद :—वेन्थम के समान मिल भी सुख को जीवन का परम लक्ष्य मानता है "आनन्द ही मानव क्रिया का एकमात्र लक्ष्य है।" सुख और दुख से मुक्ति ही लक्ष्य के रूप में एकमात्र वाँछनीय वस्तुएँ हैं। बाकी सब वस्तुएँ सुख की साधना के

हेतु साधन मात्र हैं। मिल सुख और आनन्द में कोई भेद नही करता। वह गुण, स्वास्थ्य आदर इत्यादि सभी को आनन्द का साधन मानता है। वह शुभ और अशुभ की सुखवादी व्याख्या करता है। जो कार्य सुखदायक है अथवा दुख से अधिक सुख देता है वही शुभ है। जो कार्य दुख अथवा सुख से अधिक दुख देता है वह अशुभ है।

मिल का सुखवाद मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद के पक्ष मे उसने निम्नलिखित तर्क दिया है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद का तर्क— "किसी वस्तु की इच्छा करना और उसको सुखदायक पाना, वास्तव मे एक ही मनोवैज्ञानिक तथ्य का नामकरण करने के दो रूप हैं। किसी वस्तु को वांछनीय समझना और उसको सुखदायक समझना एक ही और वही बात है। और किसी वस्तु को जिस अनुपात मे उसका विचार सुखद है उसको छोडकर किसी अन्य रूप में चाहना एक भौतिक और तात्विक असम्भावना है।" तात्पर्य यह है कि हम सदैव उसी वस्तु की इच्छा करते हैं जो सुखद हो। अतः हम सुख की ही इच्छा करते हैं।

मिल नैतिक सुखवाद का समर्थक है। वह नैतिक सुखवाद को बेन्थम की तरह मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित मानता है। इस नैतिक सुखवाद को सिद्ध करने को उसने निम्नलिखित तर्क दिया है—

नैतिक सुखवाद का तर्क—"किसी भी दृश्य (Visible) वस्तु को सिद्ध करने का एकमात्र यही प्रमाण हो सकता है कि लोग यथार्थ में उसको देखते हैं। कोई ध्वनि सुनाई पडती है, इसका एकमात्र प्रमाण यही है कि लोग उसे सुनते हैं। कोई भी वस्तु वाँछनीय है इसका एकमात्र प्रमाण यही है कि लोग यथार्थ मे उसकी इच्छा करते हैं।

परसुखवाद—मिल के अनुसार परम श्रेय वैयक्तिक सुख न होकर सामान्य सुख हैं। जो दूसरो के लिए सुखकर है वही व्यक्ति के लिए भी उचित है। सामान्य सुख ही नैतिक मानदड है। जिस इच्छा, कर्म या प्रेरणा से सामान्य सुख की वृद्धि होती है वह शुभ है और उसका उलटा अशुभ। "उपयोगितावाद का मानदंड कर्त्ता का सर्वाधिक आनन्द नही है बल्कि आनन्द मात्र का सर्वाधिक परिमाण है।" मिल के पूर्व बेन्थम ने भी सामान्य सुख को परम श्रेय माना था परन्तु बेन्थम अपने परसुखवाद को भली प्रकार नही समझा पाया नाही उसने उसके पक्ष मे युक्तियाँ प्रस्तुत की। परन्तु मिल ने उसको तर्क द्वारा पुष्ट करने की भी चेष्टा की। मिल यह मानता है कि "सामान्य अर्थ मे चरम लक्ष्य के प्रश्नो के लिए प्रमाण नही लागू हो सकते।" परन्तु वह परम सत्य को बुद्धिगम्य मानता है। अतः परसुखवाद को सिद्ध करने के हेतु वह निम्न तर्क उपस्थित करता है।

परसुखवाद का तर्क—"सर्वसाधारण का आनन्द वांछनीय है इसके लिए इसके अतिरिक्त कोई तर्क नही दिया जा सकता कि प्रत्येक व्यक्ति, जहाँ तक कि वह

उसको प्राप्य मानता है वहाँ तक स्वयं अपना ही आनन्द चाहता है। प्रत्येक व्यक्ति का आनन्द उसके लिए एक शुभ है और इसलिए सबका सुख सब व्यक्तियों के समुदाय के लिए शुभ है।"

मनोवैज्ञानिक प्रमाण—इसी बात को मिल ने मनोविज्ञान की सहायता से भी समझाया है। मनुष्य स्वार्थी है और सदैव अपना सुख प्राप्त करने की चेष्टा करता रहता है। प्रारम्भ में वह अपनी कष्ट की अनुभूति से छुटकारा पाने के लिए दूसरों से सहानुभूति रखता है और उनके कष्टों को दूर करने की चेष्टा करता है अथवा स्वार्थवश परोपकार करता है। इस प्रकार प्रारम्भ में सामाजिक सुख वैयक्तिक सुख का एक साधन मात्र रहता है। परन्तु विचार साहचर्य के नियम के अनुसार शीघ्र ही साधन साध्य बन जाता है। बारबार परोपकार करते हुए हम यह भूल जाते हैं कि वह एक साधन मात्र है और परोपकार, सहानुभूति, परसेवा इत्यादि स्वयं साध्य बन जाते हैं। इस प्रकार मनुष्य दूसरों के सुख में सुख मानने लगता है और स्वार्थ छोड़कर परार्थवाद पर आ जाता है। यह सहानुभूति मूलक सुखवाद (Sympathetic Hedonism) है। इस प्रकार मनुष्य के अपने जीवन में ही स्वार्थ से परार्थ, और आत्म-प्रेम से सहानुभूति एवं भाई चारे की भावना की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार प्रारम्भ में मनुष्य ने सुख प्राप्ति के लक्ष्य को लेकर सद्गुणों की साधना की। परन्तु कालान्तर में उसे सद्गुणों में ही सुख मिलने लगा। सद्गुण साध्य से साधन बन गए।

नैतिक अंकुश—(बाह्य और आन्तरिक)—परन्तु मिल परार्थ को स्वार्थ से उत्पन्न मानकर ही सन्तुष्ट नहीं होता। उसे स्वाभाविक बनाने के लिए आन्तरिक अंकुश की ओर संकेत करता है। बेन्थम के नैतिक अंकुशों को वह बाह्य अंकुश मानता है। उनके कारण होने वाले परार्थवादी कार्य भी अन्ततः स्वार्थ से ही प्रेरित होते हैं। अतः मिल इन बाह्य अंकुशों में आन्तरिक अंकुश भी जोड़ देता है। यह "सजातीयता की भावना" मानव की नैसर्गिक प्रवृत्ति है। स्वार्थी व्यक्ति उसकी आवाज को दबा देता है। परन्तु सुसंस्कृत व्यक्ति में सामाजिकता की भावना रहती है। वह दूसरों के सुख-दुख का भी ध्यान रखता है। यह सामाजिक तत्व अन्तर्बोध (Conscience) व आन्तरिक अंकुश अथवा नैतिक अंकुश है। मिल के शब्दों में "आन्तरिक अकुश, मानव जाति के सुख की अनुभूति, दूसरों के कष्टों और भावनाओं के सम्मान की अनुभूति—मानव जाति की सामाजिक अनुभूतियाँ—हमारे साथी प्राणियों से एक होने की इच्छा है जो कि अन्तःस्थ न होने पर भी स्वाभाविक तो हैं ही।" मिल उसको "कर्तव्य का उल्लंघन करने पर उससे लगी हुई कष्ट की अनुभूति" भी कहता है। वह अन्तरात्मा की ग्लानि है। "मानव जाति की संवेदनशील भावना" ही उपयोगितावाद का आधार है। आत्मग्लानि और पश्चाताप से बचने के लिये ही मनुष्य शुभ कर्म करता है।

उपयोगितावाद का महान् आदर्श—उपयोगितावाद के विरुद्ध आपत्तियों का अनेक युक्तियो से निराकरण करके मिल ने उसको व्यापक रूप देना चाहा। उपयोगितावाद का मानदंड जनता का अधिकतम संख्या का सुख है। मिल के शब्दो मे "अपने स्वयं के आनन्द और दूसरो के आनन्द के बीच उपयोगितावाद उसकी कठोरता से तटस्थ, परोपकारी दर्शक के रूप में रखना चाहता है। नजारथ के यीशु के स्वर्ण सिद्धान्त मे हम उपयोगिता के नीतिशास्त्र की आत्मा को पूर्णतः पढ़ते हैं। जैसा हमारे साथ होना चाहिये वैसा ही करना और अपने पड़ोसी को अपने ही समान प्यार करना उपयोगितावादी नैतिकता की आदर्श पूर्णता का निर्माण करते हैं।" इस प्रकार मिल सुख के साथ आत्मसयम और सुख के प्रति उदासीनता को भी महत्व देता है। स्टोइको के प्रभाव के कारण वह यहाँ तक कह देता है कि अपने सुख को पूर्णतः त्याग करके ही प्रायः मनुष्य दूसरो के सुख में सहायक होता है। बिना सुख के रह सकने की भावना से उसको यथासंभव सुख प्राप्त होता है।

सुख के भेद-गुण—बेन्थम के विरुद्ध मिल ने सुखो के गुणात्मक भेद को भी महत्वपूर्ण बतलाया। उसके अनुसार किसी सुख की वांच्छनीयता उसके परिमाण और गुण दोनों पर निर्भर है। मिल के शब्दो में "इस तथ्य को मानना उपयोगिता के सिद्धान्त से पूर्णतः समीचीन है कि कुछ प्रकार के सुख अन्य सुखो से अधिक वांच्छनीय और मूल्यवान हैं। यह मूर्खता ही होगी कि जबकि दूसरी सब वस्तुओं को मापने मे परिमाण और गुण का विचार किया जाय तब सुखो के माप को केवल परिमाण पर ही आधारित माना जाय।" अतः बेन्थम के अपरिष्कृत उपयोगितावाद के मुकाबले मे मिल का उपयोगितावाद का सिद्धान्त परिष्कृत माना जाता है। मिल के अनुसार सुखो में जातिगत अथवा गुणात्मक भेद है और गुणात्मक भेद परिणाम के भेद से श्रेष्ठ है।

गुणों का मापदंड—इन गुणो को मापने के लिये मिल ने "योग्य न्यायधीशों के निर्णय" की ओर संकेत किया। उसके शब्दो में "दो सुखो में, यदि कोई ऐसा सुख है जिसको कि, जिन्होने उन दोनो का अनुभव किया है वह बिना किसी नैतिक बाध्यता के निश्चित रूप से महत्व देते हैं तो वही वांच्छनीय सुख है।......अब, यह एक निर्विवाद तथ्य है कि जो कि दोनो से समान रूप से परिचित हैं और दोनों की प्रशंसा करने और उपभोग करने मे समान रूप से समर्थ है वे ऐसे ही रहन सहन को स्पष्ट रूप से अधिक महत्व देते हैं जिसमें उनकी उच्चतर शक्तियों का उपयोग हो। बहुत ही कम मानव प्राणी पशुओ के सुखो को भोग करने के लिये निम्न पशुओ मे परिवर्तित किये जाने को सहमत होंगे।" योग्य न्यायधीश शारीरिक और इन्द्रियजन्य सुखो की अपेक्षा सदा ही बौद्धिक सुख को अधिक महत्व देते हैं। योग्य न्यायधीशो का निर्णय परम निर्णय है। उसके विरुद्ध कुछ नहीं कहा जा

सकता। उनका अनुभव व्यापक है और इसी कारण श्रेष्ठ है।

गौरव का बोध—"योग्य न्यायाधीशों के निर्णय" का मानदंड मानव का "गौरव का बोध" है। यह गौरव का बोध मानव के लिये स्वाभाविक है। इसी गौरव के बोध के कारण मानव सुखोपभोग के लिये भी पशु होना स्वीकार नहीं कर सकता। मिल के शब्दों में, "एक सन्तुष्ट सुअर से एक असन्तुष्ट मानव होना श्रेयस्कर है, एक सन्तुष्ट मूर्ख से एक असन्तुष्ट सुकरात कहीं अच्छा है। और यदि मूर्ख अथवा सुअर के भिन्न मत हैं तो केवल इसलिये कि वे प्रश्न का अपना ही पक्ष जानते हैं। दूसरे दल वाले दोनों पक्षों को जानते हैं।" यह गौरव का बोध ही मनुष्यता का चिन्ह है, मानव की आत्मा की पुकार है। मानव गौरव के अनुरूप कर्म वाञ्छनीय है और उसके प्रतिकूल कर्म अवाञ्छनीय। सुख सुख के लिये नहीं है। सुख मानव की बुद्धि और गौरव-भावना के अनुरूप होना चाहिये। इस प्रकार मिल बेन्थम के इन्द्रिय सुखवाद का परित्याग करता है।

आलोचना :—१. मिल का सिद्धान्त सुखवादी होने के कारण उस पर सुखवाद के विरुद्ध सभी तर्क लागू होते हैं। सुखवाद मानव के केवल भावना पक्ष पर ज़ोर देने के कारण एकांगी हो जाता है। पूर्ण आत्मा की सन्तुष्टि में बुद्धि और भावना दोनों की तृप्ति आवश्यक है।

२. मिल ने आनन्द को परम श्रेय माना परन्तु फिर उसको सुख कहकर भारी ग़लती की। आनन्द (Happiness) और सुख (Pleasure) में भेद है। डिवी (Dewey) के अनुसार "सुख अस्थायी और सापेक्ष है। वह जब तक कोई विशेष क्रिया रहती है तभी तक और उस क्रिया के प्रसंग में ही रहता है। आनन्द स्थायी और सार्वभौम है। वह केवल तभी होता है जबकि कार्य ऐसा हो जो कि उस आत्मा के सभी हितों की पूर्ति करे अथवा प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी संघर्ष की ओर न ले जाय। आत्मा के किसी एक पक्ष की अनुभूति के विरुद्ध आनन्द सम्पूर्ण आत्मा की अनुभूति है।" आनन्द सुखों के सामञ्जस्य का परिणाम है।

३. मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित होने के कारण मिल के सिद्धान्त पर तत्सम्बन्धी सभी आक्षेप लागू हो जाते हैं। (विस्तार के लिए प्रश्न २ का उत्तर देखिए)।

४. परन्तु स्वयं मिल के कुछ सिद्धान्त उसकी मनोवैज्ञानिक धारणाओं के विरुद्ध हैं। मिल के अनुसार यश, धन, सद्गुण इत्यादि प्रारम्भ में तो सुख के साधन मात्र रहते हैं परन्तु अन्त में स्वयं साध्य बन जाते हैं। परन्तु यदि ऐसा हो तो फिर यह सिद्धान्त खंडित हो जाता है कि मनुष्य सदैव सुख चाहता है।

५. मनोवैज्ञानिक सुखवाद और उपयोगितावाद परस्पर विरोधी सिद्धान्त हैं। स्वार्थ से परार्थ पर आने का कोई मार्ग नहीं है। मिल एक ओर तो यह मान लेता है कि मनुष्य स्वभावतः अपना सुख खोज करता है और दूसरी ओर उपयोगितावाद

को परम लक्ष्य मानकर उसका गुण गान करता है। वह वैयक्तिक और सामाजिक सुख के बीच चक्कर काटता है। स्वार्थ और परार्थ को परस्पर विरुद्ध मान लेने पर वैयक्तिक सुख से सामाजिक सुख पर पहुँचना लगभग असंभव है।

६. मिल का नैतिक सुखवाद के पक्ष मे दिया हुआ तर्क वाक्यालंकार (Figure of speech) हेत्वाभास से आक्रान्त है। जिसकी इच्छा की जा सकती है वही वांच्छनीय नही है। वाच्छनीय (Desirable) का अर्थ है कि जिसकी इच्छा की जानी चाहिये। वांच्छनीय वह वस्तु नही है जिसकी हम साधारणतः इच्छा करते हैं वांच्छनीय उस वस्तु को कहना चाहिये जो कि बुद्धि के अनुसार उचित है। मैकेन्जी के शब्दो में "जब हम किसी वस्तु को वाछनीय कहते हैं तो बहुधा हमारा तात्पर्य केवल यह नहीं होता कि जो इच्छा करने योग्य है। ऐसी वस्तु मुश्किल से ही कोई होगी जिसकी इच्छा न की जा सकती हो। हमारा तात्पर्य यह होता है कि उसकी वाछनीयता बुद्धियुक्त है अथवा कि उसकी इच्छा की जानी चाहिये।" डिवी और टफ्ट (Tuft) भी मैकेन्जी के मत का समर्थन करते हैं। मूर (Moore) के शब्दो में "तथ्य तो यह है कि वाच्छनीय का अर्थ "इच्छा करने योग्य" नहीं हैं जैसा कि दृश्य (Visible) का अर्थ "दिखाई देने योग्य" है। वाच्छनीय का अर्थ केवल यह है कि जिसकी इच्छा की जानी चाहिये अथवा जिसका वांच्छनीय होने का अधिकार है जिस प्रकार से घृणा करने योग्य (Detestable) का अर्थ जिससे घृणा की जा सके न होकर, जिससे घृणा की जानी चाहिये है···।"

७. गुणात्मक भेद सुखवाद के विरुद्ध हैं। सेठ के अनुसार "गुण एक सुखवाद से बाहर की कसौटी है। सुखवाद की एकमात्र कसौटी परिणाम अर्थात् (सुख की तीव्रता) है। गुण का तथाकथित अन्तर केवल तभी समीचीन हो सकता है जबकि सुख उच्चतर प्रकृति के लिये परिणाम भेद से सम्बन्धित हो।" गुण नैतिक गुण है और गुणात्मक भेद को वाच्छनीयता की कसौटी मानने का अर्थ यह है कि सुख नही बल्कि नैतिकता ही उचित अनुचित की निर्णायक है। गुणात्मक भेद मनोवैज्ञानिक सुखवाद के भी विरुद्ध है। यदि हम गुण को कसौटी बनाते हैं तो इसका अर्थ यह है कि हम सुख नहीं बल्कि गुण चाहते हैं। रैशडल के शब्दो में "सुख के उच्चतर गुण की इच्छा वास्तव मे सुख की इच्छा नही है।" गुणात्मक भेद पूर्णतावाद की ओर ले जाता है।

८. योग्य न्यायधीशो का निर्णय बुद्धि का निर्णय है। योग्य न्यायधीश या तो बुद्धि से निर्णय करेंगे या भावना से। भावना से करने पर उनके निर्णय भिन्न भिन्न होंगे क्योकि भावना व्यक्तिगत रुचि पर आधारित है। अतः उनके निर्णय बुद्धि पर आधारित होंगे। दूसरे मिल के अनुसार ये न्यायधीश वे है जो कि दोनो प्रकार के सुखो का अनुभव कर चुके है और इस प्रकार उसमें से उत्तम का निर्णय कर सकते हैं। यह निर्णय और विभिन्न अनुभवो मे भेद बुद्धि का ही कार्य है।

९. मानव का "गौरव बोध" सुखवाद का विरोधी है। ग्रीन ने ठीक ही कहा है कि गौरव बोध सुख की इच्छा नहीं है। मिल के अनुसार सुखोपभोग के लिये भी मनुष्य पशु नहीं बनना चाहेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्यत्व सुख से भी श्रेष्ठ है। यह मनुष्यत्व बुद्धि ही है। मिल कहता है कि सन्तुष्ट सुअर से असन्तुष्ट मानव और सन्तुष्ट मूर्ख से असन्तुष्ट सुकरात श्रेष्ठ है। यहाँ पर यह स्पष्ट है कि मूर्ख रह कर सन्तुष्ट रहने से बुद्धिमान रहकर असन्तुष्ट रहना श्रेष्ठ है। अतः बुद्धि इच्छापूर्ति से श्रेष्ठ है। इस प्रकार "गौरव बोध" के सिद्धान्त से मिल सुखवाद को छोड़कर बुद्धिपरतावाद पर आ जाता है।

१०. मिल के नैतिक सुखवाद के तर्क में रचनात्मक हेत्वाभास (Fallacy of Composition) है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का सुख उसके लिये शुभ है इससे यह सामान्य सिद्धान्त नहीं निकाला जा सकता कि सबका सुख सबके लिये शुभ है। मेकैन्जी के शब्दों मे "क्योंकि मेरे सुख मेरे लिये शुभ हैं, तुम्हारे तुम्हारे लिये, उसके उसके लिये और इसी प्रकार और भी, इसलिये मेरे सुख + तुम्हारे सुख + उसके सुख मेरे + तुम्हारे + और उसके लिये शुभ हैं। यह भुला दिया गया है कि न तो सुखों और न व्यक्तियों को ही जोड़ा जा सकता है। सुखों का एक जोड सुख नहीं है जैसे कि व्यक्तियो का एक जोड व्यक्ति नहीं है।"

११. अपने सिद्धान्त मे सामाजिक उपयोगितावाद का समावेश करके मिल ने एक महान आदर्श प्रस्तुत किया परन्तु यह आदर्श सुखवाद नहीं रह जाता। सुखवाद परार्थवादी नहीं हो सकता। मार्टिन्यू (Martineau) के शब्दों में "प्रत्येक अपने लिये से प्रत्येक सबके लिये को कोई मार्ग नहीं है।" यदि मैं स्वभाववश अपना ही सुख चाहता हूँ और सुख की खोज ही मेरा परम लक्ष्य है तो कोई कारण नहीं कि मैं क्यों दूसरों का उपकार करूँ।

१२. सहानुभूति एवं भाईचारे की भावना की जो व्याख्या मिल ने की है वह ठीक नहीं है। अपने सुख के लिये परोपकार करने से अपना सुख परोपकार से सम्बन्धित हो सकता है परन्तु शुद्ध परार्थवादी भावना कभी नहीं आ सकती। परार्थ की भावना मानव में उतनी ही स्वाभाविक है जितनी कि स्वार्थ की भावना। रैशड़ल के शब्दों मे "मनुष्य और पशुओं में सदैव ही जाति रक्षक और आत्म रक्षक (Race Preserving & Self Preserving) दोनो ही प्रकार की मूल प्रवृत्तियाँ रही हैं। विकसित मानव प्राणियो में परार्थवाद सामाजिक और जाति रक्षक मूल प्रवृत्तियों से और स्वार्थवाद आत्मरक्षक मूल प्रवृत्तियो से विकसित होता है।

१३. आन्तरिक आदेश के समावेश से मिल का सिद्धान्त सुखवाद न रहकर बुद्धिपरतावाद बन जाता है। मिल अन्तर्बोध की "कर्तव्य का उल्लंघन करने पर होने वाले दुख की अनुभूति" के रूप मे व्याख्या करता है। यह पश्चाताप कर्तव्य भंग करने से होता है। कर्तव्य भंग का अर्थ नैतिक अथवा बौद्धिक नियमो को भंग

करना है। इस प्रकार अन्तर्बोध बुद्धि की आवाज है। कभी कभी मिल उसको अन्तर्गत सहानुभूति, भाई चारा, मानव समाज से एकता की अनुभूति मानता है। परन्तु नैतिकता आत्मगत नही हो सकती न आत्मगत अनुभूति नैतिकता की कसौटी हो सकती है। इस प्रकार अन्तर्बोध का आदेश बुद्धि का आदेश है और बाकी सब वाह्य आदेश नैतिकता के लिए व्यर्थ हैं।

१४. बेन्थम की परिमाणात्मक नैतिक गणना में गुणों का समावेश करके मिल ने उसको और भी अव्यवहारिक बना दिया। परिमाण को गुणों में नहीं जाँचा जा सकता और ना ही गुणों को परिणाम में आँका जा सकता है तब फिर किसी के परिमाण और गुण सम्मिलित मूल्य की दूसरी वस्तु के परिमाण और गुण सम्मिलित मूल्य से कैसे तुलना की जा सकती है। मैकेन्जी के शब्दों मे "जब तक कि उनको परिमाण न बनाया जा सकता हो तब तक गुणों का परिमाण की तुलना में मूल्यांकन नहीं किया जा सकता और मिल के सिद्धान्तों के अनुसार बात ऐसी नहीं है।" वास्तव मे सुखों की गणना का सिद्धान्त ही भ्रामक है। न तो आत्मगत और न सामाजिक सुख को ही तोला जा सकता। सुख अनुभूति है। उसकी गणना नहीं हो सकती न तो परिणाम से ही और न गुण से क्योंकि भावना अथवा अनुभूति देश और काल तथा व्यक्ति के अनुसार परिवर्तन शील है।

Q. 11. What are the difficulties of Hedonism as a moral standard ? How for is Mill successful in removing the difficulties by introducing "quality" in pleasure ? (Agra 55).

प्र० ११. एक नैतिक मानदंड के रूप में सुखवाद की क्या कठिनाइयाँ हैं ? सुख में 'गुण' का समावेश करके मिल कहाँ तक उन कठिनाइयों को हटाने में सफल हुए हैं ?

उत्तर :—उत्तर के लिए पिछले प्रश्न का आलोचना अंश देखिए।

Q. 12. Show how Bentham and Mill attempt to pass from Egoism to Altruism. (Agra 53).

प्र० १२. बेन्थम और मिल किस प्रकार स्वार्थ से परार्थ पर आने की चेष्टा करते हैं ?

उत्तर :—पिछले दोनों प्रश्न के उत्तर देखिए।

Q. 13. Show how Sidgwick combines Hedonism with Rationalism. (Agra 54).

प्र० १३. यह दिखलाइये कि सिजविक किस प्रकार सुखवाद को बुद्धिपरतावाद से मिलता है।

Q. 14. Give a critical exposition of Rational utilitarianism of Sidgwick.

प्र० १४. सिजविक के बुद्धिमूलक उपयोगितावाद की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।

उत्तर :—हेनरी सिजविक सुखवादी है। उसके अनुसार सुख ही जीवन का चरम लक्ष्य है। उसके अपने शब्दों में "सुख अथवा आनन्द ही परम शुभ है! ज्ञान, सौन्दर्य और अन्य वस्तुऍ जो कि कुछ लोगों द्वारा अपने आप में आन्तरिक मूल्य वाली मानी जाती हैं, केवल आनन्द के साधन मात्र हैं। अन्य सभी वस्तुऍ केवल उसी सीमा तक शुभ हैं जहॉ तक उनसे सुख मिलता है। सिजविक के अनुसार बुद्धि अथवा सहजज्ञान का यह आदेश है कि सुख ही एक मात्र साध्य है। यह सुख ही वाञ्छनीय चेतना (Desirable consciousness) का सार है और यह वाञ्छनीय चेतना ही परम शुभ है। सामाजिक स्वास्थ्य अथवा सद्गुण केवल सुख के साधन मात्र हैं। उनका महत्व उसी मात्रा मे है जहॉ तक वे सुख उत्पन्न करते हैं। सिजविक के शब्दों में "नैतिक मूल्यीकरण का परम मानदंड वांच्छनीय चेतना की उत्पत्ति है और परम साध्य अथवा स्वयं साध्य चेतन-जीवन का शुभत्व अथवा महत्व होना चाहिए और चेतन-जीवन का शुभत्व अन्ततोगत्वा आनन्द अथवा सुखदायकता मे होना चाहिए और अन्य सब शुभ कहलाने वाली वस्तुऍ चेतन-जीवन को और भी अधिक वांच्छनीय बनाने के साध्य की साधन मात्र हैं—जिसका वास्तव मे यह अर्थ हुआ कि वे केवल आनन्द की साधन मात्र हैं।" सुख से अलग उनका अपना कोई मूल्य नहीं।

उपयोगितावाद :—सिजविक उपयोगितावादी है। उसके अनुसार जहाँ एक ओर यह आवश्यक है कि व्यवहार मे हम अपनी दृष्टि सुख पर न रखकर सुख देने वाले कार्यों पर रखें वहॉ दूसरी ओर यह भी आवश्यक है कि ध्येय व्यक्ति का सुख न होकर सब का सुख हो। निस्वार्थ परोपकारिता और बौद्धिक आत्म प्रेम मे पूर्ण सामञ्जस्य है। केवल वैयक्तिक सुख ही अपने आप मे निकृष्ट और क्षणिक हो सकता है परन्तु सार्वभौम सुख अवश्य वांच्छनीय है। सिजविक के मतानुसार यह बुद्धि अथवा सहज ज्ञान का आदेश है कि व्यक्ति और समष्टि के सुख को एक ही समझा जाय और इस प्रकार सामाजिक सुख की खोज की जाय।

सुखवादी विरोधाभास—सिजविक सुखवादी विरोधाभास को मानता है। सुख का खोज करने से सुख नहीं मिलेगा। सुख पाने के लिए सुखदायक वस्तुओं की खोज करना चाहिए। बुद्धि यह बतलाती है कि सद्गुणों की निस्वार्थ खोज से सुख की वृद्धि होती है। ज्ञान, सौन्दर्य, कला इत्यादि से मनुष्य को सुख मिलता है अतः इनकी खोज करना चाहिए। परन्तु यह सदैव याद रहे कि इन सभी का महत्व उसी अंश में है जहॉ तक उनसे सुख मिलता है। मिल और बेन्थम के मनोवैज्ञानिक सुखवाद के विरुद्ध सिजविक सुखवादी विरोधाभास की ओर संकेत करता है। "सुख की ओर प्रवृत्ति अत्यधिक प्रधान होने पर अपने प्रयोजन को ही खो देती है।"

सिजविक नैतिक सुखवादी है। उसके अनुसार सुख व्यक्ति का सामान्य लक्ष्य है नहीं बल्कि होना चाहिए। वह मिल के समान तर्क नहीं करता। उसका कहना है कि बुद्धि अपने सहज ज्ञान से हमको यह बतलाती है कि सुख ही वह परम शुभ है जो अपने आप मे साध्य है।

सहज ज्ञानवाद अथवा बुद्धिवाद :—सिजविक के अनुसार सुख को परम श्रेय ठहरानेवाली मनुष्य की व्यावहारिक बुद्धि है। परम शुभ भावात्मक (Sentiment) होने पर भी उसका बोध अनुभव नही बल्कि बुद्धि से होता है। अतः सिजविक केवल सुख को परम लक्ष्य मानने के कारण ही सुखवादी है अन्यथा जहाँ तक प्रेरक कारणो का प्रश्न है वहाँ वह बुद्धिवादी अथवा सहज ज्ञानवादी ही है। उसका कर्तव्य का सिद्धान्त बुद्धिवादी है और परम शुभ का सिद्धान्त सुखवादी।

सुख के वितरण की समस्या:—सिजविक के अनुसार नैतिक चेतना हमे केवल परम शुभ का ही ज्ञान नही कराती बल्कि उसके वितरण के सिद्धान्त भी बतलाती है। व्यावहारिक विवेक (Prudence) परोपकारिता (Benevolence) और न्याय (Justice) व्यक्ति और समाज मे सुख के वितरण के तीन बौद्धिक सिद्धान्त है। इन सिद्धान्तो से हमारे जीवन मे स्पष्ट व्यावहारिक निर्देश मिलता है जो कि केवल दार्शनिक सिद्धान्तो से नही मिल सकता।

व्यावहारिक विवेक अथवा बौद्धिक आत्मप्रेम :—इस सिद्धान्त के अनुसार हमे सुख की खोज करते समय अपने जीवन के सभी पक्षो और सभी कालो का विचार करना चाहिये। वर्तमान सुख के लिये भविष्य के अधिक सुख को छोडना उचित नही है। इसी प्रकार निश्चित वर्तमान सुख को अनिश्चित भविष्य के लिये नही छोडा जा सकता। मानव का ध्येय क्षणिक सुख नही बल्कि स्थायी और सर्वाङ्ग सुख है। बौद्धिक आत्म प्रेम "हमारे चेतन जीवन के सभी भागो के लिये निष्पक्ष विचार" का सन्देश देता है। जीवन मे बुद्धि ही सुख का उचित वितरण कर सकती है। व्यक्ति का लक्ष्य समस्त जीवन का सुख है।

बौद्धिक परोपकारिता :—बौद्धिक परोपकारिता के स्वतः सिद्ध कथन (Axiom) के अनुसार "प्रत्येक व्यक्ति दूसरे किसी भी व्यक्ति के शुभ को अपने के समान मानने के लिये नैतिक रूप से बाध्य है।" दूसरे शब्दो मे "मुझे दूसरे के अधिक शुभ की तुलना मे अपना क्षुद्र शुभ नही पसन्द करना चाहिये।" विश्व के दृष्टिकोण से सबके सुख समान हैं। स्वार्थ और परार्थ की खाँई को अनुभव नही भर सकता। बुद्धि ही व्यक्तिगत सुख और सामान्य सुख को जोड़ती है। बुद्धि बतलाती है कि प्रत्येक व्यक्ति को समष्टि के अधिकतम सुख को लक्ष्य बनाना चाहिये। उसको समष्टि के सुख की प्राप्ति के लिये अपने निजी सुख को बलिदान कर देना चाहिये। मिल के विरुद्ध सिजविक उपयोगितावाद का तार्किक प्रमाण देते हैं। जब प्रत्येक को अपना सुख भोगने का अधिकार है और व्यक्ति का शुभ उसका सुख है तब सभी

के सुख का समान महत्व होना चाहिये। प्रत्येक का सुख सार्वभौम सुख का अंग है अतः सार्वभाम सुख में कहीं पर अधिक सुख की वृद्धि होने के लिये यदि अपना थोडा सा सुख छोडना पड़े तो वह कर्तव्य बन जाता है। वैयक्तिक और सामाजिक दोनो ही सुखो की वृद्धि समान रूप से आवश्यक है।

न्याय :—न्याय बौद्धिक आत्मप्रेम अथवा व्यावहारिक विवेक तथा बौद्धिक परोपकारिता के सिद्धान्तों का पूरक है। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति को दूसरों के साथ विशेष परिस्थितियों मे वैसा ही व्यवहार करना चाहिये जैसा कि वह उनसे अपने प्रति चाहता हो। यह समानता का सिद्धान्त है। वह व्यक्तिगत जीवन मे विभिन्न क्षणो और सामाजिक जीवन में विभिन्न व्यक्तियों में सुख के समान वितरण का आदेश देता है। यह समानता अन्ध समानता नहीं है। यह बौद्धिक निष्पक्षता है। "समान विषयो के प्रति समान रूप से व्यवहार होना चाहिये।" "जो कोई भी कार्य हममे से कोई भी अपने लिये उचित समझता है वह परोक्ष रूप से उसको वैसी ही परिस्थितियों में वैसे ही व्यक्तियो के लिये भी उचित समझता है। व्यक्ति समान है और एक ही समष्टि के अंग है। परन्तु यह समानता अंधी नहीं है। सभी व्यक्ति बिल्कुल एक से नहीं है और ना ही सभी समान रूप से सुख के अधिकारी हैं। अतः कुछ व्यक्तियों को अन्य से श्रेष्ठ मानना ही पड़ेगा। परन्तु फिर भी प्रत्येक को उसकी पात्रता के अनुसार सुख का भाग मिलना ही चाहिये। इस प्रकार न्याय के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य का लक्ष्य समष्टि का अधिकतम सुख है। वैयक्तिक जीवन मे इस सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण जीवन का सुख प्राप्त करना परम शुभ है। सम्पूर्ण जीवन मे सभी क्षणों का एक सा ही महत्व नहीं होता परन्तु अपने स्थान पर सभी का महत्व है। न्याय के सिद्धान्त के अनुसार जीवन के विभिन्न क्षणों में उनके महत्व के अनुसार सुख का वितरण आवश्यक है।

व्यावहारिक बुद्धि का द्वैत :—परन्तु व्यावहारिक विवेक अथवा आत्म प्रेम और परोपकारिता के आदेश परस्पर विरुद्ध हैं। व्यावहारिक विवेक का आदेश है कि व्यक्ति को अपना ही अधिकतम सुख खोजना चाहिये। परोपकारिता के सिद्धान्त के अनुसार समस्त मानव-जाति का सुख ही परम श्रेय है। यहाँ पर सिजविक व्यावहारिक बुद्धि की सहायता से स्वार्थ और परार्थ को मिलाता है। वह यह तो मानता है कि यह द्वैत बुद्धि मे रहता है अथवा वह व्यवहारिक बुद्धि का द्वैत (Dualism of Practical Reason) है परन्तु उसके अनुसार इन दोनों आदेशों मे कोई परस्पर विरोध नहीं है। दोनो ही समान रूप से बुद्धि सम्मत हैं। बौद्धिक आत्म प्रेम और बौद्धिक परोपकारिता मे परस्पर सामंजस्य है। जहाँ स्वार्थ और परार्थ मे स्पष्ट विरोध होता है वहाँ पर व्यावहारिक बुद्धि भी दो भागों मे बँट जाती है। उस समय तुलनात्मक दृष्टि से दोनों का अध्ययन करने से यह विरोध दूर हो

सकता है। तुलना करने पर वैयक्तिक अथवा सामाजिक जो भी सुख अधिक जान पड़े उसके लिये पहले को छोड़ देना चाहिये।

आलोचना :—१. सिजविक आनन्द (Happiness) और सुख (Pleasure) को एक ही मानकर भारी भूल करता है। आनन्द एक सामंजस्य की स्थिति है जो कि सभी कर्तव्यों और सुखोपभोग के सन्तुलन से मिलती है। परन्तु सुख एक भावात्मक अनुभूति है। आनन्द शाश्वत और सदैव एक रस है। सुख परिवर्तनशील और क्षणभंगुर है। म्यूरहैड के शब्दों में "आनन्द वह भावना है जो उस बोध के साथ आती है जो कि शारीरिक इन्द्रिय सुखो की पूर्ति के अतिरिक्त उनको सन्तुष्ट न कर सकने की असफलता अथवा अस्वीकृति के दुख के साथ होते हुए भी साधारण आत्मा की समग्रता की पूर्ति करता है।" आनन्द अथवा आत्मप्राप्ति ग्रीन के शब्दो मे आत्म सन्तोष की स्थिति है।

२. सुख को परम श्रेय मानना सर्वथा एकांगी दृष्टिकोण है। सिजविक ज्ञान, सौन्दर्य इत्यादि को भी केवल सुख का साधन मात्र मानते हैं। यह मान्यता न तो तर्कसम्मत है और न अनुभव द्वारा प्रतिपादित। आत्मा मे भावात्मक और बौद्धिक दोनों ही पक्ष हैं। इन दोनो में से किसी एक पक्ष पर जोर देकर दूसरे की अवहेलना करने वाले सिद्धान्त पूर्ण आत्मा को सन्तुष्ट नहीं कर सकते। आत्मा में अनुभूति ही सब कुछ नही है, बुद्धि और संकल्प भी उसके महत्वपूर्ण अंग हैं। सुख को "वाच्छनीय चेतना" कहना अज्ञान प्रदर्शित करता है। बौद्धिक व्यक्ति सुख को वांच्छनीय नही मानेगा क्योंकि सुख से ही बुद्धि का सन्तोष नही होता। बुद्धि कैसे निर्बुद्धि सुख को परम शुभ मान सकती है। सुख केवल मूल्य की अनुभूति मात्र हैं। वास्तविक मूल्य तो वस्तु में है। परम शुभ व्यक्तित्व के सभी अगो को सन्तुष्ट करता है अतः सुख परम शुभ नही हो सकता। इन्द्रियाँ स्वयं अधी हैं। बुद्धि के निर्देश के बिना वे किसी प्रकार के सामंजस्य की ओर नहीं ले जा सकती। अतः बौद्धिक आदेश ही पथ निर्देश करेंगे सुख की वासना नही। बुद्धि और भावना एक दूसरे के पूरक हैं। बुद्धि के महत्व को समझ कर भी सिजविक सुखवाद के मौलिक दोष को नही समझ पाया।

३. वास्तव मे सिजविक सुखवादी भावात्मक शुभ और सहज ज्ञानवाद अथवा बुद्धिवाद के परम शुभ मे सामंजस्य नहीं कर पाया। "व्यावहारिक विवेक के द्वैत" की खाँई को वह भर नही पाया। स्वार्थ और परार्थ के संघर्ष को तुलना द्वारा दूर नही किया जा सकता।

४. इस प्रकार सिजविक स्वार्थ और परमार्थ का सामंजस्य करने मे सफल नही हुआ। सुखवाद के आधार पर स्वार्थ और परार्थ का मेल नही हो सकता। जैसा कि मार्टिन्यू कहते है, सुखवादी दृष्टिकोण से "प्रत्येक अपने लिए से प्रत्येक सबके लिए की ओर कोई मार्ग नहीं हैं।" परार्थ की स्थापना तो पूर्णतावाद पर ही

हो सकती है। परोपकार के साथ आत्म प्रेम नहीं चल सकता। उसके लिए आत्म-त्याग की आवश्यकता है। जितना ही मनुष्य स्वार्थी होगा उतना ही कम वह परोपकारी होगा और जैसे-जैसे परोपकार की प्रवृत्ति बढ़ती है वैसे-वैसे मनुष्य को अपने निजी स्वार्थ का परित्याग करना पडता है। सब प्राणियों मे अपनी ही आत्मा को देखने पर ही व्यक्ति स्वाभाविक रूप से परोपकारी हो सकता है। स्वार्थ और परार्थ दोनो एक ही विश्वात्मा के दो रूप हैं। वह विश्वात्मा हममे भी है और अन्य सब मे भी। यह तत्त्व स्पष्ट हो जाने पर ही स्वार्थ और परार्थ का झगडा शान्त हो सकता है।

५. सिजविक ने नैतिक चेतना के रूप को गलत समझा है। उनके अनुसार उसका स्वरूप भावात्मक है। परन्तु वास्तव मे भावना मानव चेतना का केवल एक अंग मात्र है। विचार, भावना और संकल्प यह तीनों ही मानव चेतना के अभिन्न अंग हैं। इन तीनो के दृष्टिकोण से किसी भी चेतना की स्थिति को देखा जा सकता है। प्रत्येक स्थिति मे इन तीनो का सम्मिश्रण है! इनमे से किसी को भी उससे अलग नहीं किया जा सकता। केवल सुख की स्थिति अर्थहीन है और नैतिक अध्ययन का विषय नहीं है। इन तीनों तत्त्वो का योग होने पर ही सच्चा आत्म-सन्तोष हो सकता है। यह स्थिति ही सुख दे सकती है। सुख स्वयं नैतिक चेतना नहीं है। वह उसका भावात्मक पक्ष मात्र है।

६. अतः यह स्पष्ट है कि ज्ञान और नैतिक गुणों को सुख का साधन मात्र मानना भूल है। ज्ञान और संकल्प उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितनी की भावना। वे स्वयं साध्य हैं। उनका अपना आन्तरिक महत्व है और वे आत्मा के आध्यात्मिक पक्ष को सन्तुष्ट करते हैं।

७. नैतिकता सुख प्राप्ति का साधन मात्र नहीं है। नैतिक गुण और चरित्र स्वय साध्य हैं। चरित्र संकल्प को व्यवस्थित एव नियत्रित करने पर निर्भर हैं। उसमे भावात्मक पक्ष भी है परन्तु बुद्धि और संकल्प उसके प्रमुख भाग हैं। नैतिक गुण इच्छाओं पर बुद्धि द्वारा नियंत्रण करने से उत्पन्न होते हैं। वे सुख के साधन मात्र नहीं हैं। नैतिकता वस्तु परक और सार्वभौम है। वह नियामक है। उसका सम्बन्ध आदर्श से है। वह परम शुभ की खोज करती है। वह रुचि पर आधारित नहीं है। वह रुचि के आदर्श की खोज करती है। बुद्धि "वासना की दासी" नहीं है। वह स्वय लक्ष्य निर्धारित करती हैं। सुखवाद परिणाम पर ही जोर देता है। परन्तु बुद्धि का मापदंड परिणाम नहीं बल्कि नैतिक श्रेष्ठता है। सिजविक चरित्र के नैतिक महत्व को नहीं समझ पाया। उसने आचरण और चरित्र को भिन्न-भिन्न मानकर आचरण को चरित्र से ऊँचा माना। उसके अनुसार आचरण ही नैतिक निर्णय का विषय है। कर्म में परिणाम ही महत्व पूर्ण हैं। सिजविक की यह सब धारणाएँ व्यवसायिक बुद्धि पर आधारित हैं और नैतिकता की व्याख्या नहीं करतीं। नीति-

शास्त्र के अनुसार चरित्र को आचरण का साधन कहना उलटी बात है। वास्तव में चरित्र, कर्म और आचरण का सम्बन्ध अटूट है। आचरण चरित्र की अभिव्यक्ति है। नैतिक ध्येय चरित्र की पूर्णता है।

८. सिजविक सुख और सुखद की एक ही समझने की भूल करता है। वह मिल की भूलो से अपने को मुक्त नही कर पाया। मिल के समान ही उसके सिद्धान्त में अनेक असंगतियाँ हैं। वह अपने सिद्धान्तो को बौद्धिक आधार नही दे सका। श्रेय प्रेय होने पर भी प्रेय से ऊँचा है। वह परमशुभ है। श्रेय प्रेय है परन्तु प्रेय (Pleasure) को श्रेय नही कहा जा सकता।

९. सिजविक के सुख के वितरण के तीन सिद्धान्त, न्याय व्यावहारिक विवेक और परोपकारिता परिमाणात्मक सिद्धान्त है। ह्वील राइट (Wheel wright) के शब्दो में "वे यह नहीं बतलाते कि विशेष परिस्थितियों मे शुभ क्या है। वे केवल यह सिखाते हैं कि व्यक्तियों, स्थानो और कालों का निष्पक्ष विचार करते हुए जब कहीं, जहाँ कही और जिसको भी मिलता हुआ अधिक शुभ नैतिक दृष्टिकोण से कम परिणाम के शुभ से अधिक वांच्छनीय है।" परन्तु परिमाणात्मक सिद्धान्तो से केवल वस्तुओ का वितरण हो सकता है। गुणात्मक भेद के प्रसग मे उनसे कोई आदेश नही मिलता।

१०. सिजविक के सिद्धान्त में अनेक आन्तरिक दोप और विरोध हैं। वह कभी तो वस्तुओ की वाञ्छनीयता का निर्देश करता है और कभी उनकी बौद्धिकता का। वास्तव में वह सुखवाद और बुद्धिवाद का सामंजस्य नही कर पाता, उपयोगितावाद को सहज ज्ञानवाद से नही मिला पाता। "बौद्धिक उपयोगितावाद" अथवा सहजज्ञानवादी उपयोगितावाद मे आन्तरिक विरोध दिखाई देता है। इन विरोधो को पूर्णतावाद के प्रकाश मे ही दूर किया जा सकता है। सिजविक का सिद्धान्त मिल इत्यादि सुखवादियों से अधिक सफल नही कहा जा सकता।

Q 23. Discuss the place of pleasure in moral life and the value of Hedonistic Ideal in Ethics. (Alld. 57).

प्र० २३. नैतिक जीवन में सुख के स्थान की मीमांसा कीजिए तथा नीतिशास्त्र में सुखवादी आदर्श का मूल्य निर्धारित कीजिए।

Q. 24. Do Pleasures differ in Quality ? Show the bearing of your answer on hedonism. (Alld. 52).

प्र० २४. क्या सुखों में गुणों का भेद होता है ? अपने उत्तर का सुखवाद पर प्रभाव दिखलाइये।

उत्तर :—नैतिक जीवन चरित्र के विकास का जीवन है। वह सद्गुणों की वृद्धि करता है। जीवन को आदर्श के अनुसार ढालने की चेष्टा करता है। नीतिशास्त्र मे हम यह अध्ययन करते हैं कि मानव जीवन का परम श्रेय क्या है। कौन

से कर्म उचित हैं और कौन से अनुचित और मनुष्य को क्या करना चाहिये। नैतिक जीवन आत्म साक्षात्कार अथवा पूर्ण आत्म संतोष का जीवन है। आत्मा केवल वैयक्तिक ही नही है वह सामाजिक भी है केवल भावात्मक ही नहीं बल्कि विचारात्मक और संकल्पात्मक भी है। अतः पूर्ण नैतिक जीवन में व्यक्ति और समाज दोनों के हितो का सामंजस्य होगा। उसमें व्यक्ति के भावात्मक, विचारात्मक और संकल्पात्मक सभी पक्षो को विकसित एवं सन्तुष्ट होने का भरपूर अवसर मिलेगा।

इस प्रकार नैतिक जीवन कठोरता का जीवन नहीं है। उसमें सुख का भी स्थान है क्योंकि सुख मानव के भावात्मक पक्ष की माँग है। नैतिक जीवन शुष्क भोगहीन जीवन नहीं है। उसमें इन्द्रिय सुखो ने विषय सामाग्री मिलती है। इन्द्रियाँ ही मनुष्य को कर्म की ओर प्रेरित करती है और फिर इन प्रेरणाओं पर बुद्धि द्वारा नियंत्रण करके एक सन्तुलित जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति नैतिक जीवन का साधन करता है। संकल्प बहुत कुछ भावात्मक पक्ष पर निर्भर है और संकल्प ही नैतिक जीवन का आधार है। अतः सुख की प्रवृत्ति को निकाल देने से नैतिक आदर्श अधूरा रह जायगा। सुख के अंश को निकालकर नैतिक चेतना एकांगी हो जाएगी। नैतिक जीवन सक्रिय जीवन है। स्टोइक और हठमार्गी इस सत्य को भूल गए। इन्द्रियो का पूर्ण दमन करके नैतिक जीवन नहीं प्राप्त किया जा सकता।

अतः नीतिशास्त्र मे सुखवादी आदर्श मानव के भावात्मक पक्ष पर जोर देकर कठोरतावाद अथवा शुद्ध बुद्धिवाद की एक बहुत बडी कमी को दूर करता है। वह यह स्पष्ट करता है कि मानव जीवन में अनुभूतियों का बहुत बडा महत्व है। परन्तु जो सुखवाद की विशेषता है वही उसका दोष है। आत्मा का भावात्मक पक्ष एक महत्वपूर्ण पक्ष है परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि आत्मा ही भावात्मक (Sentient) है। सुखवादी सुख को परम श्रेय मानकर आत्मा के स्वरूप को ही भूल जाते हैं। आत्मा में भावात्मक पक्ष के अतिरिक्त विचार और संकल्प भी हैं। अतः यह कहना कि विचार और संकल्प सुख के साधन मात्र हैं उतना ही अनुचित होगा जितना कि भावना मात्र को अनैतिक घोषित करना। दूसरे सुखवाद मानव के केवल वैयक्तिक पक्ष को सब कुछ मान लेता है। बेन्थम, मिल, स्पेन्सर तथा सिजविक इत्यादि परार्थ सुख को अनिवार्य मानने पर ज़ोर देते हैं परन्तु स्वार्थ से परार्थ पर संक्रमण करने में किसी की भी युक्तियाँ सन्तोष दायक नहीं हैं। कारण यह है कि सुखवाद के आधार पर परार्थ की स्थापना हो ही नहीं सकती। यदि मनुष्य का परम लक्ष्य सुख है तो फिर ज्ञान, सौन्दर्य, सद्‌गुण इत्यादि सभी साधन मात्र बन जाते हैं और तब नैतिक जीवन पशु जीवन का समर्थन करता सा प्रतीत होता है। यथार्थ मे सुखवाद को जहाँ एक ओर व्यर्थ नहीं कहा जा सकता वहाँ दूसरी ओर उसको पूर्ण नैतिक सिद्धान्त मानना भी भारी भूल है। आत्मा के पूर्ण

साक्षात्कार मे उसके विचारात्मक और संकल्पात्मक पक्षो पर भी जोर देना अत्यन्त आवश्यक है।

अनुभवो का बुद्धि पूर्वक विवेचन करने पर यह मानना ही पडता है कि सुखो मे गुणात्मक भेद होता है। सभी सुखों को एक सा नहीं माना जा सकता। मिल का यह कहना यथार्थ ही था कि एक सन्तुष्ट सुअर से एक असंतुष्ट मनुष्य अच्छा है। बौद्धिक सुख शारीरिक सुख से श्रेष्ठ है। कला, साहित्य और परसेवा इत्यादि से मिलने वाला सुख इन्द्रिय जन्य सुखो से भिन्न है। फिर सुख और आनन्द मे महान् अन्तर है। आध्यात्मिक और भौतिक सुख मे भी भारी भेद है। परन्तु सुखवाद के आधार पर सुखो मे गुणात्मक भेद नही माना जा सकता। सुखो मे भेद मानने का अर्थ यह हुआ कि हम सुखो को किसी कसौटी पर कसकर उनकी परीक्षा करते हैं और यह कसौटी सुख नहीं है क्योकि वैसा होने पर तो केवल परिमाणात्मक भेद ही किया जा सकता है। अतः यह कसौटी या तो बुद्धि होती है अथवा पूर्ण आत्मा या आत्मा की पूर्णता। मिल के नीति शास्त्र में सुखा के महत्व को निर्धारित करने वाली कसौटी मानव का गौरव बोध अथवा बुद्धि ही है। निर्णय करने वाले न्यायधीश बुद्धि के अनुसार निर्णय देगे। इस प्रकार गुणात्मक भेद मानकर मिल सुखवाद को छोडकर बुद्धिवाद पर आ जाता है। पूर्णतावाद के अनुसार आत्मा को पूर्णता की ओर ले जाने वाला सुख अन्य सुखो से अधिक वांछनीय है। अतः यह स्पष्ट है कि सुखो में गुणात्मक भेद मानने का अर्थ सुखवाद को छोड देना है। उस अवस्था मे सुख नहीं बल्कि बुद्धि अथवा पूर्ण आत्मा का साक्षात्कार ही परम शुभ माना जाएगा।

अध्याय ६ (परिशिष्ट)

विकासवादी सुखवाद

Q 1. How does evolutionism distinguish right from wrong conduct? Examine critically Spencer's theory in this connection. (Agra 57).

प्र० १. वि.ासवाद उचित और अनुचित व्यवहार में किस प्रकार भेद करता है ? इस प्रसंग में स्पेन्सर के सिद्धान्त की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए ।

नोट :—प्रश्न के द्वितीय भाग के उत्तर के लिये अगला प्रश्नोत्तर देखिये ।

Q 2. Wiite shoit notes on :—Evolutional Hedonism. (Alld. 56. Part II).

प्र० २. विकासवादी सुखवाद पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये ।

Q 3. What contribution has the theory of Evolution made towards the solution of ethical problems? Is Herbart Spencers standard of alsolute ethics attainable? (Agra 54).

प्र० ३. नीतिशास्त्रीय समस्याओं के सुलझाने में विकासवाद के सिद्धान्त ने क्या योगदान दिया है ? क्या स्पेन्सर का निरपेक्ष नैतिकता का मानदंड प्राप्त किया जा सकता है ?

नोट .—द्वितीय भाग के उत्तर के लिये अगला प्रश्नोत्तर देखिये ।

Q. 4. What is Evolutionary Hedonism? What do you consider to be its contribution of pemanent value to ethical thought? (Alld. 58).

प्र० ४. विकासवादी भोगवाद क्या है ? आपके मतानुसार नीतिशास्त्र को शाश्वत महत्व रखने वाली उसकी देन क्या है ?

Q 5. What aie the main difficulties in applying the geneial theoiy of Evolution to the problems of Ethics?

प्र० ५. नीतिशास्त्र को समस्याओं पर विकासवादी सिद्धान्त को लागू करने मे कौन-सी कठिनाइयाँ है ?

उत्तर :—आदर्शवादी दार्शनिकों ने लक्ष्य की दृष्टि से नैतिक विकास की व्याख्या की है। वे प्रयोजनवादी पद्धति का प्रयोग करते हैं। विकासवादी दार्शनिक ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग करते हैं। उनके अनुसार नैतिकता सार्वभौम विकास का ही एक फल है। उसको सार्वजनिक विकास के प्रकाश में ही समझा जा सकता है। आदर्शवादियों के विरुद्ध वे नैतिकता की व्याख्या मानव व्यवहार के प्रारंभ से करते हैं। उसका उद्गम जीवों के परस्पर व्यवहार में तलाश करते हैं। ग्रीन (Green) विकासवादी सुखवाद को "नैतिक नियमों का प्राकृतिक विज्ञान" कहता है। हर्बर्ट स्पेन्सर नैतिकता के सिद्धान्तों को जैविक विकास के सिद्धान्तों से निगमन द्वारा निकालता है। उसका सुखवाद निगमनात्मक सुखवाद अथवा विकासवादी सुखवाद कहलाता है। उसके शब्दों में "नैतिक विज्ञान का कार्य जीवन के नियमों से यह निगमन करना है कि किस प्रकार की क्रियाएँ निश्चित रूप से आनन्द की उत्पत्ति की ओर प्रवृत्त होती है और किस प्रकार की निरानन्द उत्पन्न करने की ओर प्रवृत्त होती हैं। उसके निगमनों को व्यवहार के नियमों के रूप में माना जाना चाहिये और आनन्द अथवा दुःख के प्रत्यक्ष अनुमान को छोड़कर उनका पालन किया जाना चाहिये।" हर्बर्ट स्पेन्सर नैतिकता को विश्व व्यवहार के विकास का अन्तिम चरण मानता है।

परम श्रेय—विकासवादी नीतिशास्त्र जीवन का परम लक्ष्य सुख मानता है परन्तु यह सुख वातावरण अथवा समाज से सामंजस्य का परिणाम है। "अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख" के उपयोगितावादी सिद्धान्त के स्थान पर विकासवादी "जीवन का संरक्षण" "सामाजिक स्वास्थ्य" अथवा "समाज का सन्तुलन" का आदर्श रखते हैं। उनके अनुसार सुख पाने का एकमात्र उपाय सुख की भावना को पृष्ठभूमि में रखकर समाज स्वास्थ्य, समाज की कार्यक्षमता अथवा समाज की साम्यावस्था की चेष्टा करना है। स्पेन्सर के अनुसार मानव का चरम लक्ष्य "सम्पूर्ण जीवन" (Complete Living) है। यह सम्पूर्णता वातावरण या समाज से सामंजस्य का परिणाम है।

उचित और अनुचित—अतः विकासवाद के अनुसार वही व्यवहार उचित है जो मानव को वातावरण अथवा समाज से सामंजस्य करने और परिणाम स्वरूप अधिक पूर्ण जीवन व्यतीत करने अथवा आनन्द पाने में सहायक हो। जीवन का सार "आन्तरिक सम्बन्धों के बाह्य सम्बन्धों से सतत सामंजस्य" अर्थात जीव का वातावरण से सामंजस्य करने में है। अतः जो व्यवहार उसके इस सामंजस्य में बाधक हो और परिणाम स्वरूप जीवन को अपूर्ण वह दुखपूर्ण बनाए वह अनुचित है। सभी व्यवहार कुछ अच्छे और कुछ बुरे होते हैं। पूर्णतः शुभ वही व्यवहार हो सकता है जो बिना किसी कष्ट के केवल सुख पहुँचाए। परन्तु यदि व्यवहार के परिणाम स्वरूप दुख से अधिक सुख प्राप्त हो और जीव का वातावरण में कुछ

अधिक सामंजस्य हो तो वह व्यवहार अपेक्षाकृत शुभ ही कहा जायगा। इसी प्रकार जिस व्यवहार से सुख की अपेक्षा दुख अधिक हो और जो वातावरण से सामंजस्य को और भी अपूर्ण बनाए वह अपेक्षाकृत अनुचित व्यवहार होगा। इस प्रकार जीवन मे साधक और बाधक होने के साथ व्यवहार शुभ और अशुभ होता है।

नैतिक समस्याओं के सुलझाने में विकासवाद का योगदान—१. विकासवाद अन्तर्वोध को न तो सहजज्ञानवादियो के समान सहजात, स्वच्छन्द अथवा स्वयं सिद्ध मानता है और न अनुभववादी सुखवाद के समान अनुभव पर आश्रित सामान्य नियम ही मानता है। अन्तःकरण व्यक्ति को वंशानुक्रम द्वारा प्राप्त होता है परन्तु समाज ने उसको अर्जित किया है। व्यक्ति और समाज के विकास में व्यवहार के नियम सतत परिवर्तनशील हैं।

२. विकासवाद स्वार्थ और परार्थ दोनो को ही मानव स्वभाव के अभिन्न अंग और मूल प्रवृत्तियाँ मानता है। इस प्रकार विकासवाद स्वार्थ से परार्थ पर संक्रमण की समस्या को ठीक प्रकार से सुलझा लेता है जबकि वेन्थम और मिल इत्यादि उपयोगितावादी उपयोगितावाद के सिद्धान्त को भली प्रकार नही समझा पाते। स्पेन्सर के शब्दो मे "जीवन में प्रारंभ से ही स्वार्थ परार्थ पर निर्भर रहा है जिस प्रकार परार्थ स्वार्थ पर निर्भर रहा है और विकास के पथ में दोनों की परस्पर सेवाएँ बढ़ती रही हैं। इस प्रकार शुद्ध स्वार्थ और शुद्ध निस्वार्थ दोनों ही अनुचित हैं।" सामान्य सुख बहुत कुछ व्यक्ति के अपने सुख को प्राप्त करने पर निर्भर है और व्यक्ति का अपना सुख बहुत कुछ सामान्य सुख को प्राप्त करने पर निर्भर है। स्वार्थ और परार्थ दोनो की अति अनुचित है। दोनों मे सामंजस्य करने की आवश्यकता है।

वेन्थम और मिल का उपयोगितावाद स्थिर और निर्जीव है। उन्होंने समाज को स्वतन्त्र व्यक्तियों का एक यंत्रवत समूह मात्र माना है। इसी कारण उपयोगितावाद का समर्थन करते हुए भी उनका आधार व्यक्तिवादी ही रहता है। यहाँ पर समाज को शरीर और व्यक्ति को उसके अवयव मानकर वह विकासवादी समाज और व्यक्ति के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध को स्पष्ट करने में अधिक सफल हुआ है। व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध वाह्य और आकस्मिक न होकर आन्तरिक और आवश्यक है। व्यक्ति समाज का एक अविभाज्य अंग है। उसका हित समाज हित पर उसी प्रकार निर्भर है जिस प्रकार अवयव का शरीर के हित पर। यद्यपि शरीर और अवयव की उपमा समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध पर पूर्णतः घटित नहीं होती तथापि यह उपमा व्यक्ति और समाज के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को उपयोगितावादी धारणाओं से कहीं अधिक भली प्रकार प्रगट करती है।

३. सुख की खोज को पीछे डालकर जीवन रक्षण, समाज-स्वास्थ्य और सामाजिक सन्तुलन की चेष्टा करने को कर्तव्य बतलाकर विकासवादी सुखवाद

"सुखवाद के विरोधाभास" से बच जाता है। सुख साध्य अवश्य है परन्तु वह व्यक्ति और समाज के सामंजस्य का परिणाम है। वह जीवन शक्ति की वृद्धि करता है अतः सुख को साध्य कहने का अर्थ जीवन शक्ति की वृद्धि और वातावरण एवं समाज से सामजस्य करना है जिससे सुख मिले। इस प्रकार विकासवादी सुखवाद अनुभववादी सुखवाद को परिष्कृत करता है।

४. विकासवादी सुखवाद सुखों मे गुणात्मक भेद करता है। उसके अनुसार सुख स्वयं साध्य नहीं है बल्कि वह जीवन के अस्तित्व और विकास का साधन है। जीवन रक्षण में सहायक होना ही नैतिकता का मापदंड है। सुख जीवन रक्षण में सहायक है अतः वह नैतिक साध्य है। इस प्रकार जो सुख जीवन रक्षण में जितना ही अधिक सहायक होगा वह उतना ही अधिक वाञ्छनीय होगा। विकासवाद जीवननाशक सुख और जीवन वर्धक सुखों मे भी भेद करता है। जीवन वर्धक सुख ही वाञ्छनीय है जीवननाशक नहीं। इस प्रकार विकासवादी सुखवाद पर इन्द्रिय लोलुपता का आरोप नही किया जा सकता।

नीतिशास्त्र पर विकासवाद को लागू करने में कठिनाइयाँ :—१. विकासवादी सुखवाद की पद्धति नीतिशास्त्रीय न होकर ऐतिहासिक है। विकासवादी सुखवादियो ने यह समझाने का प्रयत्न किया कि नैतिक व्यवहार की उत्पत्ति किस प्रकार हुई और उन्होने मानव जीवन के अस्तित्व रक्षण मे कहाँ तक योगदान दिया। उनका दृष्टिकोण प्राकृतिक है। ग्रीन का उसे "नैतिक मान्यताओं का प्राकृतिक विज्ञान कहना यथार्थ ही है। वे मानव व्यवहार का इतिहास समझाते हैं। उनका आधार आदर्श नही बल्कि कार्यकारण है। वे मानव व्यवहार के इतिहास में "क्या" की खोज करते हैं। उनकी जीवन की व्याख्या वैज्ञानिक और ऐतिहासिक है।

परन्तु नीतिशास्त्र "क्या होना चाहिये" की खोज करता है। उसका लक्ष्य तथ्य नहीं बल्कि आदर्श है। वह ऐतिहासिक अथवा तथ्यात्मक न होकर नियामक विज्ञान है। वह कार्यों के उचित अनुचित के निर्णय करने का मानदंड खोजता है। वह शुभाशुभ का विश्लेषण करता है कार्यकारण का नही। उसका लक्ष्य नैतिकता के सच्चे स्वरूप का वर्णन है। उसकी धारणा मूल्यपरक है। इस प्रकार वास्तव में विकासवादी सुखवाद नीतिशास्त्र के मुख्य प्रश्नो को अछूता ही छोड देता है।

२. नीतिशास्त्र को जीवशास्त्र के नियमो के आधार पर खड़ा करना उसके सच्चे स्वभाव को भुला देना है। प्राकृतिक जीवन और नैतिक जीवन मे महान अन्तर है। पशु जीवन मे "जिसकी लाठी उसकी भैंस" का सिद्धान्त चल सकता है। परन्तु मानव जीवन के नैतिक सिद्धान्त प्राकृतिक चुनाव (Natural Selection) और योग्यतम की विजय (Surirval of the fittest) के जीव शास्त्रीय सिद्धान्तों पर लागू नहीं हो सकते। मानव का ध्येय येन केन प्रकारेण जीवन रक्षण करना

नहीं हो सकता। नैतिक नियमों की रक्षा के हेतु जीवन का बलिदान भी किया जा सकता है। जीवशास्त्रीय सिद्धान्तों पर उपयोगितावाद और परार्थवाद की स्थापना नहीं की जा सकती। पशु जीवन में "जीवो जीवस्य भोजनम्" का सिद्धान्त चलता है। मानव जीवन का आदर्श त्याग, परार्थ-कार्य और लोककल्याण है। जैविक जीवन मे बल ही सब कुछ है परन्तु नैतिक जीवन में आत्म त्याग है। अलैग्ज़ैण्डर ने यह स्वीकार किया है कि जीवशास्त्रीय धारणा नैतिक मूल्यो को नहीं समझा सकती। समयानुकूल जीवन रक्षण के उद्देश्य से आचरण करना कोरा अवसरवाद है। जैसा कि कान्ट ने कहा है नैतिक नियम निरपेक्ष आदेश हैं।

३. विकासवादी सुखवाद के आदर्श वास्तव मे नैतिक आदर्श ही नही हैं नैतिकता का आदर्श जीवन रक्षण नही है। दीर्घायु और सुखी जीवन भौतिक आदर्श हो सकता है नैतिक आदर्श नहीं। नैतिकता का आदर्श सादा जीवन उच्च विचार है "चौडाई" अथवा जटिलता का जीवन नहीं। पहले तो जटिल जीवन से सुख के स्थान पर दुख ही मिलने की अधिक संभावना है। और यदि सुख मिले भी तब भी सुखमात्र को नैतिक जीवन का साध्य नहीं माना जा सकता। लम्बाई और चौड़ाई में भी परस्पर संगति नही है। अधिकतर यही देखने में आया है कि एक के होने पर दूसरा गुण नही होता। जीवन में लम्बाई और चौड़ाई दोनो का एक साथ होना नितान्त कठिन है। जीवन का मूल्य उसकी लम्बाई नहीं बल्कि उसकी नैतिक उत्कृष्टता से मापा जा सकता है। प्राकृतिक नियमों के अनुसार चलना कभी-कभी स्वास्थ्य के लिए आवश्यक हो सकता है। परन्तु प्राकृतिक नियम नैतिक नियम नहीं हैं और न उनके आधार पर शुभाशुभ का निर्णय किया जा सकता है। प्राकृतिक जीवन गुणविहीन जीवन है। नैतिक जीवन में गुण प्रधान हैं। पशु जीवन परतन्त्र हैं नैतिक जीवन का आधार आत्मनियन्त्रण या स्वतन्त्रता है। पशु वातावरण के अनुसार बन जाता है परन्तु मनुष्य वातावरण को अपने अनुसार बदलने की चेष्टा करता है। मनुष्य और पशु के इस भेद को विकासवादी भूल जाते हैं। वास्तव में जीवशास्त्र और नीतिशास्त्र की समस्याएँ परस्पर भिन्न हैं। नैतिक सामंजस्य पशु सामंजस्य नही हैं।

४. व्यक्ति और समाज तथा शरीर और उसके अंग के सम्बन्ध एक से नहीं हैं। व्यक्ति समाज के विरुद्ध भी जा सकता है। उससे अलग भी रह सकता हैं। उसकी अपनी प्रथक सत्ता है, स्वतन्त्र चेतना है, अपना जीवन है। परन्तु शरीर का कोई भी अंग उससे प्रथक नहीं रह सकता। शरीर से प्रथक उसका अपना कोई अस्तित्व कोई जीवन नहीं। वे जीव रचना पर निर्भर हैं। शरीर का शुभ ही उनका शुभ है। परन्तु नीति शास्त्र में समाज के शुभ के अतिरिक्त भी व्यक्ति का अपना निजी शुभ हैं। नैतिक जीवन में स्वार्थ और परमार्थ दोनों का समुचित स्थान है। सामाजिक व्यक्ति की भी अपनी आत्मा है। वही आत्मा शुभाशुभ का निर्णय करती

है। जीव रचना और समाज रचना में सादृश्य हो सकता है और मेरे उस सादृश्य को मान लेने से व्यक्ति और समाज के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है है परन्तु जीव रचना और समाज रचना में भेद भी है और उस भेद को भुला देना नैतिकता के सच्चे स्वरूप को भूल जाना है।

५. सहज ज्ञानवादियों के विरुद्ध विकासवादी नैतिकता को आनुवंशिक और जाति द्वारा अर्जित मानते हैं। नैतिक नियम वे नियम हैं जिनको मानव जाति ने अपने संरक्षण में लाभदायक पाया और इसी कारण यह गुण वंशानुक्रम से मानव को प्राप्त होते रहे। परन्तु अनुभव के आधार पर बने नियम सार्वभौम नहीं हो सकते जबकि नैतिक नियम सार्वभौम होने चाहिये। देश और काल के साथ अनुभव भी बदलता है अतः उस पर आधारित नियम कोई स्थायी नैतिक मानदण्ड नहीं दे सकते। ऐसी स्थिति में शुभाशुभ का निर्णय किस प्रकार किया जा सकता है। विकासवाद नैतिक व्यवहार के विकास के इतिहास को समझाने में सहायक हो सकता है परन्तु उससे नैतिक धारणाओं का उद्‌गम पता नहीं चलता और न ही उसकी प्रामाणिकता का आधार ही ज्ञात होता है।

६. जीवन रक्षण और सुख को अभिन्न मानना भ्रामक है। कभी-कभी दुख भी जीवनवर्धक हो सकते हैं। कड़वी दवा, स्वास्थ्य के नियमों का कठोर पालन दुखद होते हुए भी जीव रक्षण में कितना सहायक है। इसी प्रकार इन्द्रिय लोलुपता जन्य भोग सुखदायक होते हुए भी जीवन नाशक हैं। सुखोपयोग की अति अधिकतर जीवन का क्षय ही करती है। जीवन का विकास और क्षय सुख और दुख की अनुभूतियों से नहीं मापा जा सकता। सुख दुख कर्मों के परिणाम हो सकते हैं प्रेरक नहीं।

७. उपयोगितावादियों के समान ही विकासवादी भी स्वार्थ और परमार्थ के परस्पर सम्बन्ध को नहीं समझ पाये। उपयोगितावादियों के समान उन्होंने भी कर्तव्य और सुख, स्वार्थ और परमार्थ को सर्वथा विरुद्ध मान लिया और जहाँ उपयोगितावादियों ने इस खाँई को भावना से भरना चाहा वहाँ विकासवादियों ने उसकी जैविक नियमों द्वारा समझाना चाहा। परन्तु जैविक अथवा सामाजिक, राजनैतिक अथवा आर्थिक नियमों से नैतिक नियमों की अनिवार्यता नहीं समझाई जा सकती। वे तो भौतिक वाध्यता अथवा वाह्य नियन्त्रण के ही सूचक हैं। नैतिक जीवन का आधार कर्तव्य की भावना है। यह अनिवार्य और चिरस्थायी है। इसके साथ आनन्द की अनुभूति है वाध्यता का दुख नहीं। वास्तव में जैविक सिद्धान्तों के आधार पर व्यक्ति और समाज के पारस्परिक नैतिक सम्बन्धों की व्याख्या नहीं की सकती।

८. विकासवादी सुखवाद को सुखवाद कहना भूल है। स्पेन्सर के अनुसार उचित अनुचित का मानदण्ड शारीरिक स्वास्थ्य है। लेस्ली स्टीफन के अनुसार सामाजिक रचना और प्राणशक्ति का रक्षण ही एकमात्र ध्येय है। अतः नैतिक नियमों का मूल्य स्वास्थ्य अथवा प्राणशक्ति की वृद्धि और सामाजिक रचना की रक्षा

मे सहायक होने पर निर्भर है। अतः फिर सुख की वृद्धि अथवा दुख का पूर्ण नाश नैतिक आदर्श नहीं हो सकता। विकासवादी सुखवाद का आधार जीवशास्त्र हैं परन्तु स्वयं जीवशास्त्र ही सुखवादी नहीं हैं। जीवशास्त्र के नियम बतलाते हैं कि कर्म से शक्ति बढ़ती और भोग से क्षय होती है। अत्यधिक सुख प्राणशक्ति का घातक है। वास्तव मे कर्म का शुभ होना उसके सुखप्रद होने पर निर्भर है।

६. अतः स्पेन्सर का परम आदर्श भ्रान्ति पूर्ण है। वह एक ऐसे आदर्श समाज की कल्पना करता है जिसमे पूर्ण सामंजस्य होगा और परिणाम स्वरुप नितान्त दुख शून्य पूर्ण सुख। स्पेन्सर के अनुसार सामंजस्य के अभाव से ही दुख होता है। पूर्ण सामजस्य की स्थिति में दुख का सर्वथा अभाव होगा। उस परि-स्थिति में नीतिशास्त्रीय नियम सहज और स्वाभाविक हो जायेंगे। यह आशावाद अनावश्यक है। मानव जीवन का इतिहास इस प्रकार के आशावाद के लिये कोई आधार नही उपस्थित करता। पहले तो यही सिद्ध करना कठिन है कि समस्त मानव जाति की गति इस प्रकार के सामंजस्य की ओर है। दूसरे यदि यह मान भी लिया जाय कि मानव सतत गति की ओर ही जा रहा है तब भी यह मानना कठिन होता है कि यह प्रगति कभी पूर्ण सामंजस्य की स्थिति पर भी आ सकती है।

१०. पूर्ण सामजस्य का आदर्श विकासवाद के सिद्धान्त के विरुद्ध है। विकास परिवर्तनशील है। मानव का विकास वातावरण से सामंजस्य पर निर्भर नहीं है ना ही उसका लक्ष्य वातावरण से सामंजस्य करना है। विकास का अर्थ अपनी आत्म चेतना के अनुसार प्रगति करना है। इस विकास में दृढ़ नीतिमान व्यक्ति वातावरण को ही अपने आदर्श के अनुसार परिवर्तित करने की चेष्टा करते हैं। इसमे यह कहना गलत होगा कि प्राकृतिक विकास स्वयं ही पूर्ण सामंजस्य स्थापित कर देगा। नैतिक जीवन आत्म चेतन जीवन है। वह नैतिक व्यक्ति के स्वतन्त्र सकल्प पर निर्भर है। नैतिकता अचेतन सामंजस्य से ऊपर है। वह यह खोज करती है कि समाज की आदर्श स्थिति क्या है? जैसे-जैसे मानव का नैतिक विकास होता जाता है वैसे उसके आदर्श भी उच्च ते जाते हैं अतः इस विकास में किसी प्रकार की स्थिर आदर्श स्थिति की कल्पना करना भ्रामक है।

Q. 6. Give a critical exposition of Herbert-spencer's theory of ethics.

प्र० ६. हर्बर्ट-स्पेन्सर के नीति-सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।

उत्तर :—हर्बर्ट स्पेन्सर का नैतिक सिद्धान्त विकासवादी सुखवाद कहलाता है। उसने ही प्रथमबार विकासवाद के सिद्धान्तो को नीति के क्षेत्र मे लागू किया। उसने नैतिकता में विकास का निर्देश किया। नैतिक नियम व्यवहार के नियमों के विकास से उत्पन्न हुए हैं। व्यवहार के नियम मानव के वातावरण से सतत संघर्ष के अनुभव पर आधारित हैं। इस प्रकार हर्बर्ट स्पेन्सर जीव जगत के नियमों से नैतिक नियमो

को निकालने की चेष्टा करता है। उसकी पद्धति ऐतिहासिक पद्धति है। उसका सिद्धान्त वैज्ञानिक कहा जाता है। उसके अपने शब्दो में "नैतिक विज्ञान का कार्य जीवन के नियमों से यह निगमन करना है कि किस प्रकार के कार्य आवश्यक रूप से सुख उत्पन्न करते है और किस प्रकार के कार्य दुख उत्पन्न करते हैं। उसके नियमों का व्यवहार के नियमो के रूप में मानना चाहिये और सुख अथवा दुख के प्रत्यक्ष अनुमान को छोड़कर उनका पालन किया जाना चाहिये।"

परम श्रेय :—हर्बर्ट स्पेन्सर के अनुसर "जीवन का अन्तिम श्रेय आनन्द है परन्तु जीवन का सन्निकट (Proximate) ध्येय जीवन की लम्बाई और चौडाई है।" लम्बाई का अर्थ है दीर्घायु होना। चौडाई का अर्थ है जीवन की जटिलता। इस प्रकार स्पेन्सर के शब्दो मे "सदैव आत्मरक्षण की ओर प्रवृत्त विकास तब अपनी सीमा पर पहुँचता है जब कि जीवन लम्बाई और चौडाई दोनो मे अधिकतम होता है।" आत्म रक्षण और जाति रक्षण ही मानव जीवन का परम लक्ष्य है। स्पेन्सर के आनन्द का अर्थ सुख है। उपयोगितावादियो के समान वह भी सुख को ही मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मानता है। "यह अनिवार्य है कि सब कही सुखदायक ही शुभ है।"

शुभाशुभ का निर्णय :—अतः स्पेन्सर के अनुसार सुखदायक व्यवहार शुभ है और दुखदायक अशुभ। सभी कर्मों मे कुछ न कुछ सुख और दुख का समावेश रहता है। परन्तु दुख की अपेक्षा सुख का अनुपात अधिक होने पर व्यवहार अपेक्षाकृत शुभ और सुख की अपेक्षा दुख का अंश अधिक होने पर कार्य अपेक्षाकृत अशुभ कहा जा सकता है। पूर्णतः शुभ तो वही कार्य होना जिसमे सुख के साथ दुख का लेशमात्र भी न हो।

हर्बर्ट-स्पेन्सर ने सुख और दुख का जैविक महत्व माना है। उसके अनुसार "विकास के सिद्धान्त से यह एक अनिवार्य निगमन है कि दुख उन क्रियाओ के साथ होता है जो कि शरीर रचना के लिये हानिकारक हैं और सुख उन क्रियाओ के साथ होता है जो कि उसके कल्याण में सहायक हैं।" अतः सुख जीवन रक्षण का चिह्न है और दुख जीवन के क्षय का। जीव जगत के उदाहरण से स्पेन्सर इस परिणाम पहुँचता है कि सुख जीवन में सहायक और दुख हानिकारक। सुख दुख के इस महत्व को लेने पर वे कार्य शुभ कहे जाएँगे जो कि जीवन रक्षण में सहायक हों और वे अशुभ जो कि जीवन के घातक हों। जैविक नियमों के आधार पर जीवन के लिये वातावरण से अनुकूलता आवश्यक है। जीव सदैव वातावरण के अनुकूल बनने की चेष्टा करता है। इस सामंजस्य में उसकी सहायता करने वाले कार्य शुभ हैं और रुकावट पैदा करने वाले कार्य अशुभ।

नैतिक चेतना का विकास :—बेन्थम के समान स्पेन्सर भी नैतिक चेतना के लिये बाहरी दवाव को आवश्यक मानता है। नैतिक चेतना के मूल में एक भावना

का दूसरी भावना पर अधिकार है। कर्तव्य की भावना बाहरी दबावों के कारण उत्पन्न होती है। स्पेन्सर के अनुसार ये दबाव हैं राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक। इसके दबाव के कारण नैतिक बाध्यता का अनुभव होता है। परन्तु स्पेन्सर के अनुसार यह बाध्यता स्थायी नहीं है। वह तभी तक है जब तक कि मानव का समाज अथवा वातावरण से अपूर्ण सामंजस्य है। पूर्ण सामजस्य होने पर कर्तव्य भी स्वाभाविक हो जाएँगे और बाध्यता की अनुभूति का लोप हो जायगा। उपरोक्त तीन बाह्य दबावों के अतिरिक्त स्पेन्सर मिल के समान आन्तरिक दबाव को भी मानता है। यह आन्तरिक दबाव अथवा कर्तव्य या नैतिक बाध्यता की अनुभूति ही नैतिक चेतना का सच्चा आधार है। परन्तु यह नैतिक बाध्यता की अनुभूति अस्थायी है जैसे जैसे नैतिकता की वृद्धि होगी वैसे वैसे बाध्यता की अनुभूति क्रमशः लुप्त हो जायेगी। स्पेन्सर के शब्दो मे "जबकि पहले-पहल प्रेरक कारण में दबाव का एक तत्व होता है, अन्त मे यह दबाव का तत्व मर जाता है और कार्य उसको करने की बाध्यता की चेतना के बिना ही होता है। इस प्रकार मूलतः इस चेतना के अर्न्तगत कार्य का करना कि वह होना चाहिये। अन्ततः इस प्रकार की चेतना के साथ नहीं होगा।" तब उचित कार्य एक आदत बन जायगा और उसके साथ किसी प्रकार की बाध्यता न होकर उसको करने का सन्तोष मात्र होगा।

स्वार्थ और परार्थ का समन्वय :—स्पेन्सर के अनुसार "जीवन के प्रभात काल से ही स्वार्थ परार्थ पर निर्भर रहा है जैसे कि परार्थ स्वार्थ पर निर्भर रहा है और विकास के क्रम में दोनो की परस्पर सेवा बढ़ती रही है। इस प्रकार शुद्ध स्वार्थ अथवा शुद्ध परार्थ दोनो ही अनुचित हैं।" केवल स्वार्थमय और केवल परार्थमय दोनो ही प्रकार के जीवन अनुचित है। अतः स्पेन्सर स्वार्थ और परार्थ के समन्वय पर जोर देता है। मानवता के विकास के साथ स्वाथ और परार्थ का यह समझौता स्वयं ही क्रमशः स्थापित हो रहा है। आदर्श स्थिति में व्यक्ति और समाज के स्वार्थों मे कोई भेद न रहेगा। स्वार्थ परार्थ पर निर्भर है और परार्थ स्वार्थ पर। दोनों एक दूसरे के बिना आत्मघाती हैं। स्पेन्सर भविष्य में एक ऐसे आदर्श समाज की कल्पना करता है जबकि व्यक्ति का समाज से और समाज का व्यक्ति से कोई भी संघर्ष न होगा। जब तक समाज और व्यक्ति के सम्बन्धों मे पूर्ण सामजस्य नहीं है, नैतिक नियम सापेक्ष हैं। पूर्ण सामंजस्य होने की अवस्था मे कर्म दुखशून्य और विशुद्ध सुखदायी होंगे।

निरपेक्ष और सापेक्ष नैतिकता :—इस प्रकार स्पेन्सर सापेक्ष और निरपेक्ष नैतिकता मे भेद करता है। निरपेक्ष नैतिक आदेश वे हैं जो कि आदर्श समाज में ही पालन किये जा सकते हैं जिसमें कि व्यक्ति और समाज के स्वार्थों में पूर्ण सामजस्य है। इसके विरुद्ध एक अपूर्ण समाज मे व्यक्तियो का व्यवहार सापेक्ष नैतिक आदेशों पर आधारित रहता है।

स्पेन्सर का विश्वास है कि मानव विकास एक ऐसी स्थिति की ओर हो रहा है जबकि व्यक्ति और समाज के स्वार्थ एक होंगे, उनमें पूर्ण सामंजस्य होगा। उस समय नैतिक बाध्यता का सर्वथा लोप हो जायेगा और परार्थ के कार्यों में कोई कष्ट की अनुभूति न होगी।

आलोचना :—१. विकासवादी सुखवाद का सिद्धान्त सामाजिक व्यवहार का इतिहास उपस्थित करता है परन्तु नीति शास्त्र के नियामक सिद्धान्त नहीं बतलाता। नीतिशास्त्र मानव के आदर्शों का रूप निर्धारित करता है उसके इतिहास का वर्णन नहीं करता।

२. स्पेन्सर का मानव व्यवहार के इतिहास का जैविक वर्णन सर्वथा अनुचित है। जैविक और नैतिक विकास के सिद्धान्त परस्पर भिन्न हैं। जीव रचना का विकास वंशानुक्रम और वातावरण के प्रभाव से होना है। नैतिक नियम देशकाल निरपेक्ष हैं। जैविक जगत मे कार्यकारण सम्बन्ध प्रधान है। उसमें किसी प्रकार का संकल्प स्वातन्त्र्य नहीं। नैतिकता संकल्प की स्वतन्त्रता पर आधारित है। वातावरण से प्रभावित होते हुए भी नैतिक विकास अधिकतर व्यक्ति की अन्तर्दृष्टि और कार्यों पर निर्भर रहता है। प्राकृतिक चुनाव और योग्यतम का संरक्षण के सिद्धान्त नैतिकता के ससार में लागू नही होते। यहाँ पर शक्ति ही शुभ न होकर शुभ ही शक्ति है। नैतिक संसार में शारीरिक बल की नही बल्कि नैतिक शक्ति की विजय होती है। उसमें संघर्ष के स्थान पर सहयोग और स्वार्थ के स्थान पर प्रेम की स्थापना होती है।

३. इसी प्रकार स्पेन्सर की सुख और दुख की जैविक व्याख्या भी अनुचित है। सुख सदैव जीवन की वृद्धि का सूचक और दुख उसके ह्रास का सूचक नहीं है। सुख से जीवनी शक्ति का क्षय ही होता है। विलासी लोग अधिक समय तक जीवित नहीं रहते। संघर्षप्रिय जातियाँ ही अधिक काल पर्यन्त जीवित रहती हैं। इसी प्रकार सुख को कार्यों का प्रेरक कारण मानना भी भारी भूल है। कर्मो की प्रेरणा किसी प्रकार की कमी की दुखमय अनुभूति में होती है। उस दुख की वेदना को दूर करने के लिये किसी वस्तु को प्राप्त करने की प्रेरणा होती है। प्राप्ति होने पर सन्तुष्टि और फलस्वरूप सुख हो सकता है। इस प्रकार सुख कर्मो का प्रेरक नहीं बल्कि परिणाम है। इसी प्रकार यह मानना भी अनुचित है कि सुख से सदैव स्वास्थ्य की वृद्धि होती है। अत्यधिक सुख से स्वास्थ्य की हानि ही होती देखी गई है। शारीरिक श्रम और व्यायाम कष्ट साध्य होने पर भी स्वास्थ्यवर्द्धक होता है। आलस्य से सुख मिलने पर भी स्वास्थ्य का नाश होता है। अतः स्पेन्सर के साथ यह मानना कठिन है कि सुख स्वास्थ्यवर्द्धक और दुख स्वास्थ्य नाशक है।

४. जीवन की लम्बाई और चौड़ाई नैतिक माप नहीं हो सकते। दीर्घायु से नैतिकता का कोई सम्बन्ध नहीं है। एक परोपकारी सन्त का अल्प जीवन भी एक

स्वार्थी व्यक्ति के दीर्घ जीवन से अधिक श्रेष्ठ है। इसी प्रकार चौड़ाई अथवा जटिलता भी नैतिक आदर्श नहीं हो सकता। बहुधा सादा आडम्बरहीन जीवन ही अधिक नैतिक होता है। इसके अतिरिक्त चौड़ाई का लम्बाई से सामंजस्य नहीं है। जटिल जीवन में कष्ट और संघर्ष की अधिकता होने के कारण दीर्घायु का अवसर कम होता है। फिर जीवन की लम्बाई और चौड़ाई भौतिक अथवा जैविक आदर्श है नैतिक आदर्श नहीं।-

५. स्पेन्सर विकास की व्याख्या उसके लक्ष्य से न करके उसके आरंभ से करता है। वह आदर्श को यथार्थ से निकालने की चेष्टा करता है। परन्तु यह असंभव है। "चाहिये" को "है" से नहीं निकाला जा सकता। नैतिकता की उत्पत्ति अनैतिक तत्वों से नहीं हो सकती। नैतिक चेतना का उद्गम मूल प्रवृत्तियों में खोजना भूल है। जैविक तथ्यों में नैतिक मूल्यों का विकास नहीं हो सकता। नीतिशास्त्र की पद्धति प्रयोजनवादी है। विकासवादी अथवा ऐतिहासिक पद्धति से उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती।

६. मैकैन्जी के अनुसार स्पेन्सर का सिद्धान्त घोड़े के आगे गाड़ी रखने के समान है। वातावरण से सामजस्य किसी आदर्श को लेकर किया जाता है आदर्श सामंजस्य के तत्व से नहीं निकलता। मैकैन्जी के शब्दों में "मुख्य (नैतिक) समस्या अन्तरंग को बाह्य के अनुकूल बनाना नहीं बल्कि बाह्य को ही अन्तरंग के अनुसार बनाना है, आत्मा को प्रकृति के अनुसार ढालना नहीं बल्कि प्रकृति को ही नैतिक और सौन्दर्यात्मक आदर्शों से बढ़ते हुए सामजस्य के अनुसार ढालना है।

७. स्पेन्सर के बतलाए हुए बाह्य दबाव नैतिक चेतना नहीं उत्पन्न कर सकते। नैतिक बाध्यता बाह्य दबावों का परिणाम नहीं है। अन्तरग दबाव के लिये भी नैतिक चेतना की आवश्यकता है। नैतिकता कोई आत्मगत अनुभूति नहीं है। उसको किसी प्रकार के बाह्य अथवा आन्तरिक दबावों से नहीं समझाया जा सकता।

८. नैतिक बाध्यता को नैतिक चेतना का अस्थायी तत्व समझना भूल है। वह नैतिक चेतना का एक स्थायी तत्व है। नैतिक उन्नति के साथ-साथ नैतिक बाध्यता की अनुभूति भी बढ़ती ही जाती है। जितनी ही अधिक नैतिक उन्नति होगी उतना ही ऊँचा नैतिक आदर्श और उतनी ही अधिक नैतिक बाध्यता। सामाजिक सामजस्य की कमी से नैतिक बाध्यता की व्याख्या नहीं की जा सकती। उससे केवल दबाव की अनुभूति को ही समझाया जा सकता है। नैतिक बाध्यता का सम्बन्ध नैतिक आदर्श से है और नैतिक आदर्श असीम होने के कारण जीवन में पूरी तरह कभी भी नहीं उतारा जा सकता। अतः नैतिक बाध्यता की अनुभूति नैतिक चेतना का स्थायी अंग है और उसकी व्याख्या नैतिक आदर्श से ही की जा सकती है।

९. स्पेन्सर की पूर्ण समाज की कल्पना उसके विकास के ही विरुद्ध है। म्युरहैड के अनुसार विकास कभी भी सन्तुलन की स्थिति नहीं हो सकता। थोडा बहुत सन्तुलन स्थापित होते ही फिर नवीन शक्तियों का जन्म होता है और सन्तुलन बिगड़ जाता है। व्यक्ति और समाज का ऐसा सामंजस्य जिसमें संघर्ष और कष्ट का नामोनिशान न हो मृत्यु की स्थिति के समान है। मानव का दैवी असंतोष समाज की किसी भी अवस्था से सतुष्ट नहीं हो सकता।

१०. स्पेन्सर का निरपेक्ष नीति का आदर्श अनैतिक है। नैतिकता न तो प्रकृति से विकसित ही हो सकती है और न वह प्रकृति का अंग ही बन सकती है। यथार्थ और आदर्श का संघर्ष चिरंतन है। नैतिक बाध्यता स्थायी है। अतः निरपेक्ष नीति की कल्पना नैतिकता के विरुद्ध है। इसके साथ ही उससे मानव व्यवहार के लिये कोई स्पष्ट निर्देश भी नहीं प्राप्त होता।

Q. 7. Examine critically the attempts made by Evolutionary Hedonists to remedy the limitations of earlier form of Hedonism. (Alld. 55)

प्र० ७. विकासात्मक सुखवादी विचारक किस प्रकार पूर्वकालीन सुखवाद के दोषों का निवारण करते हैं—इसकी आलोचना कीजिए।

उत्तर :—देखिये प्रश्न ३ और ४ का उत्तर (अध्याय ६)।

अध्याय ७

RIGORIGM OF KANT

(कान्ट का कठोरतावाद)

Q. 1. Write critical notes on ;

(a) The absoluteness of moral standard. (Alld. 52).
नैतिक मानदंड की निरपेक्षता (५२)

(b) The Categorical Imperative. (Alld. 52).
निरपेक्ष आदेश (५४)

(c) 'Duty is for duty's sake'
कर्तव्य कर्तव्य के लिए है।

उत्तर :—कान्ट का नीतिशास्त्र की महत्ता मे दृढ़ विश्वास था। नैतिक नियम बुद्धि के आदेश हैं और अन्य नियम इच्छाओ से प्रेरित होते हैं। इच्छाओं से प्रेरित नियम केवल वैधानिक आदेश (Technical Imperatives) हैं। वे वाह्य परिणाम और सुखानुभूति पर निर्भर हैं। सवेदनशील जीवन के नियम बौद्धिक नियमों से विरुद्ध हैं। वाह्य ध्येय केवल सांकेतिक आदेश (Hypothetical Imperative) ही दे सकता है। उदाहरण के लिये धन कमाना कोई निरपेक्ष आदेश नहीं हो सकता। वह व्यक्ति की परिस्थिति, आवश्यकता और योग्यता पर निर्भर है।

परन्तु इसके विपरीत नैतिक नियम बौद्धिक नियम होने के कारण निरपेक्ष आदेश (Categorical Imperative) हैं। उनमें अपवाद के लिये कोई स्थान नहीं है और सभी अवस्थाओं मे उनका पालन होना ही चाहिये इसलिये वे आदेश हैं। अन्न आदेश अनुभव पर आधारित हैं। नैतिक आदेश अनुभवपूर्व (A-priori) हैं। वे 'क्या' से नहीं बल्कि 'चाहिये' से सम्बन्धित हैं। वे तथ्यात्मक नहीं बल्कि आदर्शात्मक हैं।

अतः कान्ट ने कर्तव्य के लिये कर्तव्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। नैतिक जीवन स्वशासित जीवन है। नैतिक आदेश व्यवहारिक बुद्धि के आदेश है। जीवन का ध्येय सद्गुण है सुख नहीं। कान्ट के अनुसार "सदिच्छा ही ऐसा रत्न है जो अपने ही प्रकाश से चमकता है।" व्यवहारिक बुद्धि स्वयं ही अपने ऊपर नैतिक नियम लागू करती है नैतिक जीवन में भावना के लिये कोई स्थान नहीं है। कान्ट के अनुसार किसी के दुख से दुखी होकर उसकी सहायता करना नैतिक नहीं है। कर्मों का मूल्य उनके परिणाम पर निर्भर न होकर हेतु पर निर्भर है। वह उसके हेतु पर ही निर्भर है। कर्म करने मे केवल एक ही प्रेरक कारण हो सकता है और

वह है नैतिक नियम के प्रति आस्था। कर्तव्य प्रेम, सहानुभूति अथवा मोहवश नहीं बल्कि केवल कर्तव्य के लिये किये जाने चाहिये। कर्तव्य में बाध्यता है। उसका आदेश परम है। वह व्यक्ति की इच्छा अनिच्छा पर निर्भर नहीं है। अन्य आदेशों में कार्य-कारण सम्बन्ध मिलता है। नैतिक नियमो का कार्यकारण सम्बन्ध से कोई मतलब नही। वह न तो अनुभव पर आधारित है, न अनुभव उसको प्रमाणित ही करते हैं। नैतिक नियम सार्वभौम है। कर्तव्य सभी परिस्थितियो में अनिवार्य है।

आलोचना :—१. जेकोबी (Jacobi) के अनुसार कान्ट का संकल्प ऐसा संकल्प है जो कोई सकल्प नही करता। संकल्प विषय हीन नहीं हो सकता। कान्ट के नैतिक नियम केवल आधार मात्र है उनसे यह नही ज्ञात होता कि विशेष परिस्थिति मे हमारा क्या कर्तव्य है।

२. 'कर्तव्य कर्तव्य के लिये' का सिद्धान्त एक मनोवैज्ञानिक द्वैत पर आधारित है। कान्ट बुद्धि और भावनाओ को परस्पर विरुद्ध मानता है। वह यह भूल जाता है कि ये दोनो ही आत्मा के अभिन्न अग है। सवेगशीलता ही नैतिक जीवन का वस्तु विषय है। उसके बिना कोई भी कार्य संभव ही नही है। प्रत्येक कार्य का कोई न कोई प्रेरक कारण अवश्य होता है।

३. नैतिक जीवन से भावना का पूर्ण बहिष्कार कर देने से कान्ट का मत कठोर हो गया है। उसने भावनाओं का कठोर निग्रह करने का आदेश दिया है परन्तु इस प्रकार का अनुभूति शून्य जीवन एकांगी हो जायगा। आत्म-लाभ ही सर्वोच्च श्रेय है और अनुभूतियों को निकाल देने से वह उस सीमा तक असम्भव हो जायगा। कठोरतावाद सुखवाद के समान ही एकागी है। पूर्णतावाद में दोनों की ही चरम परिणिति है।

४. नैतिक नियम को सर्वथा निरपेक्ष मानकर कान्ट किसी भी अपवाद की आज्ञा नही देते। परन्तु कुछ बाते तो अपवाद होने के कारण ही श्रेष्ठ होती हैं। ब्रह्मचर्य सभी पालन नहीं कर सकते। सभी के पालन करने से स्वयं ब्रह्मचारियों का भी लोप हो जाएगा क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति रुक जायगी। परन्तु अपवाद होने पर भी ब्रह्मचर्य को सभी श्रेष्ठ मानते हैं।

५. म्यूरहैड (Muirhead) के अनुसार "नैतिक गुण, वास्तव में अपने विरोधी (अर्थात् इच्छा) के जीवन मे रहता है।" कान्ट कर्तव्य और संवेगशीलता मे निरतर संघर्ष मानते हैं और इस संघर्ष में कर्तव्य की विजय ही कार्य की नैतिकता का कारण है। कान्ट के अनुसार यह संघर्ष जितना ही अधिक होगा उतना ही अधिक भी कार्य नैतिक होगा। यह विचार जहाँ एक ओर नैतिक बल को कसौटी पर कसने की आवश्यकता दिखलाता है वहाँ संघर्ष को अनिवार्य भी बना देता है।

६. जेम्स सेठ के शब्दों में "अपनी संवेगशीलता को मार दीजिए और आप स्वयं को अपने साथियों से पृथक कर लेंगे।" बुद्धिपरतावाद अनिवार्य रूप से व्यक्तिवादी बन जाता है। हमारी सामाजिकता का आधार बुद्धि नहीं बल्कि प्रेम, सहानुभूति इत्यादि अनुभूतियाँ हैं।

७. जेकोबी के अनुसार "नियम मनुष्य के लिये बनते हैं, मनुष्य नियम के लिये नहीं बनते।" मानव आँख मूँदकर नियम का पालन नहीं कर सकता। अतः नैतिक नियम को निरपेक्ष आदेश कहना कठोरतावाद-सा लगता है। परन्तु फिर भी कर्तव्य की महत्ता को दिखलाने में इस कथन का बड़ा महत्व है।

Q. 2. "Act in confirmity with that maxim only which you can at the same time will to be a universal law". How far can this formal principle of ethics be applicable to concrete moral life ? (Alld. 57).

प्र० २. "सदा उस सिद्धान्त के अनुसार कार्य करो और केवल उसी सिद्धान्त के अनुसार कार्य करो जिसे तुम एक सार्वभौम नियम बन जाने की इच्छा कर सको।" नीति शास्त्र का यह रूपात्मवादी सिद्धान्त कहाँ तक वास्तविक नैतिक जीवन में प्रयुक्त हो सकता है ? (५७).

उत्तर :—कान्ट ने नैतिक नियम को निरपेक्ष आदेश माना। परन्तु निरपेक्ष आदेश एक विषय वस्तुहीन आकार मात्र है। उससे यह नहीं ज्ञात होता कि हम अपने जीवन को किस प्रकार नैतिक बनाएँ अथवा शुभ और अशुभ, कर्तव्य और अकर्तव्य क्या है। अतः कान्ट ने कुछ नैतिक नियम बनाकर निरपेक्ष आदेश को और भी निश्चित रूप देना चाहा।

इनमें से प्रथम नैतिक सूत्र यह है "सदा उस सिद्धान्त के अनुसार कार्य करो और केवल उसी सिद्धान्त के अनुसार कार्य करो जिसे तुम एक सार्वभौम नियम बन जाने की आशा कर सको।" इस वाक्य को समझाने के लिये कान्ट शपथ तोड़ने का उदाहरण देता है। यदि शपथ तोड़ने का नियम सार्वभौम हो जाय अर्थात् प्रत्येक शपथ तोड़ने लगे तो शपथ लेने का कोई अर्थ नहीं रह जायगा। इसी प्रकार अत्यन्त निराश होने पर कोई व्यक्ति आत्म-हत्या करने की सोच सकता है परन्तु यह इसीलिये अनुचित है कि यह सार्वभौम नियम नहीं बन सकता। यदि सभी मनुष्य आत्महत्या करने लगेंगे तो शीघ्र ही कोई भी मनुष्य आत्महत्या करने के लिये नहीं बचेगा।

आलोचना :—१. इस सिद्धान्त के द्वारा कान्ट नैतिक नियम को एक निश्चित स्वरूप देना चाहता था। परन्तु इससे यह काम नहीं चलता। किसी कार्य की नैतिकता उसकी परिस्थिति पर निर्भर रहती है। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति की

परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं अतः यह कैसे कहा जा सकता है कि मैं एक परिस्थिति मे जो कुछ करता हूँ वह सभी को करना चाहिये।

२. दूसरे यह नियम अपवाद को कोई स्थान नहीं देता और इस कारण कठोरतावादी बन जाता है। जैसा कि जैकोबी ने कहा था "नियम मनुष्य के लिये बनते हैं मनुष्य नियम के लिये नहीं बनते।"

३. कान्ट यह भूल जाता है कि कभी-कभी अपवाद ही सर्वश्रेष्ठ नियम होते हं। यदि किसी देश के सब के सब नागरिक शहीद हो जाँय तो फिर देश ही कहाँ रहेगा। शहीदों की श्रेष्ठता इसी बात में है कि सभी शहीद नहीं बन सकते।

४. इस सूत्र की विशेषता यह है कि यह नीतिशास्त्र के सामाजिक पक्ष पर जोर देता है परन्तु नियमवादी होने के कारण वह कठोरतावादी एवं अव्यवहारिक बन जाता है।

Q 3. "So act as to treat humanity always as an end, never as a means". In the light of this statement, examine Kant's ethical views, (Alld 55).

प्र० ३. मनुष्यों के साथ ऐसी रीति से व्यवहार करना चाहिये कि जिसमे व्यक्ति को साधन (means) न समझकर साध्य (end) ही समझा जाये।" इस वाक्य को ध्यान में रखते हुए कान्ट के नैतिक सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए। (५५).

उत्तर.:—मानव एक बौद्धिक प्राणी है। कान्ट के अनुसार यह बौद्धिक रूप हमारी सच्ची आत्मा एवं वास्तविक रूप है। यह आदरणीय है। यह व्यक्तित्व है और व्यक्तित्व अत्यन्त पवित्र है। वह साध्य है। उसका साधन के रूप मे प्रयोग करना अनैतिक है। किसी को भी अन्य व्यक्ति को अपने स्वार्थ लाभ के हेतु साधन रूप में प्रयोग करने का अधिकार नहीं। मनुष्य का अपना व्यक्तित्व भी पवित्र है और किसी भी व्यक्ति को स्वय का भी साधन रूप में प्रयोग करने का अधिकार नहीं है। हमे न तो अपने को और न औरों को ही दास बनाना चाहिये। अतः कान्ट ने निरपेक्ष नैतिक आदेश को अधिक निश्चित रूप देने के लिये यह नैतिक सूत्र प्रस्तुत किया कि "मनुष्यों के साथ ऐसी रीति से व्यवहार करना चाहिये कि जिसमें व्यक्ति को साधन न समझ कर साध्य ही समझा जाय।"

इस नियम के अनुसार किसी भी व्यक्ति को आत्महत्या करने का अधिकार नहीं है। आत्महत्या करना इसलिये बुरा है क्योंकि ऐसा करने वाला व्यक्ति अपनी आत्मगत मानवता का समुचित आदर नहीं करता और स्वयं को [illegible] का एक साधन मात्र मानता है। इसी प्रकार यदि कोई विद्यार्थी अपने माता पिता के [illegible] से अलग [illegible] हो तो यह भी अनुचित होगा क्योंकि ऐसा करने वाला [illegible] को अपने माता पिता की इच्छा [illegible] का साधन मात्र बना रहा है। [illegible]

प्रकार किसी भी व्यक्ति को इस बात का अधिकार नहीं है कि वह दूसरों को अपना शोषण करने दे। झूठ बोलना इसलिये बुरा है क्योंकि ऐसा करके झूठ बोलने वाला व्यक्ति दूसरों को धोखा देता और अपने स्वार्थ साधन के हेतु प्रयोग करता है। हमें अपने और दूसरों के व्यक्तित्व का आदर करना चाहिये।

अतः उपरोक्त सूत्र से कान्ट एक उपनियम निकालता है। "सदैव अपने को पूर्ण करने की चेष्टा करो और अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करके दूसरों की खुशी बढ़ाने की कोशिश करो क्योंकि तुम दूसरों को पूर्ण नहीं बना सकते।" पूर्णता प्राप्ति के हेतु संकल्प शक्ति और संयम की आवश्यकता है और कोई भी मनुष्य दूसरे को सयमित नहीं कर सकता। अतः वह उन्हें पूर्ण भी नहीं बना सकता। वह केवल ऐसी परिस्थितियाँ जुटा सकता है जिससे उनका आनन्द बढ़े।

आलोचना :—अपने और दूसरों के व्यक्तित्व का सम्मान करने की शिक्षा देने के कारण कान्ट का यह नीति सूत्र अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस बात से सभी सहमत होंगे कि अपने अथवा दूसरों के व्यक्तित्व को साधन रूप में प्रयोग करना अनैतिक है। परन्तु फिर भी कुछ अपवाद तो मानने ही पड़ेंगे। ज्ञान का विस्तार करने, देश रक्षा करने और सत्य की शोध करने में कुछ व्यक्ति अपना जीवन तक बलिदान कर देते हैं और इस प्रकार औरों की ज्ञान वृद्धि अथवा जीवन रक्षा के हेतु स्वयं को साधन के रूप में प्रयोग करते हैं। परन्तु ऐसे महामानवों को कौन अनैतिक कहेगा? इसी प्रकार कभी-कभी कुछ व्यक्तियों को अन्य जनों के हित में साधन रूप में प्रयोग करना ही पड़ता है। उदाहरण के लिये प्लेग के रोगी अथवा अन्य संक्रामक रोगों के रोगियों को नगर के बाहर अन्य लोगों से दूर रखना पड़ता है।

वास्तव में मानव मात्र के साधन रूप में प्रयोग करने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि सभी आत्म-लाभ की ओर उन्मुख हों। उस आत्म लाभ में कभी-कभी आत्म बलिदान ही अधिक सहायक होता है। इस नियम का उपनियम पूर्णतावाद का समर्थन करता है परन्तु यह समझना कठिन है कि जब व्यक्तियों में संवेगशीलता ही अवाँच्छनीय हो तब उनके आनन्द को किस प्रकार बढ़ाया जा सकता है।

Q. 4. Give a critical exposition of Kant's Rationalism. (Alld. 1956).

प्र० ४. कान्ट के बुद्धिपरतावाद की समालोचनात्मक व्याख्या कीजिए। (५६)

उत्तर :—कान्ट के अनुसार बुद्धि के दो रूप हैं विचारात्मक अथवा शुद्ध बुद्धि (Speculative or pure reason) और व्यावहारिक बुद्धि (Practical Reason) शुद्ध बुद्धि का विश्लेषण करके कान्ट ने बुद्धि की सीमाएँ निर्धारित कीं।

नैतिक मान्यताएँ :—नीति के क्षेत्र मे बुद्धि नैतिकता के आधार अथवा मान्यताओं को नहीं समझ सकती। अतः इन मान्यताओं पर विश्वास अथवा

श्रद्धा ही रखनी पड़ती है। संकल्प की स्वतन्त्रता नीतिशास्त्र की मौलिक मान्यता है। यदि मनुष्य के समस्त संकल्प बाह्य प्रकृति द्वारा नियन्त्रित हैं तो फिर नैतिकता का कोई अर्थ नहीं रह जाता। "तुझे करना चाहिये इसलिये तू कर सकता है।" कान्ट के इस वाक्य का यही तात्पर्य था।

कान्ट के अनुसार दूसरी नैतिक मान्यता है आत्मा की अमरता। इच्छा और कर्तव्य के सतत संघर्ष को जीतना ही नैतिकता है। परन्तु यह कार्य इतना कठिन है कि एक सीमित जीवन में उसको पूर्ण करना अशक्य लगता है। अतः अनेक जीवन न होने पर नैतिकता का ध्येय प्राप्त होने की संभावना न रह जायगी। इसलिये यह मानना आवश्यक है कि शरीर के मरने के बाद भी आत्मा नहीं मरती और अन्य शरीर में जीवन धारण करती है।

कान्ट के अनुसार नैतिकता की तीसरी मान्यता है ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास। संसार में हम देखते हैं कि नैतिकता का परिणाम सदैव अच्छा ही नहीं होता बल्कि अधिकतर तो बुरे लोग ही फलते फूलते देखे गए हैं। कान्ट के मतानुसार गुण और आनन्द मिलकर ही पूर्ण शुभ होता है। अतः यदि गुणी व्यक्ति को इस संसार में कष्ट मिलता है और फिर भी नैतिक नियम सच्चे हैं तो यह मानना आवश्यक है कि ईश्वर उनको परलोक में सुख देगा। इस प्रकार ईश्वर गुण और आनन्द का समन्वय करके पूर्ण शुभ की स्थापना करता है और अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा फल देकर नैतिकता को स्थिर रखता है। इस प्रकार कान्ट के अनुसार नैतिकता की तीन मान्यताएँ हैं संकल्प की स्वतन्त्रता, आत्मा की अमरता और ईश्वर का अस्तित्व।

परम श्रेय :—कान्ट के अनुसार गुण ही परम श्रेय है। नैतिकता सर्वोच्च ध्येय है। सदिच्छा स्वयं ही शुभ है। कान्ट के शब्दों में "इस संसार में अथवा इसके बाहर भी सदिच्छा के अतिरिक्त कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो निरपेक्ष रूप से शुभ हो।" सदिच्छा ही एकमात्र रत्न है जो अपनी ज्योति से जगमगाता है। कान्ट के अनुसार गुण ही सदिच्छा है और सदिच्छा है निरपेक्ष आदेश को पूर्ण करना। अतः कर्तव्य के लिये कर्तव्य करना ही परम श्रेय है। परन्तु कान्ट के अनुसार पूर्ण शुभ में गुण के साथ आनन्द भी सम्मिलित है यद्यपि कान्ट यह भी मानता है कि नैतिक व्यक्ति आनन्द पाने के लिये नहीं बल्कि कर्तव्य के लिये ही कर्तव्य करता है। कान्ट के अनुसार नैतिक लक्ष्य हमारी अपनी पूर्णता और दूसरों के आनन्द में वृद्धि है। यह कान्ट के द्वितीय नैतिक सूत्र का उपनियम भी है। इसी कारण ही कान्ट ने ईश्वर के अस्तित्व को नैतिक मान्यता माना है।

व्यक्ति की स्वतन्त्रता—कान्ट के अनुसार नैतिक प्राणी के रूप में व्यक्ति स्वतन्त्र है। मानव स्वशासित (Autonomous) है। अतः उसका स्वरूप है आत्मनियंत्रित होना। मानव एक ओर तो संवेदनशील प्राणी है और दूसरी ओर

बौद्धिक प्राणी। बुद्धि और संवेदना मानव के उच्च और निम्न अंश हैं। इन्द्रियाँ मनुष्य को सदैव अपनी ओर खींचती है और अन्धे के समान चलाती हैं। परन्तु उसकी नैतिक चेतना उसे सदैव याद दिलाती है कि वह प्रवृत्तियों की दासता से मुक्त है और स्वतन्त्र रूप से संकल्प कर सकता है। इस, कार बुद्धि और संवेदनशीलता मे सदैव संघर्ष चलता है। कान्ट के अनुसार यह संघर्ष जितना ही अधिक होगा संकल्प की नैतिकता भी उतनी ही अधिक होगी। इस निम्नस्तर पर विजय पाकर अन्तरंग बौद्धिक आत्मा के अनुसार कार्य करना ही स्वतन्त्रता है और वही नैतिक जीवन का लक्ष्य है। सदिच्छा बुद्धिपरक इच्छा है। वह स्वयं अपने नियम को अपने ऊपर लागू करती है। संकल्प को निरपेक्ष आदेश पर चलना चाहिये। बुद्धि के अनुसार चलना स्वतन्त्रता है, भावना के अनुसार चलना परतन्त्रता।

भावना का निषेध—अतः कान्ट के अनुसार नैतिक जीवन में अनुभूति, संवेगशीलता, अथवा भावना के लिये कोई स्थान नहीं है। इच्छाओं के आधीन होकर कार्य करना सुखवाद है। उसमें बुद्धि साधनमात्र है। ऐसा सुखवाद अनैतिक है। नैतिक जीवन शुद्ध बौद्धिक जीवन है। उसमें से अनुभूतियों और संवेगो को पूर्णतः निकाल देना चाहिये। कान्ट केवल एक भावना को पवित्र मानता है और वह है नैतिक नियम के प्रति आस्था। परन्तु यह वास्तव में संवेग नही है। अतः कान्ट अच्छे या बुरे सभी संवेगों को अनैतिक मानता है।

नैतिक नियम का स्वरूप—कान्ट के अनुसार नैतिक नियम निरपेक्ष आदेश हैं। उसके ऊपर कोई नियम नहीं है। कर्तव्य प्रत्येक दशा मे कर्तव्य है और कर्तव्य आदेश है। उसको तो करना ही चाहिये। नैतिक नियम सार्वभौम हैं। वे कर्ता के सत्य स्वरूप से ही उत्पन्न होते हैं। उनका आधार मानव का नैतिक स्वभाव ही है। शुभ संकल्प परम शुभ है और शुभ संकल्प बुद्धिपरक संकल्प है। अन्य वस्तुएँ सीमित रूप से शुभ है क्योंकि विशेष परिस्थितियों मे ही उनका महत्व है परन्तु शुभ संकल्प प्रत्येक परिस्थिति मे शुभ है क्योंकि उसका शुभत्व उसके परिणाम पर निर्भर नहीं है। अतः सिद्धान्त के अनुरूप किये गए कर्म स्वतः शुभ है। इच्छाओं और भावनाओं से किए गए कर्म अनैतिक हैं चाहे वे इच्छाएँ कितनी भी पवित्र और वे भावनाएँ कितनी भी ऊँची क्यों न हों। नैतिक गुण आन्तरिक गुण है। कान्ट का आदेश है, "अपना कर्तव्य करो चाहे परिणाम कुछ भी हो।" नैतिक नियम अनुभव निरपेक्ष हैं। उन्हें प्रमाणों की अपेक्षा नहीं। कान्ट के मतानुसार यदि सत्य बोलना नैतिक कर्तव्य है तो प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक परिस्थिति में सत्य ही बोलना चाहिये। महाभारत के युद्ध में युधिष्ठिर का द्रोणाचार्य से बोला हुआ झूठ कान्ट के मत में घोर अनैतिक कर्म होगा। किसी भी परिस्थिति में नैतिक नियम का उल्लंघन नहीं किया जा सकता।

नैतिक सूत्र—परन्तु कान्ट ने यह देखा कि केवल कर्तव्य के लिये कर्तव्य के निरपेक्ष आदेश से जीवन में व्यावहारिक आचरण के लिये समुचित निर्देश नहीं मिलता। नैतिक नियम आकार मात्र है उनको भरने के लिये, उनको व्यवहार में उतारने के लिये कुछ व्यावहारिक नियमों की आवश्यकता है। कान्ट ने इस प्रकार के तीन नैतिक सूत्र उपस्थित किये—

१. "सदा उस सिद्धान्त के अनुसार कार्य करो और केवल उसी सिद्धान्त के अनुसार कार्य करो जिसे तुम एक सार्वभौम नियम बन जाने की इच्छा कर सको।" (इस नियम की विस्तृत व्याख्या के लिये प्र० २ का उत्तर देखिये)।

२. "इस प्रकार कार्य करो कि मानवता को, चाहे वह तुम्हारे अपने व्यक्तित्व में हो अथवा किसी दूसरे के व्यक्तित्व में, सदैव साध्य के रूप में प्रयोग करो साधन के रूप में नहीं।" (इस नियम की विस्तृत व्याख्या के लिये प्र० ३ का उत्तर देखिये)।

३. "एक साध्यों के राज्य के सदस्य के रूप में काम करो।" इसका अर्थ है "इस प्रकार कार्य करो कि स्वयं को और प्रत्येक अन्य व्यक्ति को आन्तरिक मूल्य वाला समझ कर व्यवहार करो; एक ऐसे समाज के सदस्य के रूप में व्यवहार करो जिसमें कि प्रत्येक दूसरे के शुभ को अपने से समान मूल्य का समझता हो और उसके साथ बाकी लोग भी इसी प्रकार व्यवहार करें, जिसमें कि प्रत्येक साध्य और साधन दोनों हो, जिसमें कि दूसरे के शुभ की वृद्धि करते हुए प्रत्येक अपना शुभ प्राप्त करे।" इस प्रकार कान्ट एक ऐसे "साध्यों के राज्य" की कल्पना करता है जो कि आदर्श समाज है और जिसमें सभी सदस्य नैतिक नियम का पालन करते हैं। उस समाज का प्रत्येक व्यक्ति स्वाशासित है और स्वय ही अपने ऊपर नैतिक नियम को लागू करता है जो कि उसका आन्तरिक बौद्धिक नियम है। बौद्धिक नियम सार्वभौम है। अतः उसके अनुसार चलने वाले प्राणियों में पूर्ण पारस्परिक सामंजस्य रहता है। नैतिक राज्य पूर्ण राज्य है। उसमें सभी सदस्य एक दूसरे के व्यक्तिगत और सामाजिक सम्बन्धों में स्वय को और अन्य जनों को व्यक्ति समझते हैं। इस राज्य में मनुष्य बौद्धिक नियमों का स्वाभाविक रूप में पालन करता है। नैतिक नियम न तो बाह्य नियम है और न दैवी आदेश। वह आत्म आरोपित है। उनका पालन किसी बाहरी दबाव पर आधारित नहीं है। इस प्रकार पूर्ण समाज में सभी व्यक्ति स्वतन्त्र, बुद्धिपरक और सुखी होंगे।

इस प्रकार कान्ट सद्गुण और आनन्द का सामंजस्य आवश्यक मानता है। यदि नैतिकता को कोरी श्रद्धा की वस्तु नहीं बनाना है यदि उसका कुछ आन्तरिक मूल्य भी है तो एक ऐसे समाज के अस्तित्व की कल्पना करनी ही पड़ेगी जिसमें सद्गुण और आनन्द का सामंजस्य हो। तभी नैतिक नियम कर्मों के सच्चे प्रेरक बन सकते हैं। मनुष्य को यह आशा और विश्वास होना चाहिये कि उसका [illegible]

का जीवन आनन्द और सामंजस्य का जीवन होगा। यह सामंजस्य की स्थिति नैतिक पूर्णता की स्थिति है। नैतिक शुभ का लक्ष्य परम शुभ है। नैतिक शुभ तो कर्तव्य के लिये कर्तव्य करना ही है। उसमें पूर्ण तटस्थता की आवश्यकता है। उसका आनन्द से कोई सम्बन्ध नहीं। परन्तु परम शुभ मे सद्‌गुण और आनन्द दोनो ही हैं यद्यपि कान्ट यह मानता है कि वह इस एक ही जीवन में संभव नहीं है। परन्तु अन्ततोगत्वा नैतिक शुभ परम शुभ को अवश्य प्राप्त करता है। यह विश्वास नैतिकता का आधार है।

अलोचना :—बुद्धि और संवेगशीलता मे मनोवैज्ञानिक द्वैत कान्ट के नैतिक सिद्धान्त बुद्धि और संवेगशीलता में मनोवैज्ञानिक द्वैत की कल्पना पर आधारित है। वह इन दोनो को परस्पर विरोधी मानता है। वह इस तथ्य को भूल जाता है कि ये दोनो ही आत्मा के अभिन्न अग हैं। संवेगशीलता नैतिक जीवन का वस्तु विषय है। उसको बुद्धि की आकृति की आवश्यकता है। उसका बुद्धि-विरोधी होना आवश्यक नहीं। उसके बिना वस्तुतः कोई भी कार्य नही हो सकता। अतः नैतिक जीवन के लिये संवेगशीलता अनिवार्य है। द्वैतवादी मनोविज्ञान भ्रान्तिपूर्ण है।

२. अतः संवेगशीलता की अनुपस्थिति मे कान्ट के नीति वाक्य आकार मात्र हैं (विस्तृत आलोचना के लिये प्रश्न १, २, व ३ के उत्तरो को देखिये)। कान्ट का तृतीय नीति सूत्र भी आकार मात्र है। हमको एक साध्यो के राज्य के नागरिक समान सभी को साध्य रूप मे प्रयोग करना चाहिये। साधन रूप मे नहीं। ऐसा कहने से व्यावहारिक जीवन में कुछ भी यथार्थ निर्देश नहीं मिलता। औरो का शुभ क्या है ? हमे किस प्रकार उसकी करनी चाहिये ? इस विषय मे कुछ भी पता नहीं चलता।

३. कान्ट ने आनन्द (Happiness) और सुख (Pleasure) का एक ही अर्थों में प्रयोग किया है। परन्तु यदि आनन्द सुख है तो वह इच्छाओ के दमन के पश्चात् कैसे संभव है और फिर कैसे ईश्वर नैतिक व्यक्ति को आनन्द देता है तथा कैसे पूर्ण शुभ मे गुण के साथ आनन्द की भी कल्पना की जा सकती है।

४. कान्ट का विशुद्ध नैतिकतावाद एकांगी है। वह सम्पूर्ण परिस्थिति के नैतिक मूल्य को भूल जाते हैं। परन्तु परिणाम की सर्वथा उपेक्षा करके कर्तव्य पालन केवल सन्यासवाद ही नहीं बल्कि अनुचित भी हो सकता है। यदि हमारे झूठ बोलने से किसी निर्दोष के प्राण बचते हो तो उस अवस्था में सत्य बोलकर उसके प्राणो से खेलना कहाँ तक नैतिक हो सकता है। कर्म स्वयं ही नैतिक नहीं हो सकता। उसमें प्रेरणा और परिणाम दोनों का ही महत्व है।

६. **कान्ट के नीतिशास्त्र की विशेषतायें :**—(अ) कान्ट के कठोरतावाद का व्यावहारिक मूल्य है। वास्तव में अधिकतर मनुष्य स्वयं ही यह नही जानता

कि किसी कार्य को करने में उसका वास्तविक उद्देश्य क्या है। उसकी अचेतन वासनाएँ बहुधा उसको भ्रमित कर देती है। अतः सदैव कर्तव्य का ध्यान रखकर कार्य करना ही सर्वश्रेष्ठ है। कान्ट पारमार्थिक और उदार वृतियों को पाशविक वृतियों के समकक्ष नहीं रखता। वह उनको नैतिक नहीं मानता परन्तु फिर भी उच्च और प्रशंसनीय मानता है। मानव दुर्बलताओं को समझकर ही उसने कर्तव्य के लिये कर्तव्य का उपदेश दिया है।

(ब) सुखवाद के अनुसार नैतिक नियमों का महत्व उनके परिणाम पर आधारित है। इस प्रकार वह व्यक्ति की व्यवसायिक बुद्धि पर आधारित हो जाते हैं। यहाँ पर कान्ट के 'निरपेक्ष नैतिक आदेश' के सिद्धान्त का बड़ा महत्व है। कान्ट ने नैतिक नियमो को निरपेक्ष, सार्वभौम और आदेश मानकर बहुत बड़े सत्य की स्थापना की।

(स) कान्ट ने बुद्धि को सर्वश्रेष्ठ मानकर एक यथार्थ सत्य का प्रतिपादन किया। मानव को व्यक्ति की संज्ञा देने वाला तत्व एकमात्र बुद्धि ही है। उसी प्रकार शुभ जीवन भी मूलतः बौद्धिक जीवन ही होगा। आत्म त्याग ही आत्म साक्षात्कार का प्रथम सोपान है। परन्तु साथ ही यह भी याद रखने की बात है कि आत्म साक्षात्कार के लिये निम्न प्रवृत्तियों का दमन नहीं बल्कि रूपान्तर होना चाहिये।

(द) कान्ट के अनुसार "भूल करने वाली आत्मा एक कल्पना (chimera) मात्र है।" मानव की अन्तरात्मा उसको भूल करने से सदैव रोकती है। नैतिक अपराध उस अन्तरात्मा की आवाज को न सुनने के कारण होते हैं। कान्ट के इस मत का समर्थन गांधी, सुकरात, ईसा आदि सभी मनीषियों ने किया है।

अध्याय ८

The End as Common Good. The stand point of perfection Ethics of Self-Realization.

(सामान्य शुभ का मानदंड, पूर्णता का मानदंड, आत्मलाभ का नीतिशास्त्र)

Q. 1. Explain clearly what is meant by end as Common good. Discuss the role of self sacrifice in this theory.

(Alld. 54).

प्र० १. सामान्य शुभ के रूप में साध्य का अर्थ स्पष्ट समझाइये। इस सिद्धान्त मे आत्म त्याग के स्थान की व्याख्या कीजिये।

उत्तर :—सामान्य शुभ का सिद्धान्त नीतिशास्त्र में व्यक्ति प्रधान और समाज प्रधान सिद्धान्तों में एक समझौता है। उसके अनुसार न तो वैयक्तिक स्वार्थ ही सम्पूर्ण शुभ है और न सामाजिक स्वार्थ ही एकमात्र साध्य है। म्यूरहैड के शब्दों में "व्यक्तित्व की खोज पूर्ण से पृथक्करण में नहीं बल्कि उसके अन्दर एक निश्चित स्थान को पूरे हृदय से ग्रहण करने में करनी चाहिये।" पूर्ण से सम्बन्ध रखने मे ही व्यक्ति की सत्ता है। वह पूर्ण का एक अविभाज्य अंग है। यह सिद्धान्त प्लेटो, अरस्तू इत्यादि प्राचीन दार्शनिको एवं फिश्टे, शेलिंग, हेगेल, ग्रीन, ब्रैडले, मैकेन्जी, म्यूरहैड जेम्स सेट और जे० एच० पेटन इत्यादि अर्वाचीन विचारको में पाया जाता है।

वैयक्तिक नीतिशास्त्र :—वैयक्तिक नीतिशास्त्र के अनुसार व्यक्ति ही नैतिकता का आधार और केन्द्र है। वही अच्छा या बुरा होता है। नीतिशास्त्र उसी के आदर्शों का अध्ययन करता है। वह समाज के बाहर रहकर भी नैतिक हो सकता है। उसके गुण और अवगुण का निर्माण स्वयं उसी ने किया है। "लोग कहते हैं जमाना है बदलता अक्सर। मर्द वो हैं जो जमाने को बदल देते हैं।" व्यक्ति अपने हित के लिये समाज का निर्माण करता है और अपने हित के लिये ही उसको तोड़ भी सकता है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता ही नीतिशास्त्र का आधार है। अतः नीतिशास्त्र वैयक्तिक है। नीत्शे वैयक्तिक नीतिशास्त्र का बड़ा प्रकांड समर्थक है। सम्पूर्ण समाज का अस्तित्व केवल कुछ बलवान अतिमानवों का विकास करने के लिये है और वे अतिमानव अपने वैयक्तिक शुभ के लिये समाज के अन्य सदस्यों से चाहे जैसा व्यवहार कर सकते हैं। कुछ विकासवादियों के अनुसार सबल और योग्य व्यक्तियों को उत्पन्न करना ही समाज का एकमात्र ध्येय है। व्यक्ति स्वयं समाज बन सकता

है परन्तु समाज व्यक्ति नहीं बन सकता। व्यक्ति समाज के शुभाशुभ, पुण्य पाप और गुण अवगुण से ऊपर उठकर ईश्वर भी बन सकता है। विशुद्ध वैयक्तिक आचरण सामाजिक आचरण और निरपेक्ष आचरण की अवस्था में भी नीतिशास्त्र का केन्द्र व्यक्ति ही रहता है। स्वतन्त्र आचरण सबसे बड़ा सद्गुण है। प्रभुता भी बहुत बड़ा गुण है। साहस, बल और शक्ति प्रेम की गिनती महान् गुणों में है। समाज साधन है व्यक्ति साध्य। नैतिक गुणों का साधन समाज के बाहर रहकर भी हो सकता है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की ओर ले जाने वाले सभी गुण सद्गुण हैं और उसमें बाधक सभी गुण अवगुण।

सामाजिक नीतिशास्त्र :—वैयक्तिक नीतिशास्त्र के सिद्धान्त के विरुद्ध सामाजिक नीतिशास्त्र के प्रतिपादकों के अनुसार समाज साध्य है और व्यक्ति साधन मात्र है। समाज अंगी है और व्यक्ति केवल अंग। अंगी के हित में अंग का बलिदान किया जा सकता है। समाज का हित व्यक्ति के हित से अधिक मूल्यवान है। यहाँ पर जो दार्शनिक व्यक्ति का अस्तित्व समाज के अस्तित्व से पहले मानते हैं उनके अनुसार सामाजिक हित वैयक्तिक हितों का जोड़ है। उनके अनुसार सभी व्यक्तियों का हित अथवा अधिकतम संख्या का अधिकतम हित ही परम साध्य है। इसके विरुद्ध समाज को अनादि और व्यक्ति से अधिक मूल्यवान मानने वाले दार्शनिकों के अनुसार समाज हित में तो व्यक्ति का हित है परन्तु व्यक्ति के हित में समाज का हित कभी नहीं। सामाजिक बुद्धि ही नैतिक बुद्धि है। व्यक्तिगत हितों का नाश करके समाज के हित का साधन करने में ही सच्ची नैतिकता है। समाज को कृत्रिम संस्था मानने वालों में मुख्यतः समझौतावादी और विकासवादी दार्शनिक हैं। समझौतावादियों के अनुसार व्यक्तियों ने अपने हित के लिये समाज की रचना करने का समझौता किया। विकासवादियों के अनुसार समाज की रचना क्रमशः विकास का परिणाम है। सामाजिक नीतिशास्त्र के अनुसार नीतिशास्त्र समाज के आदर्शों पर निर्भर है। धार्मिक और राजनैतिक नीतिशास्त्र इसी आधार पर विकसित हुए हैं। सामाजिक नीतिशास्त्र नित्य और सनातन है। गुण और अवगुण का निश्चय लोक रीति ही करती है। "हजा कहे जिसे आलम उसे बजा समझो। आवाजे खल्क को नक्कारए खुदा समझो।" सामाजिक नीतिशास्त्र ही शास्त्रीय और व्यवहारिक दोनों प्रकार के नीतिशास्त्रों का आधार है। सामाजिक नीतिशास्त्र परोपकार, सम्पत्ति के समवितरण, ममता, दया, दान, न्याय, अहिंसा इत्यादि को महान सद्गुण मानता है। उसके अनुसार विवाह और श्रम विभाजन अनिवार्य संस्थाएँ हैं।

सामान्य शुभ—व्यक्ति और समाज का सामंजस्य :—ध्यान देने पर यह स्पष्ट हो जाएगा कि उपरोक्त दोनों परस्पर विरोधी सिद्धान्त एकांगी हैं। सामान्य शुभ के सिद्धान्त के अनुसार नैतिकता का मानदंड नियम में नहीं बल्कि साध्य में

प्रत्यय मे है। यह साध्य एक आदर्श जीवन है। यह आदर्श जीवन पूर्ण आत्मा का जीवन है। सम्पूर्ण आत्मा का हित ही परम शुभ है। उसको केवल वासना तृप्ति अथवा बौद्धिक शान्ति से नही प्राप्त किया जा सकता उसके लिये निम्न भावनाओं को उच्च आत्मा के आधीन करके सम्पूर्ण आत्मा का हित साधन करना होगा जिसमे भावना और बुद्धि दोनो के हितो का सामंजस्य है। यह पूर्ण आत्मा समाज से स्वतन्त्र कोई इकाई नही है। व्यक्ति की आत्मा मे वैयक्तिक और सामाजिक दोनो ही पक्ष हैं। व्यक्ति समाज का सदस्य है और उसकी नैतिकता में वैयक्तिक और सामाजिक दोनो प्रकार के हितो का सामजस्य है। सामान्य शुभ के सिद्धान्त के अनुसार वैयक्तिक और सामाजिक दोनो ही प्रकार के नीतिशास्त्र एकागी है और सापेक्ष रूप मे व्यवहार्य होने पर भी निरपेक्ष रूप मे भ्रामक सिद्ध होते हैं।

स्वार्थ और परार्थ का सामंजस्य :—सामान्य शुभ के सिद्धान्त के अनुसार स्वाथ और परार्थ का परस्पर विरोध मनोवैज्ञानिक नही है। जीवन की इच्छा सबसे अधिक वैयक्तिक है परन्तु जीवन की इच्छा पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धो पर निर्भर है। इसी प्रकार सभी प्रकार की परार्थवादी इच्छाओं के साथ कोई न कोई वैयक्तिक हित की भावना सयुक्त है। अपने पडोसी को अपनी आत्मा का अंश समझकर ही हम उसका हित साधन करने को प्रवृत्त हो सकते हैं। उपनिषदों मे याज्ञवल्क्य के इस कथन का भी यही अर्थ है कि स्त्री पुत्रादिक स्त्री पुत्रादिकों के लिये नही बल्कि आत्मा के लिये प्यारे हैं। यह बात निसंदेह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मनुष्य सभी कार्यों मे अपनी आत्मा का हित खोजता है। परन्तु इसके साथ यह भी स्मरणीय है कि व्यक्ति की आत्मा मे सामाजिक और वैयक्तिक पक्ष दोनो हैं। श्री अरविन्द इत्यादि योगी-दार्शनिको के अनुसार आत्मा को इतना विस्तृत किया जा सकता है, उसकी अहंकार जनित संकुचित दीवारों को तोडकर उसको इतना व्यापक बनाया जा सकता है कि उसके हित में सभी का हित समा जाय। गीता मे स्थित प्रज्ञ की यही स्थिति है।

व्यक्ति का विकास :—सामान्य शुभ के सिद्धान्त के अनुसार समाज से बाहर रहकर व्यक्ति का विकास असंभव है। जन्म के समय व्यक्ति किसी "कोरी पट्टी" की तरह नही होता। उसके गुण और प्रवृत्तियाँ इत्यादि वंशानुक्रम, उसके समाज, परिवार, वातावरण इत्यादि से प्रभावित रहते हैं। हिन्दू, मुस्लिम और ईसाई, भारतीय और योरोपीय समाजो मे उत्पन्न बच्चो पर इन समाजो के भिन्न-भिन्न संस्कार होगे। शिक्षा से इन सस्कारों को विकसित और परिमार्जित किया जा सकता है उत्पन्न अथवा नष्ट नहीं किया जा सकता। शिक्षा भाषा के माध्यम से होती है और भाषा समाज की देन है। नैतिक शिक्षा मे भी सामाजिक परम्पराओ, विश्वासो और रूढ़ियों का बहुत बडा स्थान है। नैपोलियन, सीजर और गाँधी, मुहम्मद तथा ईसा जैसे महान पुरुष जमाने को बदलने वाले हो सकते हैं परन्तु वे अपने ज़माने

के प्रतिनिधि भी हैं। प्रत्येक अवतार अपने विशिष्ट युग के अनुरूप होता है। युग की आत्मा उनके द्वारा प्रगट होती है। डा० जान्सन ने इसी अर्थ में शेक्सपियर को "युग की आत्मा" कहा है।

सामाजिक अवयवीय सिद्धान्त :—सामान्य शुभ का सिद्धान्त समाज को जैविक रचना के समान अवयवीय मानने के विरुद्ध है। परन्तु वह उसके सामाजिक अर्थों पर जोर देता है। व्यक्तियों से प्रथक कोई सामान्य सामाजिक मस्तिष्क अथवा मन नहीं है परन्तु उसी प्रकार कोई वैयक्तिक मन भी ऐसा नहीं हो सकता जिसने समाज से कुछ न लिया हो। सामाजिक रचना जैविक रचना से केवल इस अर्थ में भिन्न है कि वह (Spiritual) रचना है जिसमें व्यक्ति और समाज दोनों अपने में पूर्ण होकर भी अन्योन्याश्रित हैं। अतः शुद्ध स्वार्थ जैसी कोई वस्तु नहीं हो सकती। मनुष्य न तो पशु है और न देवता। उसमें स्वार्थ और परार्थ दोनों ही हैं। अरस्तू के शब्दों में "वह व्यक्ति जो कि समाज में नहीं रहता या रहना इसलिये आवश्यक नहीं समझता है कि वह स्वयं अपने लिये पर्याप्त है, या तो पशु है अथवा देवता।"

आत्म लाभ और आत्म त्याग :—अतः समाज सेवा में व्यक्ति अपना भी हित साधन करता है। गीता के अनुसार लोक संग्रह आत्म लाभ अथवा ईश्वर को पाने का एक अनिवार्य साधन है। समाज से दूर भाग कर अपने स्वार्थों को बचाना उनको खो देना है। दूसरी ओर समष्टि के जीवन में अपने जीवन का अनुभव करना, अपनी आत्मा को विश्वात्मा से एक रूप करके "सर्वभूतहितेरताः" का जीवन व्यतीत करना ही वास्तविक जीवन है। कहा जाता है कि "अपने जीवन को बचाना उसको खो देना है और अपने जीवन को खो देना उसका बचाना है।" मानव का जीवन स्वार्थमय भी हो सकता है और परार्थमय भी। समष्टि के जीवन में अपने जीवन का अनुभव करना ही मनुष्यता है। कवि मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में "यही पशु प्रवृत्ति है कि आप आप ही चरें। मनुष्य है वही कि जो मनुष्य के लिये मरे।" स्वार्थ का जीवन व्यतीत करना, त्याग से जीवन बचाना वास्तविक जीवन को खो देना है, और आत्म त्याग का परोपकारमय जीवन व्यतीत करना ही सच्चे जीवन को पाना है। कर्तव्य की मान्यता का केवल यही आधार है कि वह हमारे अन्दर अवस्थित सार्वभौम आत्मा का आदेश है। सामान्य शुभ व्यक्ति का परम शुभ है क्योंकि उसी में उसकी चरम वैयक्तिकता है। उसी में उसका परम आत्म लाभ है। इस प्रकार सामान्य शुभ के सिद्धान्त में आत्मत्याग आत्म लाभ का एकमात्र और अनिवार्य साधन है।

आलोचना :—१. सामान्य शुभ का सिद्धान्त स्वार्थ और परार्थ की अति प्राचीन समस्या को सुलझाता है। वास्तविक दोष मनुष्य के आत्म प्रेम में नहीं है बल्कि उसके आत्म संकीर्ण, अज्ञानमय अहंकार में है। अपनी सच्ची सार्वभौम

आत्मा को पहचान कर, 'अहं ब्रह्मास्मि' के साथ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के सत्य को जानकर सच्चे आत्म प्रेम के जीवन में स्वार्थ और परार्थ का सामंजस्य है। इस प्रकार का आत्म लाभ आत्म त्याग पर निर्भर है।

२. सामान्य शुभ का सिद्धान्त सुखवादी और बुद्धिवादी, स्वार्थवादी और परार्थवादी नैतिक सिद्धान्तो मे सामंजस्य स्थापित करता है। उसने यथार्थ सार्वभौम पूर्ण आत्मा के स्वरूप पर जोर दिया जिसमे कि भावात्मक पक्ष और बुद्धि पक्ष समान रूप से महत्वपूर्ण हैं।

३. इस सिद्धान्त ने व्यक्तित्व के सच्चे रूप को सामने रखा। सच्चा व्यक्तित्व मनुष्य की बौद्धिक और सार्वभौम आत्मा है। उसी का जीवन सचा जीवन है। उसी का लाभ अथवा साक्षात्कार सच्चा आत्म साक्षात्कार है।

४. इस सिद्धान्त ने नैतिक बाध्यता के यथार्थ रूप को स्पष्ट किया। नैतिक बाध्यता कर्तव्य की बाध्यता है। वह मनुष्य के स्वतन्त्र व्यक्तित्व में बौद्धिक और सार्वभौम आत्मा के आदेश की बाध्यता है।

५. यह सिद्धान्त व्यक्ति और समाज के सामंजस्यपूर्ण कल्याण का सिद्धान्त है। इसमें व्यक्ति और समाज दोनो के अधिकारो को अक्षुण्ण रखा गया है। यह विश्व मे सर्वत्र संगति और समानता देखता है।

६. यह सिद्धान्त समस्त नैतिक सिद्धान्तों के गुणों को लेकर नैतिक नियम की व्याख्या करता है। वह आत्म साक्षात्कार और सर्वोदय अथवा सामान्य शुभ को परम ध्येय मानकर वैयक्तिक और सामाजिक नीतियों में सामंजस्य उत्पन्न करता है।

Q. 2. He who is unable to live in society, or who has no need because he is suffcient for himself, must be either a beast or a god' (Aristotle) Explain and discuss the ethical doctrine implicated in this statement. (Alld. 58).

प्र० २. "वह व्यक्ति जो कि समाज में नहीं रहता या रहना इसलिये अनावश्यक समझता है कि वह स्वयं अपने लिये पर्याप्त है, या तो पशु है अथवा देवता"—(अरस्तू)—इस कथन में निहित नैतिक सिद्धान्त की व्याख्या या समालोचना कीजिए। उत्तर :—पिछला प्रश्नोत्तर देखिये

Q. 3. Explain the meaning of self-realization. How is self-realization a synthesis of Hedonism and Rationalism? (Alld. 56).

प्र० ३. आत्मपूर्णता का क्या अर्थ है? आत्मपूर्णतावाद किस प्रकार सुखवाद और बुद्धिपरतावाद का समन्वय करता है?

Q. 4. "Perfectionism reconciles Hedonism with Rationalism and Egoism with Altruism". Discuss. (Agra. 52).

प्र० ४. 'आत्म पूर्णतावाद, सुखवाद और बुद्धिपरतावाद में तथा स्वार्थ और परार्थवाद में सामंजस्य स्थापित करता है'—इस कथन की विवेचना कीजिए।

Q. 5. State and examine the theory of the end as self conquest (Alld. 52).

प्र० ५. आत्म लाभ को ध्येय मानने वाले सिद्धान्त की व्याख्या और समीक्षा कीजिये।

उत्तर :—आत्म पूर्णतावाद वह नैतिक सिद्धान्त है जिसके अनुसार जो आत्म लाभ, आत्म विकास अथवा पूर्णता ही परम लक्ष्य है। यह यूडायामोनिज्म (Eudaemonism) भी कहलाता है। यह शब्द यूडायामोनिया (Eudaemonia) नामक ग्रीक शब्द से बना है जिसका अर्थ है 'कल्याण'। अतः पूर्णतावाद कल्याण को परम श्रेय मानता है। यह कल्याण सम्पूर्ण व्यक्तित्व का, पूर्ण आत्मा का कल्याण है।

सुखवाद और बुद्धिपरतावाद का समन्वय :—आत्म पूर्णता का अर्थ समस्त आत्मा की पूर्णता है। समस्त आत्मा मे भावनात्मक अथवा वासनात्मक आत्मा भी सम्मिलित है और बुद्धि भी। आत्मा की पूर्णता के लिये उसके समस्त अंगो को यथायोग्य स्थान मिलना चाहिये। अतः पूर्णतावाद मे वासनात्मक आत्मा बुद्धि के आदेशों पर चलती है। बुद्धि द्वारा वासनाओं पर नियंत्रण रखने में ही आत्मा का कल्याण है। मनुष्य मे बौद्धिक तत्व ही उसको पशुओं से ऊँचा उठाता है। वासनात्मक आत्मा मानव में पशु का अंश है और बुद्धि मनुष्यता का चिन्ह है। अतः आत्म लाभ के लिये हीन आत्मा पर उच्च आत्मा का नियंत्रण अनिवार्य है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि पूर्णतावाद कठोरता का समर्थन करता है। पूर्णता के साथ आनन्द संलग्न है और आनन्द की प्राप्ति इच्छाओं अथवा भावनाओं की सम्यक् तृप्ति से ही हो सकती है। अतः पूर्णतावाद बुद्धि पूर्वक इच्छाओं की तुप्ति को मगलमय मानता है।

इस प्रकार पूर्णतावाद सुखवाद और बुद्धिपरतावाद का समन्वय है। सुखवाद के अनुसार इन्द्रियों की वासनाओं की तृप्ति ही परम लक्ष्य है। वह भावनाओं के अधिकार की रक्षा करता है। उसके अनुसार आत्मा शुद्ध ऐन्द्रिक है। परन्तु बुद्धिपरतावाद के अनुसार आत्मा शुद्ध बुद्धिमय है और नैतिक जीवन में भावना अथवा वासना का कोई स्थान नहीं। इस प्रकार बुद्धिपरतावाद केवल बुद्धि के ही अधिकारों की रक्षा करता है। सुखवाद के अनुसार बुद्धि वासनाओं की दास है और बुद्धिपरतावाद के अनुसार आदर्श जीवन शुद्ध बौद्धिक जीवन है। आत्म पूर्णतावाद बुद्धि और वासना दोनों को ही आत्मा के अनिवार्य अंग मानता है।

जेम्स सेठ के शब्दों में "जिस प्रकार सुखवाद का ध्येय आत्म सुख अथवा आत्म सन्तोष कहा जाता है और बुद्धिवाद का आत्म त्याग अथवा आत्म निरोध उसी प्रकार कल्याणवाद (Eudaemonism) का ध्येय आत्म साक्षात्कार अथवा आत्म लाभ कहा जा सकता है।" सुखवाद के अनुसार आत्मा वासनात्मक है, बुद्धिवाद के अनुसार बौद्धिक। परन्तु पूर्णतावाद के अनुसार आत्मा बौद्धिक भी है और वासना मय भी। इस प्रकार पूर्णतावाद में अनुभूति और बुद्धि दोनों का स्थान है। इच्छाएँ और वासनाएँ नैतिक जीवन के उपादान हैं। बुद्धि उनको आकार प्रदान करती है। जॉन केयर्ड (John Caird) के शब्दों में "नैतिकता अथवा नैतिक जीवन मानव को उच्च और निम्न प्रकृति में विरोध का वह सुलझाव कहा जा सकता है जो कि निम्न को उच्च के प्रगट होने के साधन के रूप में रूपान्तरित करने से प्राप्त किया जाता है।" जीवन से वासनाओं को बिल्कुल निकाल देने से तो नैतिक जीवन ही समाप्त हो जायगा क्योंकि वासनाएँ ही तो नैतिक जीवन का उपादान हैं। अतः पूर्णतावाद वासनाओं को निष्कासित नहीं बल्कि रूपान्तरित करना चाहता है। वासनाओं की अनुपस्थिति में बुद्धि किस पर क्रिया करेगी। बुद्धिपरतावाद की सबसे बड़ी भूल वासनाओं को निर्बुद्धि समझना था। वासनाएँ ही बुद्धि की नियन्त्रण क्रिया की सामग्री हैं। आत्म साक्षात्कार अथवा आत्म लाभ के लिये छिन्न-भिन्न वासनाओं को एकत्रित, नियन्त्रित और समन्वित और रूपान्तरित करके बौद्धिक आत्मा के प्रगट होने का साधन बनाना है। इस प्रकार आत्म पूर्णतावाद सुखवाद और बुद्धिपरतावाद का समन्वय करता है।

स्वार्थ और परार्थ का समन्वय :—मानव की आत्मा में बुद्धि का अंश सामाजिक अंश है और वासनात्मक पक्ष वैयक्तिक। सुखवाद स्वार्थ की ओर ले जाता है। उसके अनुसार वासनाओं की तृप्ति ही एकमात्र श्रेय है। सुखवाद के आधार पर उपयोगितावाद की स्थापना करने के समस्त प्रयास असफल रहे। दूसरी ओर बुद्धिवाद परार्थ की ओर ले जाता है। उसके अनुसार वासनात्मक अंश को पूर्णतः निकाल फेंकना चाहिये। पूर्णतावाद के अनुसार आत्म साक्षात्कार ही परम श्रेय है। इसका अर्थ है निम्न आत्मा का उच्च आत्मा द्वारा नियंत्रण से पूर्ण आत्मा का साक्षात्कार करना। वैयक्तिकता और विश्वमयता एक ही आत्मा के दो पक्ष हैं। दोनों में से किसी के भी नियमों को निरपेक्ष रूप से दूसरे पर लादना अनुचित है। उच्च आत्मा के साक्षात्कार के लिये निम्न आत्मा का रूपान्तर करना होगा। उच्च आत्मा विश्वमय है। उसका साक्षात्कार सामाजिक नैतिकता अथवा परार्थ पर ही निर्भर है। अतः पूर्ण आत्मा के साक्षात्कार के लिये स्वार्थ और परार्थ के समन्वय की आवश्यकता है। स्वार्थ से ऊपर उठकर जीवमात्र के कल्याण में ही अपना कल्याण देखना नैतिक विकास का लक्षण है। पूर्णतावाद के अनुसार स्वार्थ और-परार्थ में कोई मौलिक संघर्ष नहीं है। सर्वोच्च शुभ सर्वोच्च सामाजिक कल्याण

है। सर्वोच्च सामाजिक कल्याण और सर्वोच्च वैयक्तिक कल्याण में कोई असंगति नहीं। सामान्य शुभ में समाज और व्यक्ति दोनों का ही कल्याण है। पूर्णतावाद सम्पूर्ण आत्मा का शुभ है। वह वासना तथा बुद्धि दोनों की ही परिपूर्णता है। उसमें स्वार्थ और परार्थ दोनों का समन्वय है। वह आनन्द सहित वासना और बुद्धि का सामजस्यपूर्ण विकास है।

आत्म त्याग के द्वारा आत्म लाभ :—इस प्रकार पूर्णात्मा के दो पक्ष हैं उच्च बौद्धिक आत्मा और निम्न वासनात्मक आत्मा। उच्च बौद्धिक आत्मा का जीवन परोपकार, ज्ञान, प्रकाश और शुभ का जीवन है। निम्न आत्मा का जीवन स्वार्थी, हीन, वासनात्मक एवं पाशविक जीवन है। मनुष्य एक ही समय में मानवीय और पाशविक, परार्थी और स्वार्थी, उच्च और हीन जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। कुछ काल पशु और कुछ काल मानव का जीवन बिताना भी नैतिकता नहीं होगी। अतः नैतिक व्यक्ति को इनमें चुनाव करना पड़ेगा। उसको उच्च, बौद्धिक, सामाजिक और परार्थवादी जीवन के लाभ के लिये निम्न, वासनात्मक, वैयक्तिक और स्वार्थी जीवन का खोना होगा। इसी अर्थ में यह प्रसिद्ध उक्ति कही गई है कि अपने जीवन को पाना उसको खोना है और खोना जीवन को पाना है। यही "जीने के लिये मरो" की प्रसिद्ध उक्ति का रहस्य है। उच्च आत्मा में जीने के लिये निम्न आत्मा का जीवन छोड़ना होगा। मेकैन्जी के शब्दों में "हम सामाजिक साध्यों का साक्षात्कार करके ही सच्ची आत्मा अथवा पूर्ण शुभ का साक्षात्कार कर सकते हैं। ऐसा करने के लिये हमें व्यक्तिगत मात्र आत्मा का निषेध करना चाहिये जो कि सच्ची आत्मा नहीं है। हमें अपनी आत्मा का परित्याग करके अपना आत्मलाभ करना चाहिये।" समाज को छोड़कर उच्च जीवन लाभ नहीं किया जा सकता। समाज के माध्यम से ही हम अपनी उच्च आत्मा का साक्षात्कार कर सकते हैं क्योंकि यह उच्च आत्मा सामाजिक आत्मा है। हमें न तो कोरा वैयक्तिक शुभ खोज करना है और न कोरा सामाजिक कल्याण। पूर्णतावादी का लक्ष्य एक ऐसी आदर्श व्यवस्था का साक्षात्कार करना है जिसमें व्यक्ति और समाज दोनों का कल्याण है। इस आदर्श को पाने के लिये आत्म त्याग की आवश्यकता है। जोन केयर्ड के शब्दों में "नैतिकता अथवा नैतिक जीवन का निजी अथवा निरपेक्ष आत्मा का त्याग और हमारे जीवन का हमसे परे एक सदैव विस्तृत होने वाले आध्यात्मिक जीवन के क्षेत्र से तादात्म्य के रूप में वर्णन किया जा सकता है।"

परन्तु उच्च आत्मा की प्राप्ति के लिये निम्न के विनाश की आवश्यकता नहीं क्योंकि ऐसा करने पर पूर्ण आत्म लाभ असम्भव है। "जीने के लिये मरो" का अर्थ ईसाई धर्म में शरीर का विनाश था। हेगेल ने इसका अर्थ लिया आत्मा के उच्च रूप को पाने के लिये निम्न आत्मा की मृत्यु। परन्तु हेगेल के बाद के हेगेलीय विचारकों में प्रमुख जोन केयर्ड ने निम्न आत्मा के विनाश नहीं बल्कि रूपान्तर

साधन पर ज़ोर दिया। भारत के आधुनिक दार्शनिक योगी अरविन्द ने भी इस रूपान्तर पर बड़ा ज़ोर दिया है। पूर्ण आत्मा का लाभ तभी संभव हो सकता है जब कि निम्न आत्मा का उच्च की प्रकृति के अनुसार रूपान्तर कर लिया जाय। इसमें निम्न आत्मा के पाशविक रूप का त्याग करना पड़ेगा। आत्म लाभ के लिये आत्म त्याग का यही यथार्थ अर्थ है। उच्च नैतिक और आध्यामित्क जीवन की प्राप्ति के लिये निम्न आत्मा को जीतकर रूपान्तरित करना होगा।

Q. 5. Write short notes on :—1. Self realisation through self-sacrifice. (Alld. 56). 2. To seek one's life is to lose it, to lose it is to find it. (Alld 52).

प्र० ५. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये :—१. आत्म त्याग के द्वारा आत्म-लाभ

२. "अपने स्वयं के जीवन को खोजना ही उसको खोना है, उसको खोना ही उसको पाना है।"

उत्तर :—पिछला प्रश्नोत्तर देखिये।

Q. 6. What is the significance of the expression :—(a) Be a person, (b) Die to live? Consider these in relation to the conception of self realisation as an ethical principle.

(Agra. 50).

प्र० ६. 'व्यक्ति बनो' और 'जीने के लिये मरो' इन उक्तियों का महत्व क्या है? आत्म लाभ के नैतिक सिद्धान्त के प्रकाश में इन उक्तियों पर विचार कीजिये।

उत्तर :—'व्यक्ति बनो' यह उक्ति जन्म जात इच्छाओं और वासनाओं के संगठन के द्वारा व्यक्तित्व के निर्माण पर ज़ोर देती है। हेगेल ने इसका अर्थ लगाया है हमारे व्यक्तित्व (Personality) में से हमारी वैयक्तिकता (Individuality) का निर्माण। अपनी निम्न वासनाओं के नियंत्रण और परिष्कार के द्वारा हमें अपनी उच्च आत्मा को प्राप्त करना चाहिये। अपनी पाशविक आत्मा के रूपान्तरण द्वारा अपनी बौद्धिक आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिये। व्यक्तित्व साधन नहीं है। वह साध्य है। पूर्णतावादी परम शुभ में व्यक्ति और समाज दोनों का शुभ सम्मिलित है। अतः हमें अपने व्यक्तित्व के निर्माण की अधिकाधिक चेष्टा करनी चाहिये तथा दूसरों के व्यक्तित्व का सम्मान करना चाहिये। हेगेल के शब्दों में "व्यक्ति बनो और व्यक्तियों के रूप में दूसरों का सम्मान करो।"

('जीने के लिये मरो' इस उक्ति की व्याख्या के लिये पिछला प्रश्नोत्तर देखिये।)

Q. 7. 'Perfectionism embodies all the elements of truth contained in other systems of morality' Explain. (Agra. 54).

प्र० ७. 'पूर्णतावाद में नैतिकता की अन्य व्यवस्थाओं में उपस्थित सभी तत्वों का समावेश है' इस कथन को समझाइये।

उत्तर :—पूर्णतावादी सिद्धान्त में अन्य नैतिक सिद्धान्तों की विशेषताओं का समावेश है। वह एक समन्वयवादी सिद्धान्त है। उसके अनुसार परम श्रेय है आत्म साक्षात्कार। आत्म साक्षात्कार अथवा आत्म लाभ का अर्थ है मानव जीवन के विभिन्न आदर्शों स्वास्थ्य, सौन्दर्य, ज्ञान और सद्गुण का विकास। यह विकास इस प्रकार होना चाहिये कि उससे व्यक्ति के अन्तःस्थ जन्म जात गुणों का विकास हो और साथ ही साथ वह सार्वजनिक विकास में भी सहायक हो। पूर्णता अथवा आत्म लाभ का परिणाम है आनन्द। यह आनन्द समस्त इच्छाओं की व्यवस्थित तृप्ति से प्राप्त होता है। पूर्णतावादी बुद्धि की सहायता से निम्न आत्मा पर नियन्त्रण करके वासनाओं को व्यवस्थित एवं रूपान्तरित करता है।

व्यक्ति और समाज का सन्तुलन :—पूर्णतावाद के परम शुभ में व्यक्ति और समाज दोनों का कल्याण है। समाजहित में बाधक व्यक्तिगत वासनाओं पर बुद्धि द्वारा नियन्त्रण किया जाता है। पूर्णतावाद ने आत्मा का पूर्ण रूप ग्रहण किया है। मानव आत्मा में वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही अंश हैं। उच्च आत्मा सामाजिक आत्मा भी है। पूर्णतावाद इस बात पर जोर देता है कि आत्मा का अहंकार की क्षुद्र दीवारों को तोड़कर विस्तृत किया जा सकता है जिससे परिवार, नगर, प्रान्त और देश एवं समाज के हित भी अपने हित हो जायें। अपने पड़ोसी में अपनी ही आत्मा देखना उसको अपनी ही आत्मा के समान प्यार करने की भूमिका है। मानव के परार्थवादी गुणों प्रेम, स्नेह, सहानुभूति, दया, करुणा और परोपकार की पृष्ठभूमि में भी यही रहस्य है। नैतिक विकास के साथ साथ व्यक्ति की आत्मा का भी विकास होता जाता है। वह अनुभव करता है कि उसका स्वार्थ, उसका हित दूसरों के हित और स्वार्थ से प्रथक नहीं है। वह एक परिवार, एक नगर, एक प्रान्त, एक देश और एक मानवता का सदस्य है जिसका सामान्य शुभ उसका अपना भी शुभ है। वह अनुभव करता है कि उसका आत्म लाभ उन सबके आत्म लाभ में है। इन सबसे आगे बढ़कर वह जीवमात्र के कल्याण में अपना कल्याण देखता है। वह देखता है कि उसने समाज से बहुत कुछ लिया है, उसका ज्ञान, नैतिक विकास और अन्य अनेक बातें उसके परिवार और देश पर निर्भर है। वह अनुभव करता है कि इनके जीवन के बिना उसका अपना कोई जीवन नहीं है। उसको अपने व्यक्तित्व का विकास इस प्रकार करना चाहिये कि उसमें सब का हित हो। इस प्रकार पूर्णतावादी सिद्धान्त व्यक्ति और समाज दोनों के लिये [illegible] है।

सुख और आनन्द :—पूर्णतावादी सिद्धान्त के अनुसार आत्म-पूर्णता अथवा आत्म लाभ परम शुभ है। यह आत्म पूर्णता निम्न वासनाओं के बुद्धि द्वारा नियंत्रण से हो सकता है। बुद्धि द्वारा वासनाओं के व्यवस्थित होने पर आनन्द (Happiness) की प्राप्ति होती है। इस प्रकार जहाँ सुखवादियो का लक्ष्य सुख है पूर्णतावादियो का श्रेय आनन्द है। सुख (Pleasure) क्षणिक और एकांगी वासनाओं की तृप्ति का परिणाम है। परन्तु आनन्द प्रवृत्तियो और वासनाओं को नियन्त्रित और सुव्यवस्थित करने से मिलता है। सुख और आनन्द में स्पष्ट अन्तर है। सुख क्षणिक है आनन्द स्थायी है। सुख परिवर्तनशील और संवेदनात्मक है। आनन्द एकरस और बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक है। सुख वासना पूर्ति का परिणाम है। आनन्द वासनाओ की बुद्धि द्वारा व्यवस्था का फल है। इस प्रकार पूर्णतावाद आनन्द और वासना तृप्ति का महत्व स्वीकार करता है। परन्तु उसका लक्ष्य आनन्द नहीं है। आनन्द तो लक्ष्य पूर्ति का परिणाम है। वासनाओ के नियंत्रित और व्यवस्थित होकर आत्मा के क्रमशः विकास मे आनन्द उपलब्ध होता है।

अन्तरात्मा और नैतिक बाध्यता :—पूर्णतावाद के अनुसार "अन्तरात्मा अपने अगों के लिये नियम निर्धारित करने का अधिकार लिये हुए पूर्ण अथवा सच्ची आत्मा है। उसका अधिकार एक चेतन और बौद्धिक प्राणी का स्वेच्छापूर्ण कार्य मे अपनी किसी विशेष अभिव्यक्ति की आलोचना करने का अधिकार है। उसकी आवाज़ सच्ची अथवा पूर्ण आत्मा की आवाज है जो कि विशेष इच्छाओ और वासनाओ की एकागी अथवा झूठी आत्मा के सन्मुख यथार्थ ही आदेश का रूप ग्रहण कर लेता है।" इस प्रकार सम्पूर्ण आत्मा स्वयं अपने ऊपर अपना नैतिक नियम आरोपित करता है। वह नियम पूर्ण आत्मा का नियम होने के कारण बाहर से लादे हुए नियम से भिन्न है। वह आत्मा का अपना नियम है। अतः नैतिक बाध्यता भी अपने आप ही आरोपित की गई है। वह आदर्श आत्मा ने यथार्थ आत्मा पर, बौद्धिक आत्मा ने वासनात्मक आत्मा पर, उच्च आत्मा ने निम्न आत्मा पर आरोपित की है। अतः नैतिक बाध्यता का आधार कोई बाहरी नियम न होकर स्वयं अपनी ही आदर्श अथवा बौद्धिक आत्मा है। पूर्णतावाद के अनुसार नैतिक बाध्यता नैतिक चेतना का एक अनिवार्य अंग है। जब तक नैतिक प्रगति है तब तक नैतिक बाध्यता है और जिस प्रकार नैतिक प्रगति का कोई अन्त नहीं है उसी प्रकार नैतिक बाध्यता भी शाश्वत और अनन्त है। उसका कभी अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। आत्म साक्षात्कार का अर्थ है आदर्श आत्मा की प्राप्ति। आदर्श आत्मा शाश्वत और अनन्त है। उसको पूर्णतः कभी भी यथार्थ नहीं बनाया जा सकता। अतः आदर्श और यथार्थ का यह संघर्ष सदैव चलता ही रहता है। इस संघर्ष की समाप्ति में नैतिकता का ही अन्त हो जाता है। अतः नैतिक नियम शाश्वत और निरपेक्ष हैं।

पूर्णतावाद और अन्य नैतिक सिद्धान्त :—पूर्णतावाद की उपरोक्त व्याख्या के प्रकाश में अब हमें अन्य सिद्धान्तों से उसकी तुलना करनी है। सुखवाद के साथ पूर्णतावाद भी संवेदनाओं को मानवी प्रकृति का एक आवश्यक अंग मानता है। वे नैतिक जीवन की सामग्री जुटाती हैं। परन्तु सुखवाद सुख को परम साध्य मानता है जब कि पूर्णतावाद के अनुसार आनन्द साध्य नहीं बल्कि साध्य प्राप्ति का परिणाम मात्र है। सुखवाद आनन्द और सुख के अन्तर को नहीं समझ पाता। सुखवाद स्वार्थ और परार्थ की गुत्थी को भी नहीं सुलझा पाता। स्वार्थवादी सुखवाद के अनुसार व्यक्ति का हित ही परम शुभ है। परार्थवादी सुखवाद अथवा उपयोगितावाद के अनुसार समाज का हित अथवा अधिकतम संख्या का अधिकतम हित ही श्रेय है। उपयोगितावादी स्वार्थ के आधार पर परार्थ को खड़ा करने की असफल चेष्टा करते हैं। पूर्णतावाद स्वार्थ और परार्थ में सामञ्जस्य स्थापित करता है। सामान्य शुभ अथवा पूर्ण शुभ में व्यक्ति और समाज दोनों का हित है। पूर्ण आत्म लाभ में वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही आत्माओं का साक्षात्कार है। सर्वोच्च सामाजिक शुभ ही सर्वोच्च वैयक्तिक शुभ है। आत्म लाभ में ही व्यक्ति का लाभ है। पूर्ण आत्मा अथवा आदर्श, सामाजिक और बौद्धिक आत्मा की प्राप्ति के लिये व्यक्ति को अपनी निजी, और विशेष आत्मा का परित्याग करना चाहिये। इस प्रकार पूर्णतावाद के अनुसार सबके शुभ में व्यक्ति का शुभ और सामान्य हित में ही व्यक्ति का हित है। विकासवादी सुखवाद के अनुसार समाज एक परस्पर निर्भर व्यक्तियों की विकासमान जैविक रचना है। जैविक सिद्धान्तों पर नैतिक सिद्धान्तों को आधारित करके विकासवादी सुखवाद अपने सिद्धान्त में अनेक दोष उत्पन्न कर लेता है। परन्तु पूर्णतावाद विकासवाद की मौलिक धारणा को लेकर भी उसके दोषों से बच जाता है। वह विकासवाद के साथ व्यक्ति और समाज के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध को तो मानता है परन्तु समाज रचना का जैविक रचना से तादात्म्य न करके समाज को एक पूर्ण स्वतन्त्र व्यक्तियों की एक पूर्ण रचना मानता है जिसमें व्यक्ति और समाज के हित एक दूसरे से पृथक न होकर एक ही हैं। व्यक्ति को एक बौद्धिक संसार को प्राप्त करना है जिसमें सबके कल्याण में उसका कल्याण हो। बुद्धिवाद के साथ पूर्णतावाद मानव के व्यक्तित्व में बुद्धि को महत्व देता है परन्तु दूसरी ओर वह वासनाओं, इच्छाओं और अनुभूतियों के निरोध और तिरस्कार के स्थान पर उनकी व्यवस्था, परिमार्जन और रूपान्तर पर जोर देता है। संवेदनाएं नैतिक जीवन की सामग्री हैं। बुद्धि उनको आकार प्रदान करती है। सहजज्ञानवाद के साथ पूर्णतावाद नैतिक गुण को किसी कार्य की निरपेक्ष विशेषता मानता है। वह नैतिक चेतना को आदेश और अन्तरात्मा की आवाज को आदेश मानता है। परन्तु पूर्णतावाद में विभिन्न सहजज्ञानवादी सिद्धान्तों के दोष नहीं पाये जाते हैं। दार्शनिक सहजज्ञानवाद के विरुद्ध पूर्णतावाद [illegible]

तो नैतिक इन्द्रिय है और न रसेन्द्रिय। वह पूर्ण आत्मा की आवाज़ है। दार्शनिक सहजज्ञानवाद भी नैतिक बाध्यता के कारणों की व्याख्या नहीं कर पाता। अन्तरात्मा का नियम एक वाह्य नियम ही रहता है। परन्तु पूर्णतावाद में आत्मा का पूर्ण स्वरूप लेने से और अन्तरात्मा को सम्पूर्ण आत्मा की आवाज़ मानने के कारण अन्तरात्मा का नियम कोई बाहरी नियम नहीं रह जाता और नैतिक बाध्यता का स्रोत आत्मा में ही रहता है। पूर्णतावाद नैतिक नियम को अनिर्वचनीय नहीं मानता। वह उसको आत्म लाभ का एक साधन मानता है। इस प्रकार पूर्णतावाद मे सभी नैतिक सिद्धान्तों के विशेष तत्वों का समावेश है और उनकी समस्याओं का समाधान है।

Q. 8. 'Pleasure or duty is not the end but a feature of the end'. Discuss. (Alld. 56).

प्र० ८. 'सुख या कर्तव्य साध्य नहीं है' किन्तु साध्य का एक लक्षण है। इस कथन की विवेचना कीजिये।

उत्तर :—प्रश्न ४ के उत्तर में सुखवाद और बुद्धिपरतावाद के पूर्णतावाद में समन्वय का विवेचन देखिये।

Q 9. Examine the relation of the indindual with society. Now can the interest of the individual be reconciled with the interest of society ? (Alld. 57).

प्र० ९. समाज के साथ व्यक्ति के सम्बन्ध की परीक्षा कीजिये। व्यक्ति के हित का समाज के हित के साथ कैसे समन्वय हो सकता है ?

उत्तर :—प्रश्न १ का उत्तर देखिये।

Q 10. Contrast the idealistic and the biological views of perfection What makes the former a more satisfactory view of moral perfection ?

प्र० १०. पूर्णता के आदर्शवादी और जीवशास्त्रीय दृष्टिकोणों का विरोध स्पष्ट कीजिये। आदर्शवादी दृष्टिकोण नैतिक पूर्णता का एक अधिक सन्तोषजनक दृष्टिकोण कैसे बन जाता है ?

उत्तर :—प्लेटो, अरस्तू, ग्रीन, ब्रैडले और हेगेल ने पूर्णता के आदर्शवादी दृष्टिकोण की स्थापना की। दूसरी ओर हर्बर्ट स्पेन्सर, एलेग्जैण्डर और लेस्ली स्टीफन पूर्णता का एक जीव शास्त्रीय दृष्टिकोण उपस्थित करते हैं। इन दोनों सिद्धान्तों में निम्नलिखित विरोध हैं :—१. आदर्शवादी दृष्टिकोण की पद्धति उद्देश्यवादी है। विकासवादी दृष्टिकोण की पद्धति ऐतिहासिक है। अतः आदर्शवाद नियामक सिद्धान्त देता है और विकासवाद केवल नैतिकता का इतिहास उपस्थित करता है।

२. विकासवाद के अनुसार चरम लक्ष्य सुख है। आदर्शवाद सुखवादी नहीं है यद्यपि वह आनन्द को लक्ष्य प्राप्ति का परिणाम मानता है। आदर्शवाद के अनुसार वैयक्तिक और सामाजिक आत्मा का साक्षात्कार परम श्रेय है। विकासवाद सुख को परम लक्ष्य और आत्म रक्षण, जाति रक्षण, समाज-स्वास्थ्य और सामाजिक क्षमता को निकटवर्ती लक्ष्य मानता है।

३. विकासवाद वासनाओं की तृप्ति पर जोर देता है। आदर्शवाद के अनुसार हमें अपनी वासनाओं का बुद्धि द्वारा नियंत्रण करना चाहिये और निम्न आत्मा का उच्च आत्मा के अनुसार रूपान्तर साधन करना चाहिये। विकासवाद भोग के जीवन का आदेश देता है। आदर्शवाद के अनुसार आत्म लाभ के लिये आत्म त्याग करना आवश्यक है।

४. आदर्शवाद चरित्र और नैतिक गुणों के विकास पर जोर देता है। उसका आदर्श है व्यक्तित्व का पूर्ण विकास। विकासवाद जैविक जीवन के उदाहरण से प्रभावित होकर कर्तव्य और बल प्रयोग, नैतिकता और शक्ति प्रेम को एक मान लेता है। उसके अनुसार नैतिकता व्यक्ति और जाति के संरक्षण का साधन मात्र है। हर्बर्ट स्पेन्सर एक ऐसे आदर्श समाज की कल्पना करता है जिसमें नैतिक बाध्यता का सर्वथा लोप हो जायगा। आदर्शवाद के अनुसार नैतिक प्रगति के समान ही नैतिक बाध्यता भी शाश्वत और चिरंतन है।

५. विकासवाद मानव को जीवशास्त्रीय दृष्टिकोण से देखता है। उसके अनुसार मनुष्य एक वासनायुक्त प्राणी है। आदर्शवाद के अनुसार मनुष्य एक आत्म चेतन, विवेक युक्त, आध्यात्मिक और सामाजिक प्राणी है।

पूर्णता के विकासवादी दृष्टिकोण की अपेक्षा आदर्शवादी दृष्टिकोण के अधिक उपयुक्त होने के निम्नलिखित कारण हैं :—

१. नैतिकता जीवशास्त्र पर आधारित नहीं हो सकती। तथ्यों से आदर्श नहीं निकलते। अतः विकासवादी सिद्धान्त कोई नैतिक सिद्धान्त नहीं है। नैतिक आदर्श की व्याख्या ऐतिहासिक पद्धति से नहीं हो सकती। उसके लिये आदर्शवादी सिद्धान्त का उद्देश्यवादी दृष्टिकोण ही अधिक उपयुक्त है। विकासवाद नैतिकता का इतिहास उपस्थित करता है। आदर्शवाद नियामक सिद्धान्त देता है।

२. विकासवादी परम शुभ एकांगी और सीमित है। भौतिक अथवा शारीरिक सुख तथा कल्याण केवल वासनात्मक निम्न आत्मा का ही शुभ है। आदर्शवाद के अनुसार मानव मात्र का सामान्य शुभ अथवा सदगुण पूर्णता ही परम शुभ है। यह [illegible] सर्वांग और व्यापक है। इसमें व्यक्ति और समाज दोनों के हितों का पूर्ण समावेश है। यह पूर्ण आत्मा का शुभ है।

३. विकासवादी मानव स्वभाव के निम्न स्तर [illegible] मानते हैं। आदर्शवादियों [illegible] है। उनके अनुसार

आत्मा में वासनात्मक और बौद्धिक दोनों ही अंग हैं। वह वैयक्तिक भी है और सामाजिक भी। इस प्रकार आदर्शवादी दृष्टिकोण स्वार्थ और परमार्थ का सुन्दर सामंजस्य उपस्थित करता है। विकासवाद इस गुत्थी को नहीं सुलझा पाता।

४. विकासवादी समाज रचना का जीव रचना के साथ तादात्म्य करके उनके अन्तर को भूल जाते हैं। आदर्शवादी इस उपमा के मूल में जो व्यक्ति और समाज का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है उसे तो स्वीकार करते हैं परन्तु समाज रचना और जैविक रचना के अन्तर को भी ध्यान में रखते हैं। उनका सिद्धान्त व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को समझाने मे अधिक उपयुक्त है।

५. आदर्शवादियों ने नैतिक जीवन मे सुख के स्थान को विकासवादियो से अधिक अच्छी तरह समझा है। वे नैतिक जीवन मे सुख और वासनापूर्ति के महत्व को स्वीकार करते हैं परन्तु उस पर बुद्धि का नियंत्रण आवश्यक मानते हैं और इच्छाओं को परिष्कृत और रूपान्तरित करने पर ज़ोर देते हैं।

अतः आदर्शवादी दृष्टिकोण विकासवादी दृष्टिकोण की अपेक्षा नैतिक पूर्णता का एक अधिक सन्तोषजनक रूप उपस्थित करता है।



अध्याय ९

The Ethics of Nietzsche

(नीत्शे का नीति शास्त्र)

Q. 1. Explain the fundamental principles of Nietzsche's Ethics. Has Nietzsche really been successful in building a new morality ? (Alld. 56).

प्र० १. नीत्शे के नीतिशास्त्र के मुख्य सिद्धान्त क्या हैं ? क्या नीत्शे एक नया नीति शास्त्र बनाने में समर्थ रहा है ? (५६).

उत्तर :—नीत्शे मानव जीवन को जीवशास्त्र के दृष्टिकोण से देखता है। जीवन नैतिकता से परे है। जगत की प्रकृति अनैतिक है। उसमें किसी प्रकार के तथाकथित नैतिक आदर्श को प्राप्त करने का प्रयास नहीं है। वह न तो शुभ है और न अशुभ। नीत्शे के अनुसार तथ्य नैतिक नहीं है बल्कि उनकी व्याख्या ही नैतिक हो सकती है।

शक्ति ही परम श्रेय :—अतः शक्ति प्राप्त करना ही परम श्रेय है। प्रकृति और समाज सभी ओर बलवान बनने की इच्छा अत्यन्त स्वाभाविक है। वही मानव का एकमात्र कर्तव्य है। नीत्शे का शक्तिशाली मनुष्य पूर्णतः स्वतन्त्र व्यक्ति है। वह बुद्धिवादी है और तर्क की कसौटी पर कसे बिना किसी वाद, सम्प्रदाय, परम्परा, धर्म और रूढि की बात नहीं मानता। उसे किसी का मोह नहीं। समाज, परिवार तथा देश तक की परवाह किये बिना वह बुद्धि के मार्ग पर चलता है। वह रचनात्मक है। वह भावुकताजनित दुर्बलताओं पर कठोर नियन्त्रण रखता है। वह स्वयं नियम और आदर्श निर्माण करता है। वह अपने बनाए नियमों पर ही चलता है।

डारविन विरोधी :—नीत्शे डारविन के मतानुयायियों को "पढ़े लिखे बैल" (Scholarly Oxen) कहता था। नीत्शे और डारविन के सिद्धान्तों में भेद है। १. डारविन के अनुसार प्रकृति में संघर्ष अस्तित्व रक्षा के हेतु है परन्तु नीत्शे संघर्ष का मुख्य प्रयोजन शक्ति को मानता है। २. डारविन प्रत्येक नवीन विकास सोपान को पहले से श्रेष्ठ मानता है परन्तु नीत्शे के अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि जो अन्त में आए वही श्रेष्ठ हो। ३. डारविन के अनुसार विकास क्रमिक है नीत्शे के अनुसार वह कूदात्मक है। ४. डारविन ने [illegible] किया नीत्शे व्यक्तिवादी था।

अशुभ के अर्थ को नीत्शे ने ग्रीक समानार्थक शब्दों से लिया। अतः शुभ का अर्थ है वीर, चतुर और योग्य तथा अशुभ का अर्थ है हीन, गँवार और कायर। शक्ति शुभ है दुर्बलता अशुभ।

अतिमानव (Superman) का सिद्धान्त :—अतः नीत्शे के अनुसार "अतिमानव जगत का प्रयोजन है।" अतिमानव मानव का परम लक्ष्य है। वह सबसे बलवान है। प्रारंभ में नीत्शे ने अतिमानव को नेपोलियन तथा सीजर इत्यादि बलशाली व्यक्तियों के रूप में माना परन्तु बाद में वह उसको मानव से श्रेष्ठ एक उच्चतर जाति के रूप में मानने लगा था। नीत्शे के अनुसार शक्ति और अधिकार की मूल प्रवृत्तियां को जगा कर दया, उदारता, सहानुभूति इत्यादि दुर्बलताओं को छोड़े बिना मानव जाति का विकास असंभव है। किसी भी जाति अथवा व्यक्ति की सच्ची परख उसकी शक्ति से होती है। अतः शक्ति प्राप्त करना परम कर्तव्य है। अतिमानव अपनी सभी शक्तियों का विकास करता है। उसके आचरण में एक शैली होती है। संघर्ष और खतरों से प्रेम, शक्ति, बुद्धि, शौर्य और गर्व उसके सहज गुण हैं।

ईसाइयत की आलोचना :—इस अतिमानव के विकास में जो जो कुछ बाधक संस्थाएँ हैं उनका बहिष्कार करना चाहिये। ईसाइयत इसमें सबसे बड़ा रोड़ा है। ईसा ने दासों की नीति को पूर्णता तक पहुँचा दिया। दीनता, परोपकार, श्रद्धा, शरणागति इत्यादि ईसाई मूल्य मानवता के घोर पतन के कारण हैं। श्रद्धा और विश्वास स्वतन्त्र चिन्तन में भारी बाधाएँ हैं। परलोक की कल्पनाएँ इस लोक के महत्व को गौण बना देती हैं। दया और सहानुभूति विजयी और विजय दोनों के लिये बुरी हैं। पड़ोसी-प्रेम अपनी शक्ति का अपव्यय करना है। कठोरता दया से और आलोचना चाटुकारिता से श्रेष्ठ है। ईसा ने गधे घोड़े सब बराबर कर दिये। समानता दासों का सिद्धान्त है।

जनतन्त्र की आलोचना :—ईसाइयत ने जनतन्त्र, उपयोगितावाद और समाजवाद जैसी दासतापूर्ण संस्थाओं को जन्म दिया। जनतन्त्र का अर्थ जनानापन है क्योंकि वह स्त्री तथा पुरुषों के समानाधिकार की बात करता है। जनतन्त्र की समानता मनुष्यों को भेड़ बकरियों का झुण्ड बना देती है।

सुखवाद की आलोचना :—नीत्शे फ्रायड के काम वासना के अत्यधिक महत्व को नहीं मानता। सर्वोच्च प्रेरक शक्ति-कामना है। काम वासना भी उसी के आधीन है। शक्ति प्राप्त करने के लिये कठोर आत्म संयम की आवश्यकता है। मनुष्य को कठोर यथार्थवादी होना चाहिये। मनुष्य सुख नहीं बल्कि शक्ति चाहता है। शक्ति के लिये त्याग करना पड़ता है। बाधाओं का सामना करना पड़ता है। दुःख और संघर्ष से शक्ति बढ़ती है। प्रवृत्तियों का शोधीकरण करना चाहिये।

रोमाण्टिसिज़्म की आलोचना :—सभी प्रकार की भावुकता का विरोध होने के कारण नीत्शे ने रोमाण्टिसिज्म की भी आलोचना की। रोमाण्टि-सिज्म में स्वार्थवाद (Egoism) तथा निर्बलता (Weakness) का योग है। रोमाण्टिसिज्म अतीत की ओर देखता है परन्तु भविष्य में उससे भी बलवान अतिमानव हो सकता है यह वे नहीं सोचते।

स्वामी नीति और दास नीति :—नीत्शे ने समाज में दो प्रकार के वर्ग और उनमें प्रचलित दो प्रकार की नैतिकता का चित्रण किया, स्वामी नीति और दास नीति। रोमन नीति स्वामी नीति थी। उसके गुण साहस, पुरुषत्व, शौर्य और वीरता थे। यहूदियों की नीति दास नीति थी। उसके गुण थे सज्जनता, नम्रता, त्याग और धैर्य। ईसाइयत की नीति पूर्णत: दास नीति थी। स्वामी नीति शक्तिशाली की नीति है। दासनीति दुर्बलो की नीति है। वह उपयोगितावाद की नीति है। दास नीति ही मानव जाति के पतन का कारण है। उसके स्थान पर स्वामी नीति की स्थापना होनी चाहिये।

मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन :—नीत्शे ने मूल्यों के पुनर्मूल्याकन पर जोर दिया। मूल्यो का रूपान्तरण होना चाहिये। नीत्शे न तो प्राचीनतावादी है और न नवीन मूल्यो का समर्थक। सभी मूल्यो को बुद्धि की कसोटी पर कसने की आवश्यकता है। जो मूल्य खरे उतरेंगे उन्हीं की स्थापना होगी। रोम तथा यूनान के आदर्श उनकी प्रगति के कारण बने। ईसाइयत के आदर्शो के कारण रोम का पतन हुआ। सुखवाद, रोमाण्टिसिज्म और जनतन्त्र की सस्थाओं का परित्याग करना चाहिये। हमारा उद्देश्य जनसमूह नहीं बल्कि अतिमानव का विकास करना है। शक्ति प्राप्त करने में जो जो गुण सहायक हैं वही उत्तम गुण हैं। उन्हीं की स्थापना करने की आवश्यकता है।

नीति की सापेक्षता :—अतः नीत्शे शुभ और अशुभ को सापेक्ष मानता है। वे नित्य नहीं हैं बल्कि मनुष्यों की परिस्थिति तथा वातावरण के साथ साथ बदलते रहते हैं। उन परिस्थितियों से बाहर उनका कोई अर्थ नहीं है।

आध्यात्मिक शक्ति है। आत्मसंयम की उन्नति के साथ साथ इन सन्तो की शक्ति भी बढ़ती है।

२. नीत्शे व्यक्तिवादी था। वह व्यक्ति में शक्ति का प्रशंसक था चाहे वह शक्ति मानसिक हो या आध्यात्मिक। संकल्प शक्ति के कारण ही उसने सन्तो की प्रशंसा की है उनके ईश्वर प्रेम के कारण नहीं। जहाँ जहाँ आत्म विकास है वहाँ वहाँ शक्ति है और उस सब की नीत्शे प्रशंसा करता है चाहे वह ईसा हो या नैपोलियन, बुद्ध हो या सीजर। नीत्शे सच्चा व्यक्तिवादी था। उसने व्यक्ति के आत्म विकास द्वारा शक्ति प्राप्त करने का उपदेश दिया।

३. नीत्शे नास्तिक था। उसने जगत की जीवशास्त्रीय परिभाषा की। परन्तु नीतिशास्त्र जीवशास्त्रीय सिद्धान्तो पर आधारित नहीं हो सकता। शक्ति प्राप्ति कोई आध्यात्मिक लक्ष्य नहीं हो सकता। नैतिकता निष्काम भाव से कर्तव्य पालन मे है।

४. व्यक्तिवादी होने के कारण नीत्शे के नीति शास्त्र मे सामाजिक पक्ष के साथ समुचित न्याय नहीं हो सका है। व्यक्ति मे स्वार्थ और परार्थ दोनों प्रवृत्तियाँ मौलिक हैं। दया, प्रेम, सहानुभूति दुर्बलता के परिचायक नहीं हैं। वे आवश्यक सामाजिक गुण हैं। गाँधी जी के इस कथन मे भारी सत्य है कि अहिंसा का पालन करने के लिये हिंसा से अधिक शक्ति की आवश्यकता है। समाज सेवा के बिना आत्म लाभ कोरा स्वार्थ है। कोमल गुणों की अनुपस्थिति मे मानव का विकास एकांगी रहता है।

५. नीति को सापेक्ष्य मानने पर स्वयं नीत्शे की नीति भी सापेक्ष हो जानी चाहिये और तब उसका कोई शाश्वत मूल्य नहीं रहेगा। कान्ट ने ठीक ही कहा था कि नैतिक नियम परिस्थिति निरपेक्ष है। यही उनमे और अन्य नियमो मे अन्तर है।

६. व्यक्ति की स्वतन्त्रता का निषेध और उसको आध्यात्मिक प्राणी न मानना तो मानो नीतिशास्त्र की जड पर ही कुठाराघात करना है। स्वतन्त्रता न होने पर अतिमानव के विकास और मूल्यो के पुर्नमूल्यी करण की बातें निरर्थक हैं।

७. यह हो सकता है कि नीत्शे का तात्पर्य पशुता अथवा दानवता का समर्थन न रहा हो परन्तु उसके नीतिदर्शन के आधार पर फासीवाद का विकास यह स्पष्ट करता है कि उसमे इस प्रकार के विकास के बीज अवश्य वर्तमान थे। नीत्शे ने प्रजातन्त्र का खुला विरोध किया, युद्ध का समर्थन किया और कुलीनतन्त्रवाद की प्रशंसा की फिर यदि उसको आलोचकों ने नात्सी कह दिया तो आश्चर्य ही क्या है।

८. नीत्शे ने समानता के सिद्धान्त की और मानवोचित कोमल गुणो की कटु आलोचना की। परन्तु असमानता एक सर्वथा अनैतिक विचार है। मानव जाति

को दास और स्वामी वर्गों में बांटना तथ्यात्मक वर्णन हो सकता है परन्तु नैतिक आदर्श तो इन भेदों को समाप्त करना ही होगा उनको और भी बढ़ाना नहीं। कोमल गुणों के अभाव में नीत्शे का अतिमानव दानव बन जाता है।

६. नीत्शे के विचारों में भारी परस्पर विरोध है। इसी कारण कुछ आलोचकों ने उसको बिल्कुल नीचे गिरा दिया है और कुछ अन्य ने सुकरात और शंकर के समकक्ष बिठा दिया है। परन्तु उसके ग्रन्थों को निष्पक्ष भाव से पढ़ने पर कोई भी उसकी एकांगता से इनकार नहीं कर सकता। नीत्शे ने जिस ईसाइयत की कटु आलोचना की है उसी से समन्वय करने पर ही उनका नीतिशास्त्र सन्तुलित हो सकता है अन्यथा उसको अनैतिक कहे जाने के पर्याप्त कारण उसमें विद्यमान हैं।

नीत्शे कोई नवीन नीतिशास्त्र नहीं बना सका है। उसने पुरानी नैतिकता का खंडन अवश्य किया परन्तु उसकी नैतिकता कोई नवीन नैतिकता न होकर प्राचीन नैतिकता की विरोधी नैतिकता है। ईसाई नीति के विरुद्ध अवश्य उसने एक नवीन नैतिकता की स्थापना की परन्तु वह नैतिकता उतनी ही एकांगी थी जितनी ईसाई नैतिकता। ईसाइयत ने मानव के कोमल गुणों पर जोर दिया। उसका नीतिशास्त्र कुछ अर्थों में अव्यवहारिक अवश्य है परन्तु उन्हीं अर्थों में नीत्शे का नीतिशास्त्र भी अव्यवहारिक है। ईसाइयत के गुणों की अवहेलना ही नीत्शे की कमी है।

Q. 2. How can the will to Power (Nietzsche) constitute a proper basis for a satisfactory moral ideal? Discuss. (Alld. 57).

प्र० २. प्रभुत्व की इच्छा (नीत्शे) कहाँ तक सन्तोषजनक नैतिक आदर्श का आधार बन सकती है? मीमांसा कीजिए। (५७)

उत्तर :—नीत्शे के नीति शास्त्र के लिये देखिये उत्तर प्र० १।

प्रभुत्व की इच्छा कभी भी सन्तोषजनक नैतिक आदर्श का आधार नहीं बन सकती। सन्तोषजनक नैतिक आदर्श वही बन सकता है जिसमें कि मानव के व्यक्तित्व की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का समुचित विकास हो। प्रभुत्व-प्राप्ति की इच्छा मानव की एक प्रमुख इच्छा है इसमें कोई सन्देह नहीं परन्तु इसके अतिरिक्त भी ऐसी अनेक इच्छाएं हैं जो कि उतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं। व्यक्ति में स्वार्थ जितना प्रबल है उतना परार्थ भी। शक्ति प्राप्त करने की इच्छा स्पष्टतः स्वार्थमय है। नीत्शे के द्वारा बतलाये गए उत्साह, बल, अहंकार, बुद्धि, साहस, निर्भीकता और कुछ प्रेम इत्यादि अतिमानव के गुणों का उद्गम स्वार्थ ही है। नीत्शे का नीतिशास्त्र स्वार्थ का नीति शास्त्र है। सन्तोष जनक होने के लिये इसमें ईसाइयत के कोमल गुणों का समावेश करना होगा।

आध्यात्मिक स्तर पर तो शक्ति प्राप्ति के स्थान पर आत्म त्याग और बलिदान की इच्छा ही अधिक स्वाभाविक है। मानसिक स्तर पर भी आदान के साथ प्रदान भी चलता है।

नीत्शे एक ओर तो शक्ति-प्राप्ति को सब कुछ मानता है और दूसरी ओर बुद्धि के अनुसार चलने का आदेश देता है। परन्तु यह स्पष्ट है कि यहाँ बुद्धि का प्रयोग शक्ति-प्राप्ति के हेतु ही किया जाएगा। परन्तु इस प्रकार की बुद्धि स्वतन्त्र न होकर वासना की गुलाम ही होगी। स्वतन्त्र बुद्धि से कार्य करने पर तो शक्ति-प्राप्ति की वासना का नियंत्रण ही अधिक वांच्छनीय प्रतीत होगा। सन्तोष जनक नैतिक आदर्श में तो बुद्धि और प्रवृत्ति दोना का समुचित स्थान होना चाहिये।

सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर शक्ति प्राप्ति का आदर्श नैतिक आदर्श ही नहीं है। नैतिक नियम परिस्थिति निरपेक्ष होते हैं और उनका पालन कर्तव्य भावना से ही होना चाहिये। नीत्शे का अतिमानव घोर स्वार्थी और अदम्य महत्त्वाकाँक्षी प्रतीत होता है। वासनाओं के आधार पर किसी भी आदर्श का निर्माण नहीं हो सकता चाहे वह कितनी भी ऊँची क्यों न हो। समाज और व्यक्ति के हित में भेद करने वाला कोई भी सिद्धान्त सन्तुलित नैतिक सिद्धान्त नहीं है। परोपकार, दया, सहानुभूति, प्रेम आदि को दुर्बलता कहना भारी भूल है। उनकी अनुपस्थिति में अतिमानव दानव से अधिक कुछ नहीं है।

(अधिक विस्तार के लिये प्रश्न १ के उत्तर का आलोचनात्मक अंश देखिये।)

Q 3. Explain Nietzsche's theory of the Superman. Does the phrase 'beyond good and evil' imply a complete denial of all ethical standards? (Alld. 55).

प्र० ३. नीत्शे के अतिमानववाद की व्याख्या कीजिए। क्या नीत्शे का वाक्य "शुभ और अशुभ दोनों से परे,, नैतिक आदर्शों को निरर्थक कर कर देता है ? (५५).

उत्तर :—नीत्शे के अतिमानववाद की व्याख्या के लिये देखिये उत्तर प्रश्न १.।

नीत्शे अतिमानव को "शुभाशुभ से परे" मानते हैं। उनके अनुसार आज तक के समस्त नीतिशास्त्र सम्बन्धी नियमों का परिणाम हुआ एक दीन हीन और दुर्बल मानव जाति का निर्माण। अब उसके स्थान पर एक सबल अतिमानव जाति का विकास करने के लिये नीतिशास्त्र का रूपान्तरण करना होगा। अतः नीत्शे का यह वाक्य एक ओर तो पुराने नैतिक नियमों का निराकरण करता है परन्तु दूसरी ओर उसके स्थान पर एक नवीन नैतिकता स्थापित करना चाहता है। परन्तु इस नैतिकता का निर्माण स्वयं अतिमानव ही करेंगे। वे किसी भी पूर्वनिश्चित नैतिक नियम से बाध्य नहीं हैं। नीत्शे के अनुसार कोई भी नैतिक नियम नित्य और परिस्थिति निरपेक्ष नहीं है। अतिमानव का विकास ही सृष्टि और व्यक्ति का

एकमात्र लक्ष्य है। ये अतिमानव शुभाशुभ के निर्णयो से परे हैं। जो कुछ अतिमानव करता है वही शुभ है और जो कुछ वह बुरा समझता है वही अशुभ।

परन्तु अतिमानव का व्यवहार नीति शास्त्र से परे समझने का अर्थ नीति शास्त्र के अर्थ को ही न समझना है। अतिमानव मे नीत्शे ने संकल्प की महान शक्ति मानी है। जो कुछ वह करता है कठोर संकल्प शक्ति से करता है। फिर उसको शुभाशुभ से परे कैसे माना जा सकता है। दूसरे नीत्शे यह मानता है कि मानव से ही अतिमानव का विकास होगा। फिर वह नैतिक नियमो से परे कैसे हो सकता है। नैतिक नियमो से परे केवल जड अथवा ईश्वर ही हो सकता है। मानव चाहे वह दुर्बल हो या बलवान कभी भी नैतिक निर्णय से परे नही हो सकता। सभी स्वेच्छापूर्वक किये गए कार्य नैतिक निर्णय के विषय है। वास्तव में नीत्शे जिसको उचित मानता है वह अतिमानव का व्यवहार नितान्त निरकुशता ही है। नैतिक नियम सार्वभौम हैं। व्यक्ति उनको बना और बिगाड नही सकता। यह हो सकता है कि अपने स्वार्थ और शक्ति के मद मे अधे होकर अतिमानव नैतिक नियमो को न माने अथवा नवीन नीति शास्त्र गढने का प्रयास करे परन्तु फिर भी उनके इस कार्य को शुभ अथवा अशुभ तो कहा ही जाएगा। नीत्शे के अतिमानव नैपोलियन सीजर इत्यादि एवं स्वयं उसके आचरण भी शुभाशुभ के निर्णय से नही बच सकते। नीतिशास्त्र के कुछ सनातन नियम हैं जो व्यक्ति की इच्छा से नही बदल सकते। उनके अनुसार ही शुभाशुभ का निर्णय होता है।

Q. 4. Explain the ethical views of Nietzsche. Evaluate critically whether his 'transvaluation of all values' is morally justifiable? (Agd. 54).

प्र० ४. नीत्शे के नैतिक विचारो की व्याख्या कीजिए। क्या उसके मूल्यों के मूल्यान्तरण का सिद्धान्त नैतिक दृष्टि से उचित है ?

उत्तर :—नीत्शे के नैतिक विचारो की व्याख्या के लिये देखिये उत्तर प्र० १.

नीत्शे के अनुसार समस्त मानवता का ध्येय एक अतिमानव वर्ग का विकास करना है। इसके लिये पुराने मूल्यो का फिर से मूल्यांकन करना होगा। प्रत्येक बलवान मनुष्य का कर्तव्य है कि वह नवीन ढंग से मूल्यो की अवतारणा करे। अपने अध्ययन से नीत्शे को यह प्रतीत हुआ कि यूनान और रोम के आदर्श ऊँचे थे। उनमे प्राण था। उनमे बुद्धि, साहस, तितिक्षा और न्याय था। उनके यहाँ शरीर, बुद्धि और आत्मा तीनो की स्वस्थता पर जोर था। इन तीनो की शिक्षा आवश्यक है। ईसाइयत ने इन आदर्शो को बदल दिया जिसके कारण योरप का पतन हुआ। नीत्शे का तात्पर्य यह नही था कि प्राचीन आदर्श प्रत्येक अवस्था मे अच्छे हैं। उसने यह देखा कि उनसे शक्ति की साधना और भी अच्छी तरह

हो सकती है। परन्तु उसका विश्वास था कि हम प्राचीन आदर्शों से भी आगे बढ़कर अतिमानव के स्तर पर पहुँच सकते हैं।

नीत्शे का समस्त मूल्यों के मूल्यान्तरण का सिद्धान्त नैतिक दृष्टि से उचित नहीं है। उसका तात्पर्य उनको शुभाशुभ की कसौटी पर कसना नहीं है बल्कि शक्ति प्राप्ति का साधन बनाना मात्र है। यह एक प्रकार के व्यवहार-शास्त्र की रचना मात्र है। वह दार्शनिक 'श्रमिक' और सच्चे दार्शनिक में अन्तर करता है। उसके अनुसार सच्चे दार्शनिक मूल्यों की समीक्षा करने वाले दार्शनिक 'श्रमिक' से भिन्न होते हैं। वे नवीन विधान बनाते हैं और नवीन मूल्यों की रचना अपनी अनुभूतियों के आधार पर करते हैं। वे प्रत्येक बात की स्वानुभूति के आधार पर परीक्षा करते हैं। परन्तु यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि क्या किसी भी व्यक्ति की स्वानुभूति पर आधारित सिद्धान्त पूर्ण एव सर्वमान्य सत्य हो सकते हैं। क्या अनुभूतियों के परिवर्तन के साथ प्रत्येक व्यक्ति के सिद्धान्त अलग अलग नहीं होंगे? तब उनमें से सत्य का निर्णय कैसे होगा। नीत्शे नीति को सापेक्ष और व्यक्तिगत मानता है। तब फिर उसका नीतिशास्त्र उसी के व्यक्तिगत आचरण में ठीक हो सकता है, औरों का उससे क्या मतलब? इस प्रकार का सिद्धान्त एकजीववाद (Solipcism) पर आ जाता है। अपनी "दार्शनिक श्रमिक" की धारणा मे नीत्शे ने अन्य लोगों द्वारा निर्धारित मूल्यों पर विचार करने वाले को 'श्रमिक' कहा है। परन्तु क्या स्वानुभूति पर आधारित होने के कारण उनके सिद्धान्त भी परीक्षणीय नहीं है। नीत्शे का मूल्यान्तरण एक विशेष प्रवृत्ति शक्ति प्राप्ति की इच्छा की पूर्ति के लिये मनमाना आचरण शास्त्र बनाने के समान है। नीतिशास्त्र की कुछ मौलिक मान्यताएँ भी हैं। उसके कुछ शाश्वत नियम है जो देशकाल निरपेक्ष हैं और उनका रूपान्तरण करने का प्रयत्न निरर्थक है। इस रूपान्तरण मे ईसाइयत के गुणों का पूर्ण वहिष्कार करके तो नीत्शे ने अपनी निरंकुशता को और भी स्पष्ट कर दिया है। इसमे सन्देह नहीं कि देशकाल के साथ व्यवहार नीति में कुछ परिवतन आवश्यक है परन्तु उससे नीतिशास्त्र के शाश्वत पक्ष की अवहेलना करना ठीक नहीं।

Q. 5. "There are no moral phenomena, there is merely moral interpretation of phenomena" (Nietzsche) Discuss.

(Alld. 58).

प्र० ५. "नैतिक घटनाएं नहीं होती, घटनाओं को नैतिक अर्थ दिया जाता है" (नीत्शे)—आलोचना कीजिए।

उत्तर :—इस कथन मे नीत्शे नीति को सापेक्ष ठहराता है। पिछला प्रश्नोत्तर देखिये।

———

अध्याय १०

The Ethics of Gita

गीता का नीतिशास्त्र

Q. 1. Give a brief outline of the moral philosophy of Bhagwadgita. (Agra. 1955).

प्र० १. भगवद्गीता के नीति-दर्शन की एक संक्षिप्त रूप रेखा दीजिए। (आगरा १९५५)।

उत्तर :—भगवद्गीता के अनुसार परम श्रेय ईश्वर-प्राप्ति है। यही समस्त कर्मों का एकमात्र लक्ष्य है। गीता ने वर्णाश्रम धर्म का उपदेश दिया है। परन्तु इस वर्णाश्रम धर्म का पालन केवल इसीलिए कर्तव्य बन जाता है क्योंकि उनकी रचना स्वयं ईश्वर ने की है।

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः" (४/१३)

ईश्वर-साक्षात्कार से ही आत्मा के स्वरूप का ज्ञान भी होता है क्योंकि आत्मा परमात्मा का ही रूप है। इस आत्मा को केवल आभ्यन्तर ही नही बल्कि बाह्य जगत में भी अनुभव करना है। स्थित प्रज्ञ मनुष्य सभी मे परमात्मा के ही दर्शन करता है। गीता के अनुसार आत्मा कूटस्थ और नित्य है। वह अक्षर है जब कि जगत के अन्य भौतिक पदार्थ अनित्य हैं। ईश्वर आत्मा एवं भौतिक पदार्थो का नियामक है। वह सृष्टि का कर्त्ता, पालक और संहारक है। वह अन्तर्यामी एवं सर्वव्यापी है। आत्मा ईश्वरीय कार्यो का यत्र मात्र है।

आत्मा और जगत दोनो को ही ईश्वर का अंश मानने के कारण गीता में लोक सेवा का भी उतना ही महत्व है जितना कि आत्म साक्षात्कार का। श्रीकृष्ण ने गीता मे कहा है कि सम्पूर्ण भूतो के हित मे रत हुए योगी मुझी को प्राप्त होते हैं।

"ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः" (१२—४)

समाज सेवा मानव को परमेश्वर की ओर ले जाती है। कर्तव्य केवल कर्तव्य के हेतु नही बल्कि लोक संग्रह (३—२०) के लिये किया जाना चाहिये। गीता के अनुसार कर्म अकर्म से श्रेष्ठ है।

कर्म को कर्तव्य ठहराने के गीता ने अनेक कारण बतलाए हैं यथा कर्म सन्यास से सन्यास की प्राप्ति नही हो सकती (३—४), ज्ञानी मनुष्यो को भी प्राकृतिक स्वभाववश कर्म करने ही पड़ते हैं (३—५ से ३३), कर्म शरीर यात्रा के लिये अनिवार्य है (३—८), कर्म सृष्टि का नियम है (३—१६) कर्म लोक संग्रह के लिये आवश्यक है (३—२०), समाज को नाश से बचाने के लिये तथा दूसरो के सामने उदाहरण रखने के लिये स्वय परमात्मा भी कर्म करता है। (३—२१ से २४), ज्ञानी

के लिये कर्म अकर्म का फल बराबर है परन्तु फिर भी कर्म श्रेष्ठ है। (३—१७ से १९) गीता की शंकर की व्याख्या एकांगी है। गीता ने कर्म सन्यास से कर्म योग को निश्चय ही श्रेष्ठ माना है (तयोस्तु कर्म सन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते)।

गीता का मुख्य उपदेश है निष्काम कर्म योग। यही परम श्रेय की प्राप्ति का एकमात्र साधन है। जैसा कि गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में स्पष्ट रूप से कहा है गीता ब्रह्म विद्या और योगशास्त्र है (ब्रह्म विद्यायां योगशास्त्रे)। यह योग पतंजलि के योग से भिन्न है क्योंकि गीता की नैतिक परिस्थिति में प्रश्न चितवृत्ति का विरोध नहीं बल्कि कर्म करने का था। श्रीकृष्ण ने समस्त गीता में जो कुछ कहा है वह बारंबार एक ही आदेश की पुष्टि करता है कि युद्ध करो। यह युद्ध अर्जुन का कर्तव्य था। गीता के अनुसार अपने धर्म को छोड़ना अत्यन्त अनुचित है (स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः) परन्तु इस कर्म का प्रेरक कारण निष्काम होना चाहिये।

इस निष्काम का अर्थ नितान्त प्रेरणाहीन होकर कार्य करना नहीं है क्योंकि मनोवैज्ञानिक दृष्टि कोण से प्रत्येक कर्म का कोई न कोई प्रेरक कारण अवश्य होता है। निष्काम का अर्थ है ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करना, ईश्वर के आदेशो का यन्त्रवत पालन करना, ईश्वरीय चेतना का यंत्र बन जाना अथवा लोक संग्रह की भावना से कर्म करना। गीता के अनुसार मनुष्य को केवल कर्म करने का अधिकार है फल का नहीं। कर्म-फल को हेतु नहीं बनाना चाहिये ना ही अधर्म में आसक्ति होनी चाहिये।

कर्मण्ये वाधिकारस्ते मां फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मातेसंगोऽस्त्व कर्मणि ॥२ ४७

यह निष्काम कर्म योग अर्थात ईश्वरीय चेतना से एकीभूत होकर किया हुआ कर्म है। गीता में योग को "समत्वं" कहा है (२-४८) अर्थात् जो कि सभी अवस्थाओं मे सम भाव से ब्राह्मी स्थिति मे डटा रहे। एक अन्य स्थान पर गीताकार कहते हैं "योगः कर्मसु कौशलं" (२-५०) अर्थात् योग ही कर्मो मे चतुरता अथवा कर्मबंधन से छूटने का उपाय है।

यहाँ गीता ने कर्मवाद और सन्यासवाद का समन्वय किया है। गीता ने आत्म-सयम पर बड़ा जोर दिया है। काम और क्रोध ये दोनो ही मानव के भयंकर शत्रु हैं; इनको अभ्यास और वैराग्य की भावना से जीता जा सकता है। ज्ञान को काम भावना आवृत्त किये रहती है (३—३८)। काम से क्रोध होता है, क्रोध से मोह और मोह से स्मृतिनाश एवं स्मृति नाश से बुद्धि एवं सर्वस्व नष्ट हो जाता है (२ ६२ व ६३) आत्मा द्वारा इन दोनो को जीता जा सकता है क्योंकि बुद्धि और मन आत्मा के यंत्र मात्र हैं। इस प्रकार आत्म सयम से कर्मो का नाश होगा। परन्तु फिर कर्म भी समाज एवं व्यक्ति के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। इस विरोधाभास का हल है

निष्काम कर्म अथवा अनासक्त कम। इससे कर्मों का फल, बन्धन का कारण नहीं होता।

नियत कर्मों का भी गीता ने विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। गीता के अनुसार प्रत्येक मनुष्य के कुछ "स्वभावनियत कर्म" (१८-४१) हैं। इन्हीं नियत कर्मो (१८-२३) को करने से वह अपना व्यक्तिगत और सामाजिक परम श्रेय प्राप्त कर सकता है। गुण और कर्म के भेद से समस्त समाज को चार वर्णों में बाँटा गया है (४-१३) यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मणों में सत्व प्रधान है, क्षत्रियों में रजस सत्व से ऊपर है। वैश्यों मे रजस तमस पर आरूढ़ है और शूद्रों मे तमस विशेष है तथा रजस उसके आधीन है। इस प्रकार गीता ने ब्रैडले के समान समाज मे प्रत्येक व्यक्ति के विशेष स्थान की कल्पना की है। अन्तर केवल यह कि जहाँ ब्रैडले आत्म साक्षात्कार को ही प्रेरक कारण मानते हैं, गीता के अनुसार ध्येय है भागवत प्राप्ति अथवा लोक सग्रह। अन्तः करण का निग्रह, इन्द्रियों का दमन, बाहर भीतर की शुद्धि, धर्म के लिये कष्ट सहन करना और क्षमा भाव एवं मन इन्द्रियों और शरीर की सरलता, आस्तिक बुद्धि, शास्त्र विषयक ज्ञान और परमात्म तत्त्व का अनुभव, ये तो ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं (१८-४२)। शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्ध मे भी न भागने का स्वभाव एव दान और स्वामीभाव ये सब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं (१८ ४३)। खेती, गोपालन और क्रय-विक्रय रूप सत्य व्यवहार वैश्य के स्वभाविक कर्म हैं और सब वर्णों की सेवा करना यह शूद्र का स्वाभाविक कर्म है (१८ ४४)।

इन समस्त कर्मों को ईश्वरार्पण बुद्धि (१२-६) से करना चाहिए। फल की इच्छा बन्धन का कारण है और उसको छोड देने से शाश्वत शान्ति मिलती है (५-१२), ऐसा ही मनुष्य सच्चा सन्यासी है (६-१)। सच्चा त्याग फल त्याग है (१८-२)। स्वार्थपूर्ण इच्छाओं का निरोध करना चाहिये (२-७१)। स्त्री पुत्र और परिवार के संकुचित मोह का परित्याग करना चाहिये (१३-१०)। अतः गीता का नीतिशास्त्र कर्म योग है (३-४) पलायनवाद नही। (५-२)। परन्तु यह कर्मकाड नही है। गीता मे अन्तःकरण की शुद्धि पर जोर है (४-२३)।

गीता ने आसुरी दुर्गुणों को छोडकर दैवी गुणों के अभ्यास पर जोर दिया है। गीताकार ने इन दैवी गुणो का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है यथा अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, शान्त, आर्जव, आचार्योपासन, शौच, स्थिरता, आत्मनिग्रह, इन्द्रियार्थेषु वैराग्य, अनहंकार जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शन, अनाशक्ति अनभिष्वङ्ग, समत्व, तुष्टि तप, दान, ज्ञान, सत्य, दम, शम, मैत्री, करुणा तथा दृढ़ निश्चय इत्यादि (१२-१३ व १४)।

गीता का नीतिशास्त्र सर्वाङ्गवाद है। उसमे मानव व्यक्ति के सभी अगो के समुचित विकास की व्यवस्था है। सर्वाङ्गवाद मे ज्ञान और कर्म के साथ भक्ति का

भी समावेश है। गीता में आत्म समर्पणयोग का बड़ा महत्व है। सब धर्मों को छोड़कर ईश्वर की शरण में जाने से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। सत्व शुद्धि के उपरान्त ज्ञान श्रद्धावान को ही प्राप्त होता है (४-३६)। गीता में भिन्न-भिन्न प्रकार से इसी ईश्वर भक्ति और पूर्ण आत्म समर्पण का उपदेश दिया गया है।

आलोचना :—१. गीता का सदेश विश्व व्यापक और शाश्वत है। आज के आणविक युग मे जब कि अत्यधिक प्रवृत्ति से मानव समाज को भयंकर खतरा है गीता के "निष्काम कर्मयोग" और "सर्वभूतहिते रतः" के आदर्शों का और भी अधिक महत्व हो गया हैं। गीता मे प्रत्येक युग और प्रत्येक देश में मानव को प्रेरणा देने के तत्व विद्यमान हैं। भारत में ही शंकर, रामानुज इत्यादि प्राचीन आचार्यो से लेकर गाधी, तिलक, विनोबा और श्री अरविन्द इत्यादि सभी महापुरुषो ने गीता से प्रेरणा पाई।

२. गीता के नीतिशास्त्र मे वैयक्तिक और सामाजिक दोनो ही हितो का समन्वय है। व्यक्ति नगण्य नही है परन्तु उसकी आत्मा और विश्वात्मा में कोई भेद नही है। सभी भेदभाव अज्ञान के कारण है। व्यक्ति की सर्वाङ्ग पूर्णता परम श्रेय है परन्तु यह पूर्णता लोक संग्रह और भगवत् प्राप्ति से ही प्राप्त की जा सकती है। गीता मे नीत्शे और मार्क्स, व्यक्तिवाद और समाजवाद का सुन्दर समन्वय है।

३. गीता का वर्णाश्रम-धर्म-विचार श्रम-विभाजन (Division of Labour) की आधुनिक वैज्ञानिक व्यवस्था के समकक्ष ही नहीं बल्कि किन्हीं अंशो मे उससे भी श्रेष्ठ है क्योंकि ईश्वरार्पण बुद्धि से वर्णाश्रम धर्म का पालन करने से मनुष्य कर्म बन्धन मे नही फँसता। इस प्रकार गीता ने आध्यात्म शास्त्र एवं समाज शास्त्र का भी अनुपम समन्वय किया है।

४. गीता का निष्काम कर्मयोग का सिद्धान्त केवल आध्यात्मिक दृष्टि से ही नहीं बल्कि व्यवहारिक और सासारिक दृष्टि से भी सर्वोच्च साधन है। उसमे कर्मवाद और सन्यास, भोग और वैराग्य का विलक्षण समन्वय है। निष्काम कर्म में पथभ्रष्ट होने की संभावना नहीं रहती और निरतर कर्तव्यारूढ़ रहने की अखड शक्ति प्राप्त होती है।

५. अनासक्ति योग होते हुए भी गीता का मार्ग स्वाभाविक एवं सर्वाङ्ग है। उसमें कान्ट के समान वासनाओ का बहिष्कार नहीं बल्कि रूपातर और दैवीकरण करने का उपदेश है।

६. गीता में भिन्न-भिन्न स्वभाव के व्यक्तियो के कर्तव्यो का विस्तार से वर्णन होने के कारण दैनिक जीवन में कर्तव्य को समझने में बड़ी सहायता मिलती है।

७. गीता का नीतिशास्त्र तत्त्वज्ञान पर आधारित है अतः उसका आधार ठोस है। ईश्वरवादी होने पर भी उसमें कही भी अध श्रद्धा को प्रोत्साहन नहीं दिया गया है।

८. गीता ने स्वतन्त्रेच्छावाद (Doctrine of Free Will) और निर्धारणवाद का समन्वय किया है। कर्मों का फल और संसार की व्यवस्था परमेश्वर के हाथ मे है। परन्तु उस व्यवस्था को समझ कर ईश्वर के प्रति पूर्ण आत्म समर्पण करके दैवी चेतना के कर्म का सफल यन्त्र बनने के लिये दृढ़ संकल्प और बुद्धिपूर्वक कार्य करने की आवश्यकता है। दैवी चेतना के यत्र बनने का अर्थ है आन्तरिक चेतना के अनुसार कार्य करना क्योंकि आत्मा और परमात्मा मूल रूप में एक ही है। अतः दैवी निर्धारण ही मे सच्ची स्वतन्त्रता है। आत्म समर्पण में ही वास्तविक आत्म साक्षात्कार है। लोक सेवा और भगवत प्राप्ति ही आत्मा को सम्पूर्ण बन्धनो से मुक्त करने का एकमात्र मार्ग है।

Q. 2. Give a critical estimate of the Gita—doctrine of nishkama karma. (Alld. 1956).

प्र० २. गीता के निष्काम कर्म के सिद्धान्त की समालोचना कीजिए। (इलाहाबाद १९५६)

उत्तर :—देखिये निष्काम कर्मयोग उत्तर प्रश्न संख्या १.

Q. 3. How can Nishkama Karma be reconciled with war according to Bhagwadgita ? (Alld 1957).

प्र० ३. भगवद्गीता के अनुसार निष्काम कर्म का युद्ध के साथ सामंजस्य कैसे किया जा सकता है ? (इलाहाबाद १९५७)

उत्तर:—गीता योगशास्त्र है। उसमें कर्मयोग का उपदेश है। निष्काम कर्म है कर्मयोग अर्थात् कर्म मे कौशल (२-५०) जिसका अर्थ है कि उससे कर्म करने पर भी मनुष्य कर्म बन्धन से मुक्त रहता है। अतः निष्काम कर्म अकर्मण्यता नही बल्कि तटस्थ भाव से ईश्वरार्पण बुद्धि मे फल की कामना का त्याग करके कर्म करते जाना है। श्रीकृष्ण ने गीता मे अर्जुन को यही उपदेश दिया था। इसी के औचित्य को सिद्ध करने के लिये वे नाना प्रकार के तर्क करते है।

गीता के तत्वदर्शन के अनुसार संसार मे दो प्रकार के तत्व हैं क्षर और अक्षर, सत और असत। सत का कभी नाश नही हो सकता और असत का अस्तित्व नही है। आत्मा सत है। वह अव्यय, अविनाशी, कूटस्थ और नित्य है। जो अपरिवर्तनीय है वह सत है और जो परिवर्तनशील है वह है असत। अतः शरीर असत ही है क्योकि वह जन्मता और मरता है। वह परिवर्तनशील, नश्वर और अनित्य है। आत्मा क्षेत्रज्ञ और शरीर क्षेत्र है। जो जन्मता है उसकी मृत्यु निश्चित है। पडितजन गत और अनागत की चिन्ता नही करते। ससार की सभी वस्तुएँ नाशवान हैं। शरीर को भी एक न एक दिन नष्ट होना ही है। उसके जन्म मरण को कोई रोक नही सकता।

गीता के इसी तत्त्वदर्शन के आधार पर जहाँ श्रीकृष्ण ने एक ओर निष्काम कर्म का उपदेश दिया है वहाँ दूसरी ओर युद्ध करने का आदेश। गीता की नैतिक परिस्थिति के प्रारंभ में अर्जुन मारकाट को अशुभ समझकर हथियार छोड देता है और किंकर्तव्यविमूढ़ होकर बैठ जाता है। इस पर श्रीकृष्ण उसको युद्ध करने का परामर्श देते हैं और तत्त्व ज्ञान के विवेचन से इस परामर्श का औचित्य सिद्ध करते हैं। मरना मारना आत्मा का नहीं बल्कि शरीर का धर्म है। आत्मा तो अजर-अमर है। उसको न मानव ही मार सकता है न दैव। उसको रुपान्तरित भी नहीं किया जा सकता। और क्योंकि वही यथार्थ तत्त्व है अतः युद्ध में मारने की चिन्ता व्यर्थ है। शरीर ही मरता और मारता है। उसका रूप बदलना तो अनिवार्य है। आज नहीं तो कल तो उसे मरना ही है। अतः कर्तव्य के सन्मुख उसके विषय में सोच-विचार व्यर्थ है।

दूसरे, युद्ध करने मे व्यवहारिक लाभ है। मरने से स्वर्ग मिलेगा और जीतने से पृथ्वी का राज्य। यदि इसको स्वार्थ की दृष्टि से न भी देखा जाय तब भी यह कर्तव्य है क्योकि युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म है और प्रत्येक मनुष्य को अपने धर्म का पालन करना चाहिये। इस धर्म का पालन करना इसलिये आवश्यक है क्योंकि स्वयं ईश्वर ने गुण कर्म के अनुसार विभिन्न वर्णो का विभाजन किया है। पुरुषोत्तम ही वास्तविक नियामक है। वही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनो मे व्याप्त है और दोनो का ही नियंत्रण करता है। भगवान की इच्छा से ही सब कुछ होता है। जो मरने योग्य हैं उनको तो वह पहले ही मार चुका है। अर्जुन तो केवल निमित्त मात्र है। यदि वह युद्ध न भी करेगा तो भी जो मरने योग्य हैं वे तो मरेंगे ही। अर्जुन की नैतिकता इसी मे है कि वह इस दैवी चेतना के कर्म का सफल यन्त्र बने, स्वेच्छा से, स्वयं अपने संकल्प से दैवी कार्य की साधना करे। इस प्रकार समझकर यदि अर्जुन युद्ध करता है तो उसको कर्म बंधन नहीं लगेगा। न लडने पर दैवी विधान का उल्लंघन करके वह कर्त्तव्यच्युत हो जाता है। आत्मा परमात्मा के कर्म का निमित्त मात्र है। कर्म मानव का सहज स्वभाव है। न चाहने पर भी इन्द्रियाँ उसको बलात् कर्म में लगा देगी। अतः बुद्धि मानी इसी मे है कि यथोचित रूप से कर्तव्य का पालन किया जाय।

यज्ञ, तप और दान तथा ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म को भी गीता ने सत माना है (१७-२६ व २७)। जगत के जीवों के पालन पोषण के लिये किये गए कर्म यज्ञ हैं। मनुष्यों के पारस्परिक पालन पोषण के हेतु किये गए कर्म दान हैं और आत्मा की प्राप्ति के लिये किये गए कर्म तप हैं। इस दृष्टि से भी युद्ध करना अर्जुन का नैतिक कर्म बन जाता है।

गीता में लोक संग्रह का बड़ा महत्त्व माना गया है। ज्ञानी मनुष्य और स्वयं भगवान भी लोक हिताय कर्म करते हैं। गीता अवतार वाद के सिद्धान्त का निरूपण

करती है। ज्ञानी मनुष्य को चाहिये कि वह रागद्वेष से रहित होकर निष्काम भाव से अपने नियत कर्मों का पालन करे। क्षात्रय का सहज धर्म है युद्ध, अतः अर्जुन का कर्तव्य युद्ध करना है।

भक्ति के दृष्टिकोण से भी युद्ध करना अर्जुन का कर्त्तव्य है। गीता में विश्वरूप दर्शन का तात्पर्य अर्जुन को यह स्पष्ट दिखा देना है कि भगवान ही समस्त जगत को कर्त्ता, भर्त्ता और हर्त्ता है। इस दर्शन से अर्जुन के समस्त संशय दूर हो गए। गीतोक्त आत्म समर्पण का अर्थ है भगवान के कार्य के यंत्र बनना। यही निष्काम कर्म योग है। अर्जुन ने युद्ध न करने का इसी कारण निश्चय किया क्योंकि वह भ्रमवश अपने को ही कर्त्ता और हर्त्ता मान बैठा और ससार के अनित्य सम्बन्धो को मोह वश नित्य समझने लगा। श्रीकृष्ण ने समझाया कि कोई किसी का पिता, पुत्र मातुल इत्यादि नही है। ये सभी सम्बन्ध अनित्य और नश्वर हैं। आत्मा ही एकमात्र सत्य है अतः मोह छोड़कर अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिये।

निष्काम कर्मयोग के विषय को अठारह अध्यायों मे भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रतिपादित करने का यह नैतिक महत्व है कि व्यक्ति को स्वेच्छा से अपना कर्तव्य पालन करना चाहिये। कर्त्तव्य विमुख होना अथवा बाध्य होकर कर्म करना अनैतिक है स्वयं–प्रेरणा से, एक स्वतन्त्र सकल्प से किये हुए कर्म का ही नैतिक महत्व है। निष्काम कर्म और युद्ध करने मे कोई विषमता नहीं है क्योंकि निष्काम का अर्थ है फल की वासना छोड़कर ईश्वर के आदेश को पालन करना। क्षत्रिय को ईश्वर का लोक रक्षा का आदेश है। अतः निष्काम भाव से युद्ध करना ही अर्जुन का कर्त्तव्य है।

इस प्रकार गीता ने वैराग्य और कर्म, निवृत्ति और प्रवृत्ति का सामंजस्य किया। ज्ञान, भक्ति और कर्म सभी दृष्टिकोण से निष्काम कर्मयोग ही व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक श्रेय है।

Q. 4. Compare the ethics of Bhagwadgita with Kant's ethics of Duty for Duty's sake. (Agra. 1952).

प्र० ४. भगवद्गीता के नीतिशास्त्र की कान्ट के कर्तव्य के लिये कर्त्तव्य के नीतिशास्त्र से तुलना कीजिए। (आगरा १९५२).

उत्तर :—भगवद्गीता मे सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है निष्काम कर्म। निष्काम कर्म का अर्थ प्रेरणाहीन कर्म न होकर समत्व बुद्धि से ईश्वरार्पण की भावना से कर्म करना है। अतः गीता के अनुसार परिणाम की इच्छा से किये गए कर्म नैतिक नहीं हैं। गीता उपयोगितावादी नहीं है। जो कर्मफल की भावना से कर्म करते हैं वे अत्यन्त दीन हैं। इसी प्रकार कान्ट ने भी परिणाम को नैतिक निर्णय का विषय नहीं माना है। उनके अनुसार इस ससार मे शुभ सकल्प से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। संकल्प शुभ होने पर कार्य शुभ है चाहे उसका परिणाम कुछ भी हो। नैतिक नियम

परिस्थिति निरपेक्ष हैं। उनका औचित्य स्वयंसिद्ध है। परिणाम से उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

इसी प्रकार हमारी मानसिक प्रवृत्तियां भी कर्म की प्रेरक नहीं हो सकतीं। रागद्वेष की प्रेरणा से कर्म करने से ही मनुष्य भवचक्र में फंसता है। काम से क्रोध और क्रोध से मोह होता है तथा मोह से स्मृति भंग और स्मृति भंग से बुद्धि नाश। इस प्रकार मानसिक प्रवृत्तियां अज्ञान की ओर ले जाती हैं। इस प्रकार गीता ने द्वेष और राग, दोनों को ही परित्याग करने का उपदेश दिया है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही दो परस्पर विरोधी बातें हैं। इन्द्रियों को अभ्यास और वैराग्य से जीतना चाहिये। अनासक्त होकर कर्म करना ही श्रेय है। गीता का यह मत भी कांट के नैतिक सिद्धान्तों के बहुत निकट है। कांट के अनुसार इच्छा और संकल्प का सतत संघर्ष ही नीतिशास्त्र का आधार है। निकृष्ट इच्छाओं का दमन परम कर्तव्य है। नैतिक जीवन में इच्छा और संवेग का कोई स्थान नहीं है। प्रेम और सहानुभूति के कारण कार्य करना भी अनैतिक है। शुद्ध नैतिक जीवन शुद्ध बुद्धि का जीवन है। नियम के प्रति आस्था ही एकमात्र उचित प्रेरक कारण है। इच्छा मात्र के इस बहिष्कार के कारण ही आलोचकों ने कान्ट के नीतिशास्त्र को कठोर कहा है।

परन्तु गीता इच्छा, संवेग और अनुभूतियों को सर्वथा अशुभ नहीं मानती। आसुरी-सम्पदा परित्याज्य है परन्तु दैवी सम्पदा भगवद्-प्राप्ति में सहायक है। मानव के हृदय पक्ष के विकास के हेतु ही गीता ने भक्ति तथा उपासना पर जोर दिया। भावनाओं का बहिष्कार नहीं बल्कि रूपान्तरण एवं दैवीकरण करने की आवश्यकता है।

कान्ट का आदेश है कि "साध्यों के साम्राज्य के सदस्य की भाँति काम करो"। यह सिद्धान्त गीता के वर्णाश्रम व्यवस्था और लोक संग्रह की भावना के बहुत निकट है। कान्ट और गीता दोनों हीने व्यक्तिगत और सामाजिक हितों को परस्पर सम्बद्ध माना है और लोक सेवा का उपदेश दिया है परन्तु जहाँ कान्ट के लिये लोक सेवा का प्रेरक कारण है नैतिक नियम के प्रति आस्था है, वहाँ गीता में सभी कर्मों का एकमात्र ध्येय भगवद्-प्राप्ति ही है (१२·४)। अतः जहाँ कांट के लिये कर्तव्य परम श्रेय है वहाँ गीता ने ईश्वर को परम लक्ष्य माना है। कांट का नीतिशास्त्र नियमवादी (Jural) है गीता का प्रयोजनवादी (Teleological)। कांट के नीतिशास्त्र में ईश्वर की आवश्यकता नैतिक नियम की रक्षा के हेतु होती है। परन्तु गीता में नैतिक नियम ईश्वरीय सत्ता से निकलते हैं। कांट के नीतिशास्त्र का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं। गीता का नीतिशास्त्र धार्मिक और आध्यात्मिक है। कांट के अनुसार नीतिशास्त्र ही मानव की प्रगति का अंतिम सोपान है। गीता के अनुसार नीति से परे धर्म है और धर्म से भी परे आध्यात्मिकता।

कांट ने केवल ज्ञान और कर्म की महत्ता बतलाई है। उनका नीतिशास्त्र नितांत हृदयहीन और कठोर हो गया है। परन्तु भक्ति को भी परम साधन मे सम्मिलित करके गीता ने मानव की सर्वाङ्ग प्रगति की व्यवस्था उपस्थित की। गीता का नीतिशास्त्र काट के सिद्धांतो से अधिक सर्वाङ्गपूर्ण है। गीता दया, क्षमा, प्रेम, सहानुभूति इत्यादि को नैतिक गुण मानती है।

मानव अनुभूतियो के महत्व का निषेध करने से कान्ट का नीतिशास्त्र व्यक्तिवादी बन गया है क्योकि मानव को मानव के पास लाने वाला तत्व बुद्धि नही बल्कि हृदय ही है। गीता का नीतिशास्त्र सार्वभौम है क्योंकि उसमें वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना है। प्रेम और मोह में अन्तर है। शुद्ध प्रेम दैवी चेतना का परम साधन है। अतः गीता और कान्ट के नीतिशास्त्र मे पर्याप्त साम्य होते हुए भी यथेष्ट अन्तर भी है। कान्ट का बुद्धिवाद गीता के सर्वाङ्गवाद की ओर एक सोपान मात्र है।

Q. 5. Compare Kant's doctrine of the Categorical Imperative with the Nishkama Karma theory of Bhagwad gita. (Alld. 58).

प्र० ५. कान्ट के निरपेक्ष आदेश के सिद्धान्त की तुलना भगवदगीता के निष्काम कर्म के सिद्धान्त से कीजिये।

उत्तर :—पिछला प्रश्नोत्तर देखिये।

Q. 6. Estimate the moral value of ethics of Bhagwadgita versus Hedonism. (Agra. 53).

प्र० ६. सुखवाद की तुलना में भगवदगीता के नोति शास्त्र का मूल्यांकन कीजिए (आगरा १९५३)।

उत्तर :—सुखवाद केवल सुख को परम श्रेय मानता है चाहे वह व्यक्ति का सुख हो अथवा बहुसख्यक जनता का। परन्तु गीता मे सुख नही बल्कि पूर्णता और भगवद्-प्राप्ति परम लक्ष्य है। इस प्रकार वाह्य दृष्टि से परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने पर भी दोनो को एक ही नैतिक श्रेय मे भिन्न भिन्न सोपान मानना ही अधिक उपयुक्त है। गीता सुखवाद की विरोधी नही। वह कान्ट के समान इन्द्रियो के दमन पर जोर नही देती परन्तु उसका सुख सम्पूर्ण आत्मा का सुख है। उसका आनन्द पूर्णता का आनन्द है। मोटे रूप से हम सुखवाद और गीता के नीति शास्त्र मे निम्नलिखित समानतायें पाते हैं :—

दोनो व्यर्थ कर्मकान्ड के विरोधी हैं। दोनो ही धार्मिक ग्रन्थों को अनावश्यक सम्मान देने के विरुद्ध हैं।

२. दोनो ही इन्द्रिय दमन के विरुद्ध हैं।

परन्तु ये समानताएँ निम्न विषमताओं के सन्मुख नगण्य सी जान पड़ती हैं :—

१. गीता आकार शास्त्र के साथ धर्म शास्त्र भी है। सुखवाद भौतिकवादी है उसका धम से कोई सरोकार नहीं।

२. गीता पूर्णतावादी है। सुखवाद केवल भौतिक अथवा मानसिक सुख को ही परम श्रेय मानता है।

३. गीता समन्वयवादी है। उसमें ज्ञान कर्म और भक्ति का समन्वय है। सुखवाद एकागी न तिशास्त्र है।

४. सुखवाद भोगवाद है। गीता भोग और संयम, ज्ञान और कर्म का समन्वय वह।

सुखवाद ने इन्द्रिय सुख पर जोर दिया। गीता ने उनका रूपान्तर आवश्यक मानकर सुखवाद और बुद्धिवाद की खाँई को भर दिया।

Q. 6. Contrast and examinecritically the ethical doctrine of Charvakas and Bhagwadgita. (Agra. 1954).

प्र० ६. चार्वाक और गीता के नैतिक सिद्धान्तों की तुलनात्मक विवेचना कीजिए। (आगरा १६५४)।

उत्तर :—चार्वाक भारतीय सुखवाद है। (देखिये उत्तर प्र० ५)

———

अध्याय ११

The Ethics of Gandhi

गाँधी का नीति शास्त्र

Q 1. Give a critical estimate of the ethics of Mahatma Gandhi.

प्र० १. महात्मा गाँधी के नीतिशास्त्र का तर्कपूर्ण विवेचन कीजिए।

उत्तर :—गाँधीजी के अनुसार परम नैतिक श्रेय ईश्वर-साक्षात्कार है। ईश्वर के विषय में उनकी धारणाएँ गीता और उपनिषदो के दर्शन पर आधारित हैं। ईश्वर सच्चिदानन्द है। ईश्वर सत्य है, प्रकाश है, प्रेम है और है निर्भयता। सत्य और अहिंसा उसके सार रूप हैं। ईश्वर हम सबमे अन्तर्चेतना है। वह अनिर्वचनीय हैं। ईश्वर और नियम पृथक नहीं। ईश्वर स्वयं नियम है। वह स्वयं भी अपने नियमों का पालन करता है। ईश्वर व्यक्ति नहीं है। वह जीव और जगत का आत्मा है। मानव केवल कर्म चुनने मे स्वतन्त्र है उनके परिणाम उस पर निर्भर नहीं करते। मानव की स्वतन्त्रता के विषय में गाँधी जी के विचार गीता पर आधारित हैं। आत्मा ईश्वर न होकर भी उससे अभिन्न है।

आदम को खुदा मत कहो, आदम खुदा नही।
लेकिन खुदा के नूर से, आदम जुदा नही।

जीवन की एकता :—सभी मानव प्राणियो मे एक ही ईश्वर का आवास मानने के कारण गाँधीजी विश्वबन्धुत्व के भारी समर्थक थे। यही नहीं बल्कि प्रत्येक जीवमात्र में ईश्वर का अस्तित्व मानने से गाँधी जी का अहिंसा का सिद्धान्त बड़ा व्यापक हो गया है। उनके अहिंसा और जनसेवा के सिद्धान्त उनके धर्म-दर्शन पर आधारित हैं। उनके शब्दो में "मेरा धर्म ईश्वर की सेवा और इसलिये मानवता की सेवा है।"

स्वराज्य और स्वदेशी :—गाँधीजी के स्वराज्य और स्वदेशी आन्दोलनो के मूल मे भी यही विचार थे। भगवद् प्राप्ति जीवन का परम लक्ष्य है। ईश्वर घट-घट व्यापक है अत: ईश्वर प्राप्ति का अर्थ है आत्म लाभ अथवा स्वराज्य। अपनी आत्मा मे स्थित रहना सच्चा स्वराज्य है। समाज में इसका अर्थ है आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक आत्म निर्भरता। इसी समाज-दर्शन के आधार पर गाँधीजी ने स्वदेशी आन्दोलन चलाया। स्वदेशी के व्यवहार से व्यक्ति और समाज में आत्मनिर्भरता और स्वदेश प्रेम जाग्रत होता है।

सर्वोदय :—ईश्वर-प्राप्ति का साधन जनसेवा है क्योंकि ईश्वर सबमें व्याप्त है। गाँधीजी ने भगवद् प्राप्ति के लिये स्वदेशी, स्वराज्य और सर्वोदय को क्रमशः सोपान माना है। स्वदेशी से स्वराज्य होगा और स्वराज्य से सर्वोदय। सर्वोदय का आदर्श रामराज्य का आदर्श है। सर्वोदय का अर्थ है सभी का समुचित विकास है। उसका लक्ष्य एक ऐसे समाज की स्थापना है जिसमें सभी व्यक्ति, भाषा, धर्म, साहित्य, प्रान्त इत्यादि को अभ्युदय का अवसर मिले।

नीति शास्त्र और धर्म का समन्वय :—इस प्रकार गाँधीजी ने नीतिशास्त्र और धर्म का समन्वय किया। उनके अनुसार नीति में धर्म सम्मिलित है। "नीति रूपी बीज को जब तक धर्म रूपी जल का सिंचन नहीं मिलता तब तक उसमें अंकुर नहीं फूटता।" (गाँधी—नीति-धर्म)। इसी अर्थ में गाँधी जी बेन्थम को धार्मिक मानते थे।

नीति का स्वरूप :—नीतिशास्त्र भले बुरे का विवेचन करने एवं शुभ की प्राप्ति के हेतु निष्काम भाव से कार्य करने का आदेश देता है। वह आदर्शों का शास्त्र है। वह व्यक्ति और समाज दोनों के लिये नियम उपस्थित करता है। वह सार्वभौम है। गाँधीजी के अनुसार "प्रत्येक प्रकार की स्थिति में न्याय किस प्रकार किया जाय, नीति किस प्रकार निबाही जाय—जो राष्ट्र इस शास्त्र को सीखता है वही सुखी होता है, बाकी सब बातें वृथा प्रयास हैं।" (सर्वोदय)

नीति और राजनीति का समन्वय :—इस प्रकार गाँधीजी ने—नीति और राजनीति का भी समन्वय किया। राजनीति और अर्थशास्त्र दोनो का आधार नैतिक होना चाहिये। "जिसकी लाठी उसकी भैंस" का सिद्धान्त प्राचीन युग का सिद्धान्त है। साम दाम दंड और भेद वाली राजनीति का युग बीत गया। आज के युग में केवल साम और दाम नीति ही सच्ची नीति है। अहिंसा और परोपकार ही मुख्य नैतिक नियम हैं।

नैतिक नियमों के लक्षण :—

१. नैतिक नियम अचल हैं।

२. नैतिक नियम व्यक्ति और परिस्थिति निरपेक्ष तथा विश्व व्यापी हैं।

३. नैतिक नियम ईश्वरीय हैं।

४. नैतिक नियम का परिणाम भी अन्ततः शुभ होता है।

५. नैतिक नियमों के इतिहास का अर्थ केवल शाश्वत, अटल और व्यापक नैतिक नियमों की प्रगतिशील व्याख्या का इतिहास है। सभ्यता की प्रगति के साथ साथ हम उन्हें और भी समझते जाते हैं।

६. अन्तरात्मा ईश्वर का अंश है। अतः वही नैतिक नियमों का व्याख्याता भी है।

शुभाशुभ निर्णय :—यंत्रवत अथवा सहज क्रियाएँ नैतिक निर्णय का विषय नही है। अन्य हेतुवादी नीतिज्ञो के समान गाँधी जी भी ऐच्छिक क्रियाओ को ही नैतिक निर्णय का विषय मानते हैं। इनमे आदत जन्य कार्य भी आ जाते हैं। गाँधीजी के शब्दों मे "नीति के विषय मे विचार करते हुए इतना देखना है कि किया हुआ काम शुभ है और शुद्ध हेतु से किया गया है। उसके फल पर हमारा बस नही है, फल देने वाला तो एकमात्र ईश्वर है।" (नीति-धर्म)

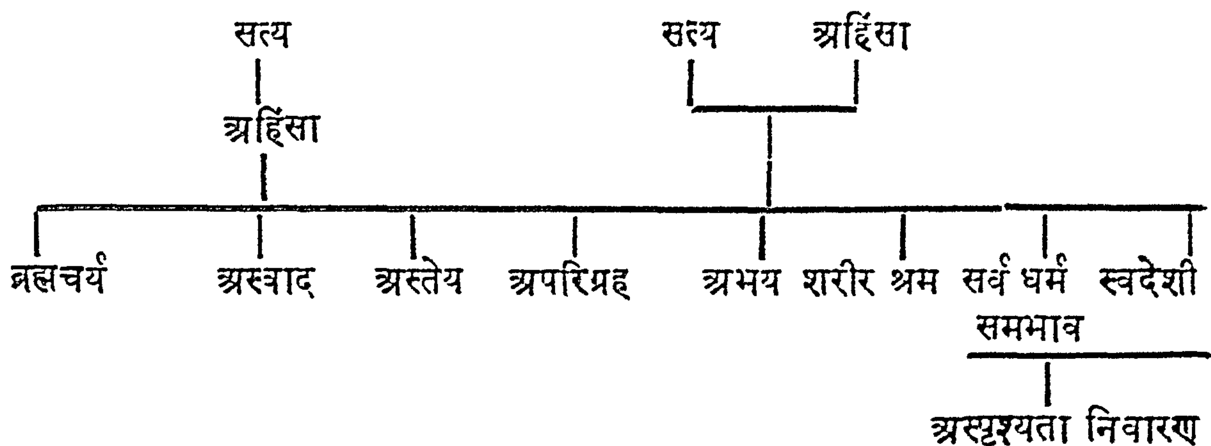
साध्य साधन का सम्बन्ध :—यहाँ पर साध्य और साधन के सम्बन्ध का प्रश्न आ जाता है। सामान्यतः गाँधीजी यह मानते हैं कि साध्य अच्छा होने से ही साधन अच्छा नही हो जाता परन्तु उन्होने इसके अपवाद भी माने है। उदाहरणार्थ गाँधीजी ने स्वयं ही नमक कानून तोड़ने का आन्दोलन किया। इस अपवाद के दो पक्ष हैं। एक तो जहाँ साध्य और साधन का सम्बन्ध एक ही व्यक्ति से रहता है। और दूसरे जहाँ सभी उत्तम साधन असफल सिद्ध हो चुके हैं। इन दोनों परिस्थितियों मे कभी कभी बुरे साधन का भी प्रयोग करना उचित हो सकता है। परन्तु सभी अवस्थाओं मे साध्य का अच्छा होना तो नितान्त अनिवार्य है।

साधन-अहिंसा और सत्याग्रह :—गाँधीजी सत्य को ईश्वर के बराबर मानते थे। अतः सत्याग्रह साध्य के रूप मे व्यक्ति और समाज दोनो का ही परम ध्येय हो जाता है। सत्याग्रही को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का अभ्यास करना चाहिये। साध्य के साथ साथ सत्याग्रह साधन भी है। साधन रूप में सत्याग्रह का अर्थ असहयोग तथा अनशन अहिंसक इत्यादि उपायो से इष्ट सिद्धि का प्रयास करते हुए सत्य पर डटे रहना है। गाँधी जी ने राजनैतिक क्षेत्र में इस साधन का सफलता पूर्वक प्रयोग किया।

अहिंसा गाँधीवादी व्यवहार का मूलमंत्र है। सत्याग्रही के उपरोक्त पाँच नियमो मे भी अहिंसा ही मुख्य है। सत्य और अहिंसा का चोलीदामन का साथ है। गाँधी जी के शब्दो मे "अहिंसा के बिना सत्य का साक्षात्कार असंभव है। ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह भी अहिंसा के अर्थ मे है। ये अहिंसा को सिद्ध करने वाले है। अहिंसा सत्य का प्राण है" (गीता माता)। गाँधी जी के अनुसार "अहिंसा को साधन और सत्य को साध्य समझना चाहिये" (मंगल प्रभात)। गाँधीजी ने अहिंसा को बड़े ही विस्तृत अर्थों मे लिया है। हमें मन, वचन और कर्म किसी भी प्रकार से किसी को आघात न पहुँचाना चाहिये। गाँधी जी के शब्दो में "कुविचार मात्र हिंसा है। उतावली हिंसा है। मिथ्या भाषण हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसी का बुरा चाहना हिंसा है। जगत के लिये जो आवश्यक वस्तु है उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है।"

(मंगल प्रभात)

इस प्रकार अहिंसा परम धर्म है। निषेधात्मक स्वरूप के अतिरिक्त उसका विधायक रूप भी है। अहिंसा में प्रेम, सहानुभूति, दया और निर्भरता है। अहिंसा के इस व्यापक रूप को गाँधी जी ने इस चित्र द्वारा व्यक्त किया है। अहिंसा महान



व्रत है। "व्रत का अर्थ है अटल निश्चय।" समाज और व्यक्ति दोनों को ही अहिंसा का व्रत लेना चाहिये। अहिंसा के पालक के लिये गाँधीजी ने उपरोक्त ११ व्रत बतलाए हैं। आचार्य विनोबा के शब्दों में—

"अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य असंग्रह।
शरीर श्रम अस्वाद सर्वत्र भय वर्जन॥
सर्वधर्मी समानत्व स्वदेशी स्पर्श-भावना।
हीं एकादशे सेवावी नम्र.वे व्रतनिश्चये॥"

गाँधीजी के अहिंसा पालन में उपवास, ईश्वर प्रार्थना और प्रायश्चित्त का भी समावेश है। प्रार्थना से शक्ति मिलती है। उपवास से शरीर और आत्मा की शुद्धि होती है। प्रायश्चित्त हृदय-परिवर्तन के लिये किया जाता है।

इन समस्त व्रतो को गाँधीजी ने बड़े ही कठोर अर्थों मे लिया है। ब्रह्मचर्य का अर्थ विषय मात्र का निरोध है। गाँधी जी के अनुसार एक पत्नी व्रती और केवल सन्तानोत्पत्ति के लिये ही मैथुन करने वाला व्यक्ति भी ब्रह्मचारी ही है। इसी प्रकार अस्वाद का अर्थ रसनेन्द्रिय का जीतना है। अस्तेय का अर्थ भी बड़ा व्यापक है। पर धन अपहरण के अतिरिक्त, लालच, स्वार्थ, दान न देना, पड़ी हुई अथवा अनावश्यक वस्तु रखना तथा अनावश्यक धन संग्रह भी चोरी ही है। अतः मन और कर्म से अपरिग्रह आवश्यक है। गाँधीजी के मतानुसार धनिक व्यक्ति धन के स्वामी नहीं बल्कि ट्रस्टी (न्यासी) मात्र हैं। उन्हें उसको मानवता, समाज या राष्ट्र के हित मे ही व्यय करना चाहिये। अभय साहसी का गुण है। भय द्वैत के कारण होता है। अहिंसा के व्रती के बुराइयो को छोड़कर और किसी से न डरना चाहिये। छुआछूत समाज का कलंक है। उसको दूर करना प्रत्येक का धर्म है। सभी को अपना काम स्वय करना चाहिये। शारीरिक श्रम परमावश्यक है। गाँधी जी ने भंगी का कार्य तक सबको स्वयं करने का परामर्श दिया। गाँधीजी के

अनुसार परधर्मों के प्रति सहिष्णुता अथवा आदर का भाव न होकर समभाव होना चाहिये। गाँधीजी की प्रसिद्ध दैनिक प्रार्थना के पीछे यही समभाव था। स्वदेशी अहिंसा का प्रधान अंग है परन्तु उसका अर्थ विदेशी का द्वेष नहीं है। गाँधीजी के शब्दों में "जो वस्तु स्वदेश में नहीं बनती अथवा महा कष्ट से ही बनती है उसे परदेशी के द्वेष के कारण कोई अपने देश में बनाने बैठ जाय तो उसमें स्वदेशी धर्म नही है।" इस वक्तव्य से गाँधीजी की उदार राष्ट्रीयता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में अहिंसा :—गाँधीजी ने अर्थशास्त्र और राजनीति को नीतिशास्त्र पर आधारित करने पर जोर दिया। उन्होंने स्वयं इन दोनो क्षेत्रो में अनेक सफल प्रयोग किये। अहिंसा केवल वैयक्तिक ही नही बल्कि सामाजिक राजनैतिक और आर्थिक जीवन का भी व्यावहारिक नियम है। अहिंसा आत्मशक्ति है। उसमें रूपान्तरकारी शक्ति है। आर्थिक क्षेत्र में गाँधीजी ने शोषक संस्थाओं के साथ असहयोग करने और कुटीर उद्योगों पर जोर देने का उपदेश दिया। उन्होने शारीरिक श्रम के बिना जीवन पाप बतलाया। समाज में अहिंसा होने पर शोषण नहीं रह सकता। गाँधीजी ने स्वेच्छापूर्वक त्याग और संयम करने पर जोर दिया। मार्क्स के समान गाँधीजी भी श्रम को वास्तविक पूँजी मानते थे और समान वितरण के हिमायती थे परन्तु वे वर्ग-संघर्ष के विरुद्ध थे। घृणा से घृणा उत्पन्न होती है और हिंसा से हिंसा। धनिक जनता के धन के ट्रस्टी है और उन्हे उसी प्रकार धन का उपयोग करना चाहिये। पूँजीवाद को समाप्त करने के लिये गाँधीजी ने अहिंसक असहयोग अपनाने का परामर्श दिया।

राजनैतिक क्षेत्र मे गाँधीजी ने दूसरो को गुलाम बनाने को हिंसा और पाप बतलाया। विदेशी सत्ता से मुक्ति के साधनों के रूप में उन्होने अहिंसक असहयोग और सविनय अवज्ञा का निर्देश किया। गाँधीजी राज्य को सर्वशक्तिशाली बनाने के घोर विरोधी थे। गाँधीजी तानाशाही के कटु आलोचक हैं। वे जनतन्त्र के समर्थक हैं। अहिंसक जनतंत्र मे सबको समान स्वतंत्रता होगी। गाँधीजी का आदर्श एक सहयोग पूर्ण अहिंसक समाज है जिसमें राज्य नही होगा।

सामाजिक क्षेत्र मे अछूतोद्धार तथा विधवाओ की दशा सुधारने के आन्दोलन गाँधी जी के समभाव के उपदेश पर आधारित थे। यहाँ पर भी मूल मंत्र अहिंसा ही है। सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक, सभी प्रकार का शोषण हिंसा हैं। इन सभी को दूर करने के लिये गाधी जी ने अहिंसक असहयोग का उपदेश दिया।

आलोचना :—१. महात्मा गाँधी एक धार्मिक व्यक्ति थे। उनका नीतिशास्त्र उनकी धार्मिक आस्थाओ पर टिका हुआ है। सुव्यवस्थित न होने पर भी उनके नीतिशास्त्र में युग की आवाज है।

२. यह कहना अधिक गलत नहीं कि गाँधीजी ने कोई नवीन नैतिक नियम नहीं प्रस्तुत किये परन्तु उन्होने प्राचीन नियमों को सर्वथा नवीन रूप में रखा। राजनैतिक क्षेत्र मे सर्व प्रथम गाँधीजी ने ही अहिंसा का उपदेश दिया और उसका सफलता पूर्वक प्रयोग भी किया। उन्होने दंड और भेद को अनीति ठहराया। गाँधी जी अहिंसक क्रान्ति के अग्रदूत थे।

३. गाँधीजी को अतिरेकवादी (Extremist) कहा जाता है। इसमें बहुत कुछ सत्य है यद्यपि हमको यह नहीं भूलना चाहिये कि उन्होंने अपने व्रतों को अधिकाधिक पालनीय बनाने की चेष्टा की और स्वयं पालन करके उनकी व्यवहारिकता सिद्ध की। इन्द्रिय दमन पर अत्यधिक जोर होने के कारण उनके नीतिशास्त्र में कठोरता और एकांगिता आ गई है। पारिवारिक जीवन के सुख के लिये संभवतः उनकी ब्रह्मचर्य की धारणा अरुचिकर और हानिकारक भी प्रतीत हो सकती है परन्तु अहिंसा, प्रेम, समभाव आदि सद्गुणो पर बल देकर गाँधी जी ने अपने उपदेशों को नितान्त हृदयहीन होने से बचा लिया है। वास्तव में गाँधी स्वयं प्रयोगवादी थे और किसी भी साधन को अन्तिम नहीं मानते थे। उनको आशा थी कि अहिंसा के प्रयोग में नए नए विकास होंगे और ध्यान देने पर यह आशा कोई दुराशा नहीं प्रतीत होती।

४. अहिंसा के प्रयोग की सभावनाओं के विषय मे कुछ आलोचकों को बड़ी शंकाएँ हैं। परन्तु गाँधीजी के विचारों को समझने के लिये सामान्य व्यवहारिक स्तर को छोड़कर समस्या के मूल मे जाना होगा और तब सब प्रकार के स्वस्थ और स्थायी सुधारों के लिये अहिंसा की उपयोगिता स्पष्ट हो जाएगी।

५. ट्रस्टीशिप की संभावना के विषय में अवश्य कुछ व्यवहारिक शंकाएं हो सकती हैं। विनोबा जी के आन्दोलन गाँधीवाद को व्यावहारिक क्षेत्र में उतारने के प्रयास हैं। वे कहाँ तक व्यवहारिक हैं यह तो भविष्य ही बतलाएगा।

६. गाँधी जी ने सभी समस्याओं के मौलिक हल खोजने का प्रयास किया। उनका मानव के भविष्य का चित्र और वर्तमान समस्याओं के सुलझाव अव्यवहारिक प्रतीत होने का एक मुख्य कारण यह भी है कि अभी मानव समाज उस स्तर तक नहीं उठ सका है और न ही उसमे इतना नैतिक बल है कि वह साधनो का सफलता पूर्वक प्रयोग कर सके। परन्तु इससे केवल यही निष्कर्ष निकलता है कि उनके मार्ग पर चलने के लिये समाज में नैतिक बल लाना होगा।

Q. 2. Explain clearly Gandhi's ethics of Non-Violence and discuss its prospects for world peace. (Alld. 58).

प्र० २. गाँधीजी की अहिंसा की नीति की स्पष्ट व्याख्या कीजिये तथा उसके द्वारा विश्व शान्ति की स्थापना कहाँ तक सम्भव है, इसका विचार कीजिये।

उत्तरः—पिछला प्रश्नोत्तर देखिये ।

Q. 3. Discuss the value of Non-Violence as a maxim of morality. Is moral use of power not necessary or possible? (Alld. 1957).

प्र० ३. नैतिक सिद्धान्त की दृष्टि से अहिंसा की मीमांसा कीजिए। क्या शक्ति का नैतिक उपयोग आवश्यक अथवा सम्भव नहीं है ? (१९५७)

उत्तर :—अहिसा नैतिक व्यवहार मे एक साधन है । इसके विपरीत साधन हैं हिसा अथवा शक्ति प्रयोग । इन दोनो साधनो मे से कौन श्रेयस्कर है और क्यो तथा किस हद तक, यह देखने के लिये पहले यह देखना है कि उचित और अनुचित क्या है ।

नीतिशास्त्र की दृष्टि से उचित वह है जो शुभ हो और अनुचित वह जो कि अशुभ हो । अब, किसी भी नैतिक कर्म के परिणाम के दो पक्ष हो सकते हैं व्यक्तिगत और सामाजिक, विषयी पर और विषय पर । यदि किसी कार्य का फल उसके कर्त्ता के लिये तो अच्छा हो और उसके विषय के लिये हानिकारक अथवा यदि किसी कार्य का परिणाम व्यक्ति के लिये शुभ हो और समाज के लिये अशुभ, अथवा वर्तमान अवस्था मे अच्छा हो और कालान्तर मे हानिकारक तो उस कार्य को शुभ नही कहा जा सकता क्योकि शुभ होने के लिये कार्य का परिणाम, व्यक्ति और समाज, वर्तमान और भविष्य सभी में ही शुभ होना चाहिये । यहाँ पर यह शङ्का हो सकती है कि नैतिक निर्णय का विषय तो हेतु है फल नहीं । परन्तु यह प्रश्न तभी उठता है जबकि हेतु और फल मे अन्तर हो । उपरोक्त उदाहरण में परिणाम का तात्पर्य हेतु से ही है ।

इस कसौटी पर हिसा को कसने से हम देखते है कि हिंसा के परिणाम या तो व्यक्ति के लिये शुभ हो सकते है या समाज के लिये, दोनो के लिये कभी नहीं । मजदूरो का शोषण करने वाला धनिक स्वयं तो सुखी रहता है परन्तु उसके कारण असंख्य जन भूखे और नंगे रहते हैं । एकतन्त्रवादी समाज मे सार्वजनिक प्रगति तो होती चलती है परन्तु विचार स्वातन्त्र्य के अभाव में व्यक्ति का व्यक्तित्व पंगु रह जाता है । इसके अतिरिक्त हिंसा का तात्कालिक परिणाम ही अच्छा हो सकता है । कालान्तर में न तो वह व्यक्ति के लिये शुभ है और न समाज के लिये । हिंसक व्यक्ति की प्रवृत्तियाँ निरंकुश हो जाती है । उसका चरित्र गिर जाता है । लोग उससे भयभीत तो होते हैं परन्तु अन्दर-अन्दर घृणा भी करते हैं । फिर उसको प्रतिपक्षी से सदैव बदले का भय रहता है । हिसा से हिंसा ही उत्पन्न होती है ।

दूसरी ओर अहिसा के परिणाम इसके ठीक विरुद्ध हैं । अहिंसा से फल प्राप्ति में विलम्ब हो सकता है परन्तु जो फल प्राप्त होता है वह स्थायी भी होता है और शुभ भी । यह भी हो सकता है कि अहिसा के पुजारी को प्राण तक देने पड़े अथवा

कष्ट उठाने पर भी फल न मिले परन्तु उस कष्ट का परिणाम भी उसके और प्रतिपक्षी दोनों के ही आध्यात्मिक सुख में वृद्धि करता है। मानव की शान्ति उसके चरित्र पर निर्भर है। अहिंसक व्यक्ति को बाहरी कष्ट होने पर भी आन्तरिक शान्ति रहती है। प्रतिपक्षी बाहर से न झुकते हुए भी अन्दर-अन्दर कायल होता जाता है और अन्ततः आत्म समर्पण कर ही देता है।

अब यह प्रश्न उठता है कि क्या शक्ति-प्रयोग किसी भी अवस्था में आवश्यक या संभव नहीं है? उत्तर है कि कुछ अपवाद में वह आवश्यक भी है और सम्भव भी। हिंसा अथवा बल प्रयोग तभी बुरा है जबकि उसका अनावश्यक रूप में अथवा इस या उस वर्ग या व्यक्ति के स्वार्थ के लिये प्रयोग हो। यदि कोई व्यक्ति अथवा वर्ग किसी भी प्रकार अपने गलत मार्ग को छोड़ने के लिये तैयार नहीं होता और उससे औरो की बड़ी हानि हो रही है तब बल प्रयोग भी आवश्यक हो जाता है। यहाँ पर यह शका हो सकती है कि किसी व्यक्ति अथवा वर्ग को दूसरे व्यक्ति अथवा वर्ग के लाभ के हेतु साधन के रूप मे कैसे प्रयोग किया जा सकता है? इसका समाधान यह होगा कि अनुचित कार्य करने वाला व्यक्ति सबसे अधिक स्वयं की ही क्षति करता है। गीता के शब्दो मे तो वह बाह्य रूप से जीते हुए भी मृतक के समान है। इस प्रकार यदि सबके हित में और स्वयं उस व्यक्ति अथवा वर्ग के हित में यही हो कि उस पर बल प्रयोग किया जाय और शान्ति पूर्ण उपायो से काम न निकलता हो तो बल प्रयोग आवश्यक भी है और नैतिक भी। गीता में युधिष्ठिर के झूठ बोलने और कृष्ण के अर्जुन को युद्ध करने का उपदेश देने के पीछे यही तर्क है। पाडव सब प्रकार के शान्तिपूर्ण साधनो का प्रयोग करके असफल हो चुके थे। कौरवों के दुराचारो से स्वयं कौरवो की आन्तरिक मृत्यु हो चुकी थी। समाज के हित के लिये और कर्तव्य पालन के लिये आवश्यक था कि अर्जुन युद्ध करे और निष्काम भाव से ईश्वरार्पण बुद्धि से युद्ध मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से नितान्त अहिंसक था। अतः वह सर्वथा नैतिक भी था।

वर्तमान युग में अहिंसा के महान् पुजारी गाँधीजी ने भी कुछ अपवाद के अवसरों पर बल प्रयोग आवश्यक माना है। परन्तु उसमें यह आवश्यक शर्त है कि अन्य सभी उपाय असफल सिद्ध हो चुके हो और वह बल प्रयोग विषय और विषयी दोनो के लिये शुभ हो। गाँधीजी ने स्वयं भी कभी कभी इसी प्रकार का व्यवहार किया है। नमक कानून तोडना साधन रूप में बल प्रयोग भी था और अवैधानिक भी। परन्तु उससे भारत का ही नियम टूटता था और भारत का ही लाभ था। अन्य कोई साधन था नहीं। साथ ही उसमे अंग्रेजो की भी नैतिक उन्नति थी क्योकि भारत को पराधीन बनाकर वे घोर अनैतिक कर्म कर रहे थे। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि यह कार्य विशुद्ध कर्तव्य के लिये और निष्काम था।

अग्रेजो के विरुद्ध युद्ध मे गॉधीजी ने सदैव उनसे घृणा न करने बल्कि प्रेम करने का उपदेश दिया। वे अपने को अग्रेजो का परम मित्र कहते थे।

इस प्रकार बल प्रयोग की नैतिकता और अनैतिकता का निर्णय सम्पूर्ण परिस्थिति को समझकर ही किया जा सकता है और कुछ परिस्थियो में वह आवश्यक भी हो जाता है।

Q. 3. Compare and contrast the ethics of Gandhi with that of Nietzsche.

प्र० ३. गॉधी जी और नीत्शे के नीतिशास्त्र की तुलना कीजिए।

उत्तर :—गॉधी और नीत्शे के नीतिशास्त्र एक दूसरे के सर्वथा विरुद्ध हैं। उनमे मुख्य भेद निम्नलिखित हैं :—

१. गॉधीजी के अनुसार परम श्रेय ईश्वर-प्राप्ति है, नीत्शे के अनुसार शक्ति प्राप्त करना ही परम लक्ष्य है।

२. अतः गॉधीजी का नीतिशास्त्र आध्यात्मिक है और नीत्शे का जैविक (Biological)।

३. साध्य के भेद से ही शुभाशुभ विचार मे भी भेद है। नीत्शे के अनुसार शक्ति शुभ है और निर्बलता अशुभ। गॉधीजी के अनुसार शुभ सत्य है और अशुभ असत्य। शुभ ईश्वर की ओर ले जाता है और अशुभ उससे दूर।

४. मूल रूप में नीत्शे मानव को एक जीवमात्र मानता है और गाँधीजी एक आध्यात्मिक ज्योति। गॉधीजी के अनुसार मनुष्य भगवान का अंश है।

५. अतः नीत्शे के अनुसार मानव का लक्ष्य प्रभुत्व प्राप्ति के हेतु संघर्ष करना है और गॉधीजी के अनुसार त्याग और सेवा ही परम धर्म हैं।

६. इसलिये नीत्शे बल, अहकार, बुद्धि, साहस, कठोरता तथा दृढ़ता आदि वीरोचित गुणों पर जोर देता और कोमल गुणो को दास-नीति मानता है। दूसरी ओर गॉधीजी नम्रता, परोपकार, विनय, अहिंसा, सत्य, प्रेम, दया और आत्म वलिदान आदि को ही सर्वोच्च नैतिक गुण मानते है।

७. जगत और ईश्वर के विषय मे भी गॉधीजी और नीत्शे के विचारो में मौलिक भेद है। गॉधीजी के अनुसार सम्पूर्ण जगत नैतिक नियमो पर आधारित है और उन नियमो का संचालक ईश्वर है। नीत्शे नास्तिक है और ससार को जैविक तथा भौतिक नियमो पर आधारित मानता है।

८. साध्य-साधन सम्बन्ध के विषय मे नीत्शे के अनुसार साध्य ही साधन के औचित्य को निश्चित करता है परन्तु गॉधीजी के मत मे साधन का शुभ होना भी उतना ही आवश्यक है जितना कि साध्य का शुभ होना।

९. अतः नीत्शे युद्ध को उचित मानता है और आवश्यक भी। परन्तु गॉधीजी युद्ध के घोर विरोधी है और सभी क्षेत्रो मे अहिंसा के पक्के हिमायती हैं।

१०. नीत्शे के अनुसार जगत और जीवन दोनों को नैतिकता से कोई सरोकार नहीं। गाँधीजी के अनुसार संसार आत्मलाभ का नैतिक क्षेत्र है।

नीत्शे के नीतिशास्त्र पर जर्मनी में हिटलर की अधीनता में फासीवाद का विकास हुआ। गाँधीजी के उपदेशों पर चलकर आज भारत संसार में शान्ति का अग्रदूत है। हिटलर और फासीवाद की भयंकर गति ही नीत्शे के नीतिशास्त्र के विरुद्ध सबसे बड़ा तर्क है। नीत्शे ने ईसाई धर्म की कटु आलोचना की परन्तु उसी ईसाइयत के मानवोचित गुणों के अभाव में उसका अतिमानव दानव हो गया। पुरुषोचित एवं वीर प्रधान गुणों के साथ मानव के कोमल गुणों का विकास भी आवश्यक है। यहाँ पर नीत्शे को गाँधीजी के नीतिशास्त्र से सीखना पड़ेगा।

———

अध्याय १२

The Ethics of Karl Marx

(कार्लमार्क्स का नीतिशास्त्र)

Q. 1. On what grounds did Karl Marx maintains that the ethical ideas of every age in history are connected with the social and economic conditions of that age ? Give a critical estimate of this view. (Alld. 1955).

प्र० १. किन युक्तियों के द्वारा कार्लमार्क्स यह सिद्ध करता है कि प्रत्येक युग के नैतिक विचार उसकी सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों पर निर्भर होते हैं ? इस मत का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर :—कार्लमार्क्स का नीति विचार उसकी द्वन्द्वात्मक प्रणाली पर आधारित है। इस प्रणाली के तीन मुख्य नियम हैं :—

(अ) विरोधियों के परस्परानुप्रवेश का नियम—इस नियम के अनुसार सभी वस्तुओ की सत्ता एक दूसरे मे अनुप्रविष्ट है। किसी का भी अस्तित्व पृथक नही। इसी प्रकार किसी वस्तु की भिन्न-भिन्न अवस्थाओ में भी पहले की अवस्थाएँ बाद की अवस्थाओ में सम्मिलित रहती हैं। अत: वस्तुएँ और उनकी अवस्थाएँ एक दूसरे से भिन्न और अभिन्न दोनो हैं। नीतिशास्त्र मे इस नियम का परिणाम यह निकलता है कि किसी भी मनुष्य का कल्याण अन्य मनुष्यो से पृथक नही है। समाज कल्याण और व्यक्तिगत कल्याण मे कोई भेद नही है। इसी प्रकार मनुष्य की सभी क्रियाएँ भी परस्पर सम्बन्धित है। मार्क्सवादी के अनुसार हमारी क्रियाओ में अर्थोपार्जन की क्रियाएँ प्रधान है। अतः सामाजिक कल्याण और आर्थिक क्रियाओ का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ट हैं।

(ब) गुण के परिमाण में अथवा परिमाण के गुण में परिवर्तन का नियम—केवल परिमाण से परिमाण और गुण से गुण ही नहीं बल्कि परिमाण से नूतन गुण भी उत्पन्न होते हैं। जड से चेतन की उत्पत्ति होती है यद्यपि स्वयं जड मे चेतनता का नितान्त अभाव है। मानव केवल हाथ पैर इत्यादि का संयोग मात्र नहीं है। उसमें चेतना है जिसका स्वभाव शरीर से नितान्त भिन्न है। चार्वाक के समान मार्क्स चेतना को शारीरिक अंगो के संयोग का परिणाम मात्र न मानकर एक बिल्कुल नया गुण मानते है। अत: उनका नीतिशास्त्र केवल भौतिकवाद नहीं

है। शरीर और चैतन्य के एक दूसरे से पृथक होने के कारण दोनों का ही विकास आवश्यक है।

(स) निषेध के निषेध का नियम—द्वन्द्वात्मक विकास की प्रगति में प्रत्येक सोपान अपने पहले के सोपान से भिन्न गुण उत्पन्न करता है। अतः ये दोनों वाद (Thesis) तथा प्रतिवाद (Antithesis) कहलाते हैं। इन दोनों का विरोध एक अन्य सोपान में शान्त होता है जिसको संवाद (Synthesis) कहते हैं। नीतिशास्त्र के क्षेत्र में इस नियम से सापेक्षतावाद की सृष्टि होती है। नैतिक नियम अपरिवर्तनीय और सनातन नहीं हैं। उनका विकास भी इसी द्वन्द्वात्मक न्याय के अनुसार हो रहा है। बाद के नैतिक सम्प्रदाय पहले के नैतिक विचारों का निषेध करते हैं तथा उसके अर्न्तविरोध को शान्त करते हैं। इस प्रकार मार्क्सवादी नीतिशास्त्र प्राचीन और मध्यकालीन नीति सम्प्रदायों का संवाद है।

जडवादी होने के कारण कार्लमार्क्स विचारों को तथ्यों पर आधारित मानता है। नैतिक नियम सामाजिक और आर्थिक विकास के इतिहास के साथ-साथ परिवर्तित होते रहते हैं। इन परिवर्तनों में उपरोक्त तीनों नियम लागू होते हैं। समाज में सदैव विरोधी वर्ग रहे हैं। इतिहास के अनुसार इन विरोधी वर्गों के मुख्य रूप तीन हैं—(१) दास प्रथा वाला समाज (२) सामन्त शाही समाज और (३) पूँजीवादी समाज। केवल साम्यवादी समाज में ही इनका संवाद हो सकता है।

सामाजिक विकास के आर्थिक आधार के भी दो अंग हैं (१) उत्पादन की शक्तियाँ (२) आर्थिक सम्बन्ध। प्रथम में यंत्र इत्यादि आते हैं और द्वितीय में स्वामित्व तथा वितरण इत्यादि की प्रथाएँ। उत्पादन के यंत्रों के विकास के साथ समाज की व्यवस्था में परिवर्तन हुए। प्रारंभ में समाज-आखेट की दशा में था। कृषि के यंत्रों के आविष्कार के साथ वह कृषि की दशा में आया। औद्योगिक यंत्रों के आविष्कार से औद्योगीकरण के युग का सूत्रपात हुआ। इसी प्रकार वितरण के माध्यम में सिक्कों तथा बैङ्क इत्यादि के प्रवेश के साथ साथ समाज में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए।

इस विकास क्रम में प्रथम सोपान है दास प्रथा वाला समाज। मानव समाज की प्रारंभिक अवस्था में, जिसको मार्क्स ने प्रारंभिक साम्यवाद कहा है समाज में समूहात्मक जीवन था। लोग कम थे। मनुष्यों में संग्रह की भावना न थी। परन्तु जब मनुष्य एक दिन के परिश्रम से मिले शिकार को कई दिन तक खाने लगा तब संग्रह की प्रवृत्ति बढ़ी। यही सम्पति की प्रथा का प्रारंभ था। वस्तुओं पर स्वामित्व के साथ साथ मनुष्यों पर स्वामित्व का भी प्रचार हुआ क्योंकि इन दासों से वस्तुओं के प्राप्त करने में सहायता मिलती थी। इस प्रकार समाज में स्वामी वर्ग और दास वर्ग बने तथा तदनुसार स्वामी नीति और दास नीति का आविर्भाव हुआ। स्वामी नीति थी दासों का शोषण। दास नीति थी स्वामी की सेवा। दोनों के जीवन में

जमीन आसमान का भेद था। इससे असतोप बढ़ा और असंतोष से वर्ग संघर्ष। दासो ने समान अधिकारो के लिये स्वामियो से सघर्ष प्रारंभ किया।

कालान्तर में स्वामियो को, दासो को भी कुछ अधिकार देना पड़ा। उनको भूमि पर कुछ स्वामित्व मिला परन्तु उसकी उपज का अधिकांश भाग अब भी स्वामी ही ले लेते थे। यह सामन्त शाही अवस्था का सूत्रपात था। इस समाज में भी दो विरोधी वर्ग थे प्रजा (Ser 1) तथा भूपति (Lord)। क्रमशः यह सामन्त प्रथा गहन होती गई। सामन्तों के अधीन सामन्त होने लगे और उनके ऊपर राजा या चक्रवर्ती सम्राट। परिश्रम प्रजाजन करते थे, उसका लाभ उठाते थे सामन्त या राजा राजा तथा सामन्तो के इन अधिकारो की पुष्टि करने के हेतु धर्म का सहारा लिया गया।

इस प्रकार धार्मिक नीतिशास्त्र का जन्म हुआ। स्वर्ग नरक की कल्पना की गई। ईश्वर धर्म-सम्राट माना गया जिसके आधीन अनेक देवी देवता थे। प्रजाजन को उस ईश्वर की भक्ति करना और अपनी अवस्था को उसी का प्रसाद समझ कर सन्तोष करना सिखाया गया। राजा को अधिकार ईश्वर ने ही दिये थे। राजा से सामन्तो को अधिकार मिलते थे। अतः उनकी आज्ञा-पालन जनता का धर्म था। शासको और शासित वर्ग की अवस्था मे महान् भेद था।

अतः सामन्त और प्रजा वर्ग मे विरोध बढ़ता गया। इस संघर्ष ने सामन्त शाही की जडे ढीली कर दी। उधर उत्पादन की शक्तियो मे भाप का आविष्कार हुआ। भाप के एन्जिनो से कल कारखाने चलने लगे। इससे श्रमिक या मजदूर वर्ग बना। सामन्त लोग सामन्त शाही छोडकर उद्योग-धन्धों के क्षेत्र मे उतर आए। उनमे पूँजीपति या मिल मालिक वर्ग बना। इनके साथ सफेद पोश, मध्यम वर्ग के बाबू, दूकानदार इत्यादि भी मिल गए। अतः समाज मे फिर दो परस्पर विरोधी वर्ग बन गए, बूर्जुआ वर्ग (Bourgeo) तथा सर्वहारा अथवा श्रमिक वर्ग (Proletariat)।

यह वर्तमान समाज की अवस्था है। बुर्जुआ नीति और सर्वहारा नीति में भी अन्य विरोधी वर्गो के समान ही घोर विरोध है। बुर्जुआ वर्ग की नीति शोषण नीति है। उनको सर्वहारा जन की समस्याओं से कोई मतलब नही। ईश्वरीय-विधान, कर्म के नियम तथा धर्म का सहारा लेकर वे श्रमिको को भक्ति, दीनता और सन्तोष का पाठ पढ़ाते है। मार्क्स के अनुसार जिसे हम सामाजिक नैतिकता कहते हैं वह वर्ग नैतिकता है। शोषक वर्ग के नैतिक नियम स्वयं उनके ही स्वार्थ के लिये हैं। जिनको समाज शुभ और उपयोगी कहता है वे नियम केवल मध्यवर्गीय जनो के सुख-समृद्धि और ऐश्वर्य के लिये है। मार्क्सवाद इस नीति का घोर विरोधी है। लेनिन (Lenin) कहता है—"किस अर्थ मे हम नीति तथा नीतिशास्त्र का खंडन करते हैं? जिस अर्थ में मध्यवित्तीय वर्ग उसकी शिक्षा देता है, जो ईश्वरीय आदेशों

से नीतिशास्त्र को उत्पन्न करता है। हम निःसन्देह कहते हैं कि हम ईश्वर में विश्वास नहीं करते। हम पूरी तरह जानते हैं कि ईश्वर के नाम पर पादरी, राजे-सामन्त तथा मध्यवित्तीय वर्ग अपने नीच स्वार्थों की पूर्ति करते हैं, जनता का शोषण करते हैं। ईश्वरीय आदेशो से नीतिशास्त्र को न निकालने पर वे कुछ आदर्शवादी सिद्धान्तो से नीतिशास्त्र की उत्पत्ति बतलाते हैं। यह भी ईश्वरोक्त नीतिशास्त्र के समान ही है।"

इसके विरुद्ध मार्क्सवाद सर्वहारा नीति को सच्ची नीति मानता है। लेनिन के शब्दो में—"जो शोषक समाज को नष्ट करे, जो श्रमिको को संगठित करे, जो साम्यवादी समाज की स्थापना करे वही नीति है।" सर्वहारा जन के हित में किये गए सभी कार्य उचित और शुभ हैं और उसके विरुद्ध सभी कार्य अशुभ हैं।

अतः बूर्जुआ और सर्वहारा जन का संघर्ष निश्चित है और आवश्यक भी। पूँजीपतियो में आपस मे ही सघर्ष है। व्यावसायिक प्रतिद्वन्दिता ही आए दिन होने वाले युद्धो का मुख्य कारण है। यह आन्तरिक विरोध पूँजीवाद की जड़ें खोखली कर रहा है। दूसरी ओर श्रमिक वर्ग भी संगठित होकर अपने अधिकारो के लिये संघर्ष कर रहा है। यह संघर्ष युग की माँग है। इसी के लिये श्रमिको का आह्वान करते हुए मार्क्स ने कहा था "संसार के श्रमिको! अपना संगठन करो। इससे तुम्हारा कुछ नहीं जायगा, जाएँगे केवल तुम्हारे दासता के बन्धन।"

इस प्रकार कार्ल मार्क्स के अनुसार प्रत्येक युग के नैतिक विचार उसकी सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियो पर निर्भर होते हैं। उत्पादन के यंत्रो तथा वितरण के साधनो मे परिवर्तन के साथ समाज की व्यवस्था बदलती रहती है और उसके साथ-साथ विरोधी वर्गों के रूप तथा साथ ही साथ नैतिकता का स्वरूप भी बदलता है। शोषित वर्गों की नीति ही सच्ची नीति है क्योंकि वह हमें आदर्श समाज, साम्यवादी व्यवस्था की ओर ले जाती है। सामाजिक विकास के इतिहास में हम देखते हैं कि समाज के शोषकों मे सदैव विरोध रहा परन्तु शोषितो मे सदा मैत्री और प्रेम था। इस वर्ग सघर्ष की समाप्ति एक वर्गहीन समाज मे ही हो सकती है। कालान्तर मे पूँजीवाद स्वयं समाप्त हो जाएगा और सर्वहारा वर्ग का युग आएगा। मार्क्स के अनुसार इस युग की समाज व्यवस्था की दो अवस्थाएँ हैं (१) समाजवाद (Socialism) तथा (२) साम्यवाद (Communism)। समाजवाद में प्रत्येक श्रमिक को उसके कार्य के अनुसार वेतन मिलेगा तथा साम्यवाद में उसकी आवश्यकता के अनुसार। साम्यवादी अवस्था में वर्ग संघर्ष समाप्त हो जाएगा, बौद्धिक और शारीरिक श्रम का भेद मिट जाएगा तथा राज्य और धर्म नष्ट हो जाएँगे।

आलोचना :—१. परन्तु क्या यह मत द्वन्द्वात्मक प्रणाली की कसौटी पर खरा उतरता है? जब प्रत्येक संवाद को एकवाद बनना है और प्रत्येक वाद का

प्रतिवाद आवश्यक है तब इस बात के लिये क्या प्रमाण है कि साम्यवादी अवस्था का प्रतिवाद नही होगा ? वर्तमान समाजवादी राज्यो मे हम एक नवीन प्रकार का वर्ग संघर्ष पाते हैं। शासक दल और स्वतन्त्र विचारको के इन संघर्षो में कितने ही मनीषियो को भयंकर यातनाएँ भुगतनी पडी हैं। साम्यवादी अवस्था को मानव समाज की चरम आदर्श अवस्था मानने का सिद्धान्त विरोधाभास युक्त है।

२. द्वन्द्व न्याय के सिद्धान्त में परस्पर विरोधी तत्वों के अन्तराल में एकता भी छिपी रहती है। मार्क्स इस तथ्य को बिल्कुल भूल जाते हैं। स्वामी और दास, भूपति और प्रजा, पूँजीपति और श्रमिक सभी मे मानवता का सामान्य तत्व है। तब उनमे से किसी के प्रति भी घृणा, विद्वेष और हिंसा की आग भडकाना कहाँ तक उचित है ? फिर, क्या साम्यवादी व्यवस्था में पूँजीवादी वर्ग के समाप्त हो जाने पर यही घृणा और हिंसा किसी और तरफ मुड़कर विध्वंस नही करेगी। गाँधीजी के अहिंसात्मक सत्याग्रह के मार्ग का यही महत्व है। स्वयं द्वन्द्वन्याय और सशस्त्र क्रान्ति में परस्पर विरोध है।

३. मार्क्स का मनुष्य की समस्त सामाजिक क्रियाओं को आर्थिक कारणों पर आधारित मानना उतना ही एकांगी है जितना कि फ्रायड का उसको काम वासना पर अथवा नीत्शे का शक्ति पाने की इच्छा पर आधारित मानना। अर्थ-संग्रह के अतिरिक्त भी मनुष्य में अन्य प्रवृत्तियाँ हैं। सभी का सामाजिक और नैतिक मूल्य है। किसी की भी उपेक्षा नही की जा सकती।

४. मार्क्स का यह सिद्धान्त किसी अंश मे समूह अथवा भीड की नैतिकता की व्याख्या कर सकता है। परन्तु इसके अतिरिक्त नीतिशास्त्र का व्यक्तिगत पक्ष भी है। कान्ट के नैतिक विचारो को उसकी सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियो का परिणाम मानना अज्ञान का ही परिचायक होगा। सुकरात के नैतिक विचार उनके युग की सामान्य नैतिकता से बिल्कुल अलग थे परन्तु फिर भी तत्कालीन सामाजिक नीति से वे कही अधिक महान् और सच्चे थे। परिस्थितियो से बने विचार सामाजिक नियम हो सकते हैं नैतिक विचार नही। नैतिक विचारो का श्रोत व्यवहारिक बुद्धि और अन्तरात्मा हैं। इसी अर्थ मे कान्ट ने नैतिक नियमो को निरपेक्ष आदेश (Categorical Imperative) माना है।

Q. 2. Can you reconcile differing moral conduct in different countries and ages with an absolute moral ideal? (Alld. 58).

प्र० २. क्या आप भिन्न देशों तथा युगों के नैतिक आचरण की भिन्नता का सामंजस्य निरपेक्ष नैतिक आदर्श के साथ कर सकते हैं ?

उत्तर :—पिछले प्रश्नोत्तर के आधार पर उत्तर होगा।

Q. 3. What are the fundamental principles behind the ethics of Marx ? Discuss his ethics with special reference to the principle of freedom.

प्र० ३. मार्क्स के नीतिशास्त्र के पीछे मौलिक सिद्धान्त क्या हैं ? स्वतन्त्रता के सिद्धान्त पर ध्यान देते हुए मार्क्सवादी नीतिशास्त्र का विवेचन कीजिए।

उत्तर :—मार्क्स के नीतिशास्त्र की पृष्ठभूमि में विशेषतः तीन प्रकार के सिद्धान्त हैं १. तत्व सम्बन्धी (Metaphysical) २. समाज-दर्शन सम्बन्धी तथा ३. आर्थिक।

मार्क्स की तात्विक पृष्ठभूमि में है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism)। इसमे तीन उल्लेखनीय नियम हैं १. विरोधियों के परस्परानु-प्रवेश का नियम २. गुण के परिमाण में अथवा परिमाण के गुण मे परिवर्तन का नियम ३. निषेध के निषेध का नियम (विस्तृत वर्णन के लिये प्र० १ के उत्तर का प्रारम्भिक भाग देखिये)।

मार्क्सवादी नीतिशास्त्र की समाज-दर्शन सम्बन्धी पृष्ठभूमि मे है ऐतिहासिक भौतिक वाद (Historical Materialism)। इसमे मार्क्स ने यह बतलाया है कि सामाजिक परिवर्तनो के साथ जिनका मुख्य आधार आर्थिक है, नैतिक नियम भी परिवर्तित होते रहते हे।

(विस्तृत वर्णन के लिये प्र० १ का उत्तर देखिये।)

मार्क्सवादी नीतिशास्त्र की आर्थिक पृष्ठभूमि सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। मार्क्स ने आर्थिक और सामाजिक समस्याओ मे द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध माना है। इसको आर्थिक निर्धारणवाद (Economic Determinism) भी कहते हैं। नैतिक विचार आर्थिक विचारो के कारण है और आर्थिक विचार नैतिक विचारो के कारण। आर्थिक क्रियाओ और सम्बन्धो के नैतिक महत्व के प्रसंग मे मार्क्स ने निम्नलिखित दो प्रमुख सिद्धान्तो की खोज की—

१. मूल्य का श्रम सिद्धान्त (Labour—theory of value) :—इस सिद्धान्त के अनुसार मूल्य श्रम से उत्पन्न होता है। किसी पण्य वस्तु (Commodity) का वास्तविक मूल्य उस श्रम से निर्धारित होता है जो उसके उत्पादन में लगता है। विनिमय मे श्रम का अंश होने पर ही विनिमय में पण्य वस्तु का मूल्य बढ़ता है। श्रम के आधार पर ऊँच-नीच करना अनैतिक है। मानसिक और शारीरिक श्रम मे भेद नही होना चाहिये। समाज श्रम पर निर्भर है। बिना श्रम किये किसी को भी जीने का अधिकार नही। अतः यह नियम पूँजीपति, राजे, नवाब इत्यादि उन सभी की कठोर भर्त्सना करता है जो श्रम से बचना चाहते हैं।

२. अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (Theory of Surplus-value) :— एक श्रमिक के श्रम से जो मूल्य बनता है वह उसको दिये जाने वाले वेतन के मूल्य से कही अधिक होता है। यह अतिरिक्त मूल्य है जो कि शोषको की जेब मे जाता है। १२ घंटा कार्य करने वाला श्रमिक ४ या ६ घंटो में ही अपने वेतन के बराबर कार्य कर डालता है। बाकी घंटो के कार्य का वेतन उसको नहीं मिलता। यही पूँजीवाद का मूल्य है। इसको नष्ट करके ही शोषण नष्ट किया जा सकता है।

नैतिक दृष्टिकोण से इस प्रकार अतिरिक्त मूल्य हड़प लेना अत्यन्त अनुचित है। यह श्रमिकों की सम्पत्ति को लूटना है। साम्यवाद नफाखोरी और शोषण का घोर विरोधी है। मनुष्य को केवल अपनी आवश्यकता के अनुसार व्यक्तिगत सम्पत्ति रखनी चाहिये। धन संग्रह की प्रवृत्ति पर सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता है। आर्थिक विषमता ही सामाजिक समस्याओ का आधार है। निर्धनता मे पाप के कीटाणु पलते है। उससे व्यक्तित्व का विकास रुक जाता है। अतः समाज के व्यक्तियो के समुचित विकास के हेतु अर्थ का सम वितरण पहली शर्त है।

उपरोक्त तात्विक, समाज-दार्शनिक एवं आर्थिक सिद्धान्तो के अतिरिक्त भी मार्क्स के नीतिशास्त्र मे कुछ अन्य महत्वपूर्ण सिद्धान्त हैं जिनमें से मुख्य है १. समता (Equality) का सिद्धान्त २. स्वतन्त्रता का सिद्धान्त ३. प्रगति का सिद्धान्त और ४. साध्य-साधन की एकता का सिद्धान्त।

समता का सिद्धान्त—समता का अर्थ आर्थिक वर्गो का उन्मूलन है। सभी बराबर कार्य करें और सभी को बराबर वेतन मिले। श्रम और वेतन की यह समता केवल साम्यवाद मे ही आ सकती है। परन्तु समाजवादी व्यवस्था की विषमता भी उसी प्रगति मे एक सोपान है। साम्यवाद व्यक्ति व्यक्ति की शक्तियो के अन्तर को मानता है अतः समता को आर्थिक क्षेत्र तक ही सीमित रखा गया है।

स्वतन्त्रता का सिद्धान्त—हेगेल के अनुसार स्वतन्त्रता अनिवार्यता (Necessity) को समझना है। इंगेल्स के शब्दो मे—"स्वतन्त्रता की सिद्धि प्राकृतिक नियमो से मुक्त होने में नही होती। उन नियमो को जानना और अपने साध्य की ओर ले जाकर उनसे काम करवाना ही स्वतन्त्रता है।" कुछ नीतिज्ञ सामाजिक और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता मे भेद करते हैं और व्यक्ति के सुख और स्वतन्त्रता से समाज के सुख और स्वतन्त्रता पर आते है। परन्तु मार्क्सवाद के अनुसार सच्चे व्यक्ति स्वातन्त्र्य के लिये समाज मे समता और समृद्धि का होना आवश्यक है क्योंकि स्वतन्त्रता का यथार्थ अर्थ है आर्थिक स्वतन्त्रता। साम्यवादी समाज मे ही व्यक्ति की सभी शक्तियो का पूर्ण विकास संभव है। स्वतन्त्रता के लिये काम के घंटो मे कमी करने की आवश्यकता है ताकि मानव को अन्य शक्तियो के विकास तथा दर्शन, काव्य, कला इत्यादि का आनन्द लेने के लिये पर्याप्त समय मिल सके। इसके

लिये शोषण का अन्त करना पड़ेगा। काम के घंटो की कमी के प्रश्न को लेकर ही श्रमिक साम्यवादी संघर्ष करते हैं।

स्वतन्त्रता नैतिकता की आधार शिला है। यह एक प्रक्रिया (Process) है जिसमे मानव के समस्त श्रेयों की प्राप्ति का प्रयत्न निहित है। सामाजिक न्याय, विवेकशीलता, सम्पन्नता, सुरक्षा और भौतिक तथा मानसिक सभी प्रगति इसके अन्तर्गत आ जाती हैं। मार्क्स के नीतिशास्त्र मे स्वतन्त्रता का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है।

प्राप्ति का सिद्धान्त—स्वतन्त्रता का विकास होने से प्रगति होती है। इसके लिये तीन बातो की आवश्यकता है १. उद्योग (Industry) और शिल्पविज्ञान (Technology) का विकास। दूसरे शब्दो में इसको उत्पादन शक्ति का विकास भी कहा जा सकता है।

२. आर्थिक सम्बन्धो और उत्पादन तथा वितरण की सब अवस्थाओ पर सामूहिक अधिकार।

३. इस अधिकार द्वारा मानवीय गुणो का विकास। अतः प्रगति (Progress) का यथार्थ अर्थ परतन्त्रता से स्वतन्त्रता की ओर बढ़ता है। मानव के समस्त इतिहास के द्वन्द्वात्मक विकास मे इसी प्रकार की प्रगति दिखाई पडती है। इसका लक्ष्य है साम्यवादी समाज की स्थापना।

साध्य साधन की एकता का सिद्धान्त—इस प्रकार साम्यवादी नीतिशास्त्र का चरम लक्ष्य एक आर्थिक वर्गहीन साम्यवादी समाज की स्थापना है। लेनिन के शब्दो में—"साम्यवादी नीति वह नीति है जो वर्ग संघर्ष में उपयोगी है, जो शोषको के विरुद्ध श्रमिकों को एकता के सूत्र मे बाँधती है।" अतः मार्क्सवादी किसी भी साधन को प्रयोग करने से नही हिचकिचाते। गाँधी इत्यादि नीतिज्ञो के विरुद्ध साम्यवादी नीतिशास्त्र मे साध्य उत्तम होने से साधन की उत्तमता निश्चित होती है। अतः मार्क्सवादी वर्ग-संघर्ष और क्रान्ति का मार्ग अपनाते हैं। सशस्त्र विद्रोह एक कला है। लेनिन ने इस कला के लिये विस्तृत नियमो का आयोजन किया है। नौ सेना, पद-सेना और श्रमिक सेना तीनो को संगठित होकर आगे बढ़ना है। सब कुछ बलिदान करके भी टेलीफोन एक्सचेञ्ज, तारघर, रेलवे स्टेशन और पुलो पर अधिकार करना है। लेनिन के अनुसार इस संघर्ष में व्यक्ति व्यक्ति का मर जाना श्रेयस्कर है परन्तु शत्रु को बढ़ने देना नही।

इस प्रकार मार्क्स हिंसात्मक साधन को उचित और अनिवार्य मानते हैं। इसका औचित्य इस तथ्य से निर्धारित होता है कि उससे स्वतन्त्रता की वृद्धि होती है। मार्क्सवाद के अनुसार साधन और साध्य युगपत है। दोनो में आन्तरिक ऐक्य और विषमता है। इस ऐक्य को भूल जाने पर ही यह प्रश्न उठता है कि क्या साध्य

साधन के औचित्य को निर्धारित करता है। वस्तुतः साध्य साधन का यह वैषम्य साम्यवादी अवस्था में ही दूर हो सकता है। काम के घंटो मे कभी साध्य भी है और साधन भी। व्यवहारिक रूप से साम्यवादी यह तर्क उपस्थित करते हैं कि पूँजीवादी अहिंसक साधनो से कभी भी अतिरिक्त मूल्य पर से अधिकार छोड़ने को तैयार नहीं होगे। इस तर्क की सत्यता से कोई भी निष्पक्ष यथार्थवादी इनकार नहीं कर सकता। अतः सशस्त्र विद्रोह ही एकमात्र मार्ग है।

आलोचना :—१. परन्तु नीतिशास्त्र परिणाम पर निर्भर नही हो सकता। बुरे साधनो से प्राप्त किया श्रेय उन साधनो की बुराइयो को लिये ही रहता है। नैतिकता परिस्थिति निरपेक्ष है। साम्यवादी नीतिशास्त्र अधिक से अधिक एक व्यवहारिक समाज शास्त्र मात्र है। नैतिक जीवन मे साध्य और साधन दोनो की पवित्रता अनिवार्य है।

२. मार्क्स का इतिहास का आर्थिक विश्लेषण सभी समाजो में खरा नही उतरता। विशेषतः भारत के प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास में कम से कम कुछ काल पर्यन्त राजा और प्रजा, स्वामी और दास के सम्बन्ध वैसे नही थे जैसे मार्क्स बतलाता है। कालान्तर में अनुपयुक्त संस्थाएँ नष्ट अवश्य हो जाती हैं परन्तु रामचन्द्र अथवा अशोक के राज्य मार्क्स के विश्लेषण को स्पष्ट चुनौती हैं।

३. इसका विशेष कारण यह है कि मार्क्स ने केवल जीवन के वाह्य भौतिक पक्ष को ही देखा। आर्थिक मीमांसा मानव के आन्तरिक व्यापारो की व्याख्या नही कर सकती। अधिकतर आन्तरिक चेतना ही मानव के वाह्य व्यापारो का नियंत्रण करती है। इस अन्तर्पक्ष की शुद्धि किए बिना कोई भी साम्यवाद सफल नही हो सकता। आर्थिक समता हमारे आन्तरिक दोष, घृणा, स्पर्द्धा, द्वेष इत्यादि को दूर नही कर सकती। मार्क्स के नीतिशास्त्र को ईसा, गाँधी और बुद्ध के उपदेशो के प्रकाश में रूपान्तरित करने की आवश्यकता है।

४. मार्क्स के नीतिशास्त्र मे व्यक्ति का स्थान अत्यन्त नगण्य है जबकि नीतिशास्त्र वस्तुतः व्यक्ति का स्वतन्त्रता पर ही आधारित है। सामूहिकता की प्रवृति कला और साहित्य एवं विचार के स्वतन्त्र विकास के लिये अत्यन्त घातक है। वाह्य नियमो के जोर पर व्यक्ति को नैतिक बनाने का प्रयत्न भारी भूल है। इसके लिये आन्तरिक परिष्कार, आत्म शुद्धि की आवश्यकता है। मार्क्सवाद चिन्तन के विकास पर तो ज़ोर देता है परन्तु यह भूल जाता है कि द्वन्द्व-न्याय के अनुसार ज्यो-ज्यो लोग साम्यवाद पर सोचेंगे त्यो त्यो उन्हे उसके गुणो के साथ साथ दोष भी स्पष्ट होगे। आर्थिक विषमता की शान्ति से मानसिक द्वन्द्व शान्त नही होते। लेनिन आलोचना की स्वतन्त्रता को रूढ़िवाद या अवसरवाद कह कर टाल देता है। परन्तु विचार स्वातन्त्र्य के बिना मानव को स्वतन्त्र कहना अर्थहीन जान पड़ता है।

Q. 4. Does Marxism negate ethics ? If not, then can we develop a consistent theory of ethics on Marxist principles ?

प्र० ४. क्या मार्क्सवाद नीतिशास्त्र का निषेध करता है ? यदि नहीं तो क्या हम मार्क्सवादी सिद्धान्त के आधार पर एक समीचीन नीतिशास्त्र विकसित कर सकते हैं ?

उत्तर :—मार्क्सवाद नीतिशास्त्र का निषेध नहीं करता। मार्क्सवाद का अपना एक नीतिशास्त्र है। यह नीतिशास्त्र अन्य सभी व्यक्तिवादी एवं एकवर्गीय नीतियो का विरोधी है। लेनिन के शब्दो मे—"जो भी नीतिशास्त्र मानव समाज और वर्गो से प्रथक समझा जाता है, हम उसका खंडन करते हैं। हम कहते हैं कि यह धोखेबाज़ी है, पूँजीपतियों और भू स्वामियो के स्वार्थ के हेतु श्रमिको और कृषको के मस्तिष्को को अन्धकारमय बनाना है।" मार्क्स के अनुसार प्राचीन नीतिशास्त्र या तो व्यक्तिवादी था या एकवर्गीय। वह सभी के कल्याण को श्रेय नहीं मानता था। उसमें मानव जीवन का चरम लक्ष्य मानव की सेवा करना नहीं बल्कि ईश्वर से एकरूप होना था। वह धर्म पर आधारित था। प्राचीन नीतिशास्त्र शोषण पर आधारित था। अतः मार्क्सवाद उसको अनीतिशास्त्र मानता है। मार्क्स के अनुसार प्राचीन नीतिशास्त्र का नित्य होने का दावा करना झूठा दंभ था। समाज की प्रगति के साथ नैतिक नियम भी बदलते हैं। सभी नीतिशास्त्र सापेक्ष हैं और अपनी सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियो पर निर्भर रहते हैं। कोई भी नीतिशास्त्र नित्य नहीं है।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मार्क्सवाद प्राचीन नीतिशास्त्रो को बिल्कुल व्यर्थ मानता है। प्रत्येक नीतिशास्त्र अपनी सामाजिक विशेष परिस्थितियो में सर्वथा उपयोगी है। इसका साम्यवादी नीतिशास्त्र से द्वन्द्वन्याय के अनुसार सम्बन्ध भी है। साम्यवादी नीतिशास्त्र प्राचीन नीतिशास्त्र का ही प्रतिवाद निषेध अथवा विकास है। प्राचीन नीतिशास्त्र में भी विकास होता गया। वह स्वार्थ से परार्थ, एक व्यक्ति के कल्याण से अनेक और अधिक से अधिक के कल्याण पर आया। मार्क्सवाद उसी विकास क्रम में आगे बढकर समाज हित को श्रेय समझता है। यह स्मरणीय तथ्य है कि मार्क्सवाद व्यक्ति के स्थान पर परिवार अथवा वर्ग को सामाजिक इकाई मानता है और इस कारण उसमें व्यक्ति के कल्याण का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु फिर भी समाज के सुख से व्यक्तियो का कल्याण तो होगा ही।

अतः यह कहना अर्थहीन है कि मार्क्सवाद का कोई नीतिशास्त्र नहीं है। ऐसे ही लोगों को मुँहतोड़ जवाब देते हुए लेनिन ने कहा है—"क्या साम्यवादी नीति शास्त्र नाम की कोई वस्तु है ? निःसन्देह यह है। बहुधा यह कहा जाता है कि हमारा अपना कोई नीतिशास्त्र नहीं है। प्रायः बूर्जुआ वर्ग कहता है कि हम सभी

प्रकार के नीतिशास्त्र का खंडन करते है। उनका यह तरीका विचारो को भ्रष्ट करना है, श्रमिको और कृषको की आँखो में धूल झोकना है।"

मार्क्सवादी नीतिशास्त्र को सर्वहारा वर्गीय मानववाद (Proletariat Humanism) अथवा समाजवादी मानववाद (Socialist Humanism) कहा जाता है। वह प्लेटो और अरस्तू के प्राचीन मानववाद अथवा आधुनिक मानववाद से भिन्न है। साम्यवादी मानववाद प्रगतिशील है। साधारण मानववाद अतीत अथवा वर्तमान की ओर देखता है। समाजवादी मानववाद का श्रेय भविष्य में एक वर्गहीन समाज की स्थापना करना है। साधारण मानववाद मे शोषक और शोषित दोनो रहते है। सर्वहारावर्गीय मानववाद आर्थिक समता पर जोर देता है।

(विस्तृत विवेचन के लिये देखिये आलोचना अंश उत्तर प्र० १ व २)

अध्याय १३

नीतिशास्त्र की प्रणालियाँ

(Methods of Ethics)

Q 1. 'The method of Ethics is neither Enpirical nor Transcendental. What, then, do you think, is the method of Ethics ? (Agra. 47).

प्र० १. 'नीति शास्त्र की पद्धति न तो अनुभवात्मक है और न अनुभवातीत ।' तब आपके विचार से नीतिशास्त्र की पद्धति क्या है ?

Q 2 Explain the method of Ethics distinguishing it from the psychological, Historical and the Metaphysical method.

प्र० २. मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक और दार्शनिक विधि से भेद बतलाते हुए नैतिक विधि की व्याख्या कीजिये ।

उत्तर :—भिन्न भिन्न नीति शास्त्रियो ने अपने नैतिक सिद्धान्तों में भिन्न भिन्न नैतिक विधियो का प्रयोग किया है। विकासवादी ऐतिहासिक विधि का प्रयोग करते हैं तो सुखवादी मनोवैज्ञानिक विधि का अनुसरण करते हैं। आदर्शवादियो के अनुसार नैतिक विधि अनुभवातीत है और यथार्थवादियों के अनुसार अनुभवात्मक। परन्तु तार्किक विश्लेषण करने पर ये सभी मत एकागी और दोषपूर्ण प्रतीत होते हैं :—

मनोवैज्ञानिक विधि—ह्यूम, वेन्थम, मिल और वेन इत्यादि नैतिक तथ्यों को चेतना के तथ्य मानते हैं और इस कारण उनकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार मानवीय क्रियाओं के प्रेरक कारणों और सहानुभूति तथा अन्तरात्मा के मूल का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने से नैतिक परम शुभ का ज्ञान हो सकता है। नैतिक विधि मनोवैज्ञानिक है। सुखवाद का नैतिक सिद्धान्त इस मनोवैज्ञानिक तथ्य पर आधारित है कि मनुष्य स्वभावतः ही सुख की खोज करते हैं और दुख से दूर भागना चाहते हैं।

परन्तु विचार करने से ज्ञात होगा कि यह मत मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र के मौलिक भेद को भूल जाता है। मनोवैज्ञानिक विधि के नैतिक विधि न होने के निम्नलिखित कारण हैं :—

१. मनोवैज्ञानिक विधि 'क्या' और 'है' का अध्ययन करती है परन्तु नीतिशास्त्र यह खोज करता है कि "क्या होना चाहिये।" अतः मनोवैज्ञानिक विधि नीतिशास्त्र में काम नहीं दे सकती।

२. मनोवैज्ञानिक विधि से तथ्य जाने जा सकते हैं परन्तु नीतिशास्त्र-मानव आदर्शों की खोज करना चाहता है। आदर्शों की व्याख्या तथ्यो से नही की जा सकती। मनोवैज्ञानिक विधि से नैतिक तथ्यो का विश्लेपण करके उनके तत्वो को प्रथक प्रथक जाना जा सकता है परन्तु नैतिक आदर्शों की अनुपस्थिति में उनका नैतिक मूल्यांकन नही किया जा सकता। यह मूल्याकन करना ही नीतिशास्त्र का मुख्य कार्य है। केवल मनोवैज्ञानिक श्रोत को जानने से किसी भी कार्य का नैतिक मूल्य नही जाना जा सकता। मनोवैज्ञानिक विधि से कार्यों का उद्‌गम जाना जा सकता है, उनका शुभाशुभ निर्णय नही किया जा सकता। यह तथ्य कि प्रत्येक व्यक्ति सुख चाहता है यह सिद्ध नही करता कि प्रत्येक व्यक्ति को सुख खोजना चाहिये। पहली बात तथ्यात्मक है दूसरी मूल्यात्मक। तथ्यात्मक सिद्धान्त मूल्यात्मक सिद्धान्त की व्याख्या नहीं कर सकते।

ऐतिहासिक विधि :—हर्बर्ट स्पेन्सर, लेस्ली स्टीफेन इत्यादि विकासवादी दार्शनिक नीतिशास्त्र मे ऐतिहासिक विधि का प्रयोग करते है। हर्बर्ट स्पेन्सर के अनुसार नैतिक व्यवहार आदिम मानव के असभ्य और पाशविक व्यवहार से ही विकसित हुआ है। ऐतिहासिक विधि से नैतिक आदर्शों और नैतिक संस्थाओ के उद्‌गम और विकास को जाना जा सकता है। यही नीतिशास्त्र का वास्तविक कार्य है। नीति की विधि सामाजिक, ऐतिहासिक और प्रजनन सम्बन्धी है। इस मत को मानने में निम्नलिखित कठिनाइयाँ है :—

१. यह मत नीतिशास्त्र को समाज विज्ञान की शाखा बना देता है और दोनो के मौलिक अन्तर को भूल जाता है। समाज विज्ञान एक विधायक विज्ञान है। नीतिशास्त्र नियामक विज्ञान है। ऐतिहासिक विधि समाज विज्ञान की विधि है। वह नीतिशास्त्र मे काम नही दे सकती।

२. नीतिशास्त्र का कार्य नैतिक व्यापारो का उद्‌गम और विकासक्रम खोजना नही बल्कि नैतिक आदर्शो के प्रकाश मे उनका मूल्याकन करना है। अतः ऐतिहासिक पद्धति नैतिक विधि नही हो सकती।

३. ऐतिहासिक विधि तथ्यात्मक है परन्तु नीतिशास्त्र आदर्शात्मक है। तथ्यो से आदर्शो की व्याख्या नही की जा सकती। नैतिकता अनैतिक तत्वो से नही उत्पन्न हो सकती। नीतिशास्त्र का कार्य मानव जीवन के परम शुभ की खोज और उसके प्रकाश मे उसके व्यवहार का मूल्याकन करना है। अतः ऐतिहासिक या प्रजनात्मक विधि उसमें काम नही दे सकती।

दार्शनिक विधि :—हेगेल ग्रीन इत्यादि अन्य आदर्शवादी विद्वान नीतिशास्त्र मे दार्शनिक विधि के प्रयोग पर जोर देते हैं। उनके मतानुसार पूर्ण सद्वस्तु (Reality) की प्रकृति के विवेचन से ही नैतिक नियमो का पता चल सकता है। दर्शनशास्त्र सम्पूर्ण विश्व की प्रकृति की खोज करता है। वह जीव, जगत और

जगदीश की प्रकृति की व्याख्या करता है और उनके परस्पर सम्बन्धों की विवेचना करता है। इस ज्ञान के आधार पर ही नैतिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। अतः नीतिशास्त्र में दार्शनिक विधि ही सर्वश्रेष्ठ है। दार्शनिक विधि में समस्त विश्व के स्वरूप के ज्ञान के आधार पर नैतिक आदर्शों की विवेचना की जाती है। जीवात्मा का नैतिक आदर्श परमात्मा का प्रतिविम्ब है। ईश्वर समस्त नैतिक आदर्शों की परिपूर्णता है। उसको समझे बिना नैतिक आदर्शों को नहीं समझा जा सकता। मैकेन्जी के अनुसार मानव जीवन के मूल्य को समझने के लिये हमें मानव व्यक्तित्व के वास्तविक स्वरूप और विश्व में मानव जीवन के स्थान के प्रश्न को समझना आवश्यक है। दर्शन शास्त्र नीतिशास्त्र की चार मुख्य समस्याओं, संकल्प स्वातन्त्र्य, आत्मा की अमरता, परमेश्वर की सत्ता तथा बुराई की समस्या को समझाने में भी सहायता करता है। जैसा कि जेम्स सेथ कहता है, मनुष्य इस ब्रह्मांड का अंश मात्र है। अतः ब्रह्मांड के लक्ष्य को जाने बिना मानव जीवन के परम शुभ की व्याख्या नहीं की जा सकती।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि दर्शन और नीतिशास्त्र का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ट है और इस कारण दार्शनिक विधि नीतिशास्त्र में बड़ी सहायक है। परन्तु फिर भी नैतिक विधि को दार्शनिक विधि नहीं कहा जा सकता। कारण निम्नलिखित हैं :—

१. दार्शनिक विधि तथ्यों और मूल्यों दोनों को व्यवस्थित करती है, नैतिकता का सम्बन्ध केवल मूल्यों से है। उसका तथ्यों से कोई सरोकार नहीं।

२. नीतिशास्त्र दर्शन से भिन्न है अतः उसकी विधि भी दार्शनिक विधि से भिन्न होनी चाहिये। नीतिशास्त्र का क्षेत्र दर्शन के क्षेत्र की अपेक्षा बहुत अधिक संकुचित है। दर्शन जीव, जगत और ईश्वर तीनो पर विचार करता है। नीतिशास्त्र का क्षेत्र केवल मानव का संकल्पात्मक पक्ष है।

३. नीतिशास्त्र की विधि वैज्ञानिक भी है। वह नैतिक तथ्यों का संकलन, विश्लेषण और वर्गीकरण करता है। अतः दार्शनिक विधि को नैतिक विधि नहीं कहा जा सकता।

नैतिक विधि अनुभवात्मक भी है और अनुभवातीत भी है :—नैतिक विधि दार्शनिक भी है और वैज्ञानिक भी, अनुभवात्मक भी है और अनुभवातीत भी। म्यूरहेड उसको दार्शनिक भी मानता है और वैज्ञानिक भी। नीतिशास्त्र नैतिक तथ्यों का निरीक्षण, वर्गीकरण और व्याख्या करता है। यहाँ तक तो वह वैज्ञानिक है। परन्तु वह यह व्याख्या कार्यकारण सम्बन्ध से न करके नैतिक आदर्शों के प्रकाश में और सम्पूर्ण नैतिक जगत से उनका सम्बन्ध दिखलाकर करता है। इस प्रकार उसकी विधि दार्शनिक है। म्यूरहेड के शब्दों में "उसका लक्ष्य नैतिक निर्णयों की एक ऐसी व्यवस्था में स्थान दिखाकर व्याख्या करना है जो कि उनके

बिना एक व्यवस्थित पूर्ण नही रह सकता। जेम्स सेथ भी इसी मत को मानता है। उसके अनुसार अन्य विज्ञानो के समान नीति शास्त्र भी सामान्य विचार और सामान्य बोध के निर्णयों को नैतिक मूल्यो के प्रसंग में व्यवस्थित करता है परन्तु उसके साथ दार्शनिक पद्धति का सहयोग भी अनिवार्य है। सेथ के शब्दो में" केवल मै नीति शास्त्र के लिये विज्ञान के संकुचित कार्य के साथ दर्शन का वृहतर कार्य भी चाहूँगा। नीति के विज्ञान को अपने पूरक के रूप में एक नैतिक दर्शन अथवा नीतिशास्त्र का आध्यात्म शास्त्र भी रखना चाहिये।" वुण्ट (Wundt) भी नैतिक विधि को अनुभवात्मक और अनुभवातीत, वैज्ञानिक और दार्शनिक, निरीक्षणात्मक और आदर्शात्मक दोनो ही मानता है।

नीतिशास्त्र प्राकृतिक विज्ञान अथवा विधायक विज्ञान नही है। वह एक नियामक विज्ञान है। वह तथ्य नही बल्कि आदर्शों की खोज करता है। अतः उसकी विधि वैज्ञानिक विधि से भिन्न है। वैज्ञानिक विधि प्रत्यक्ष मूलक है। उसमे तथ्यो का निरीक्षण और वर्गीकरण करके उनमे कार्यकारण सम्बन्ध स्थापित करना होता है। परन्तु नैतिक आदर्शों की व्याख्या तथ्यो से नही हो सकती। अतः नैतिक विधि अनुभवात्मक नहीं है। अनुभव यथार्थ है और शुभ आदर्श। आदर्श को यथार्थ नहीं बनाया जा सकता। वे अनुभव के विषय भी नही है। अनुभवात्मक विधि से नैतिक आदर्शों की खोज नही की जा सकती।

परन्तु इसका अर्थ यह भी नही है कि नैतिक विधि सर्वथा अनुभवातीत है। दर्शन से अत्यन्त निकट होने पर भी नीति शास्त्र दर्शन नही है। यह अन्तर ऊपर पर्याप्त स्पष्ट कर दिया गया है। दार्शनिक विधि अनुभवातीत है। नीतिशास्त्र भौतिक व सामाजिक वातावरण मे ही मनुष्य के आदर्शों का अध्ययन करता है। अतः उसको अनुभवमूलक विधि भी अपनानी पडती है।

अतः नीतिशास्त्र की विधि न तो अनुभवमूलक है और न अनुभवातीत। उसमे दोनो का समावेश है क्योंकि उसका विज्ञान और दर्शन दोनो से सम्बन्ध है, क्योकि नियामक विज्ञान होते हुए भी वह व्यावहारिक जीवन को प्रभावित करती है और क्योंकि वह मनुष्य के क्रियात्मक जीवन से सम्बन्धित है। अतः नैतिक विधि वैज्ञानिक भी है और दार्शनिक भी, अनुभवमूलक भी है और अनुभवातीत भी।

अध्याय १४

मूल्य का मानदंड, निमित्त व अन्तःस्थ मूल्य, मूल्यों के संगठन के तत्व

(Standard as Value, Instrumental and Intrinsic Values. Principles of Organisation of Values).

Q. 1. What is value ? Distinguish between intrinsic and extrinsic values and show the place of moral value in character.

प्र० १. मूल्य क्या है ? आन्तरिक और वाह्य मूल्य में भेद कीजिये और चरित्त में नतिक मूल्य का स्थान दिखलाइये।

उत्तर :—मूल्य (Value) वह है जिसका महत्त्व है, जिसको पाने के लिये व्यक्ति और समाज चेष्टा करते हैं, जिसके लिये वे जीवित रहते है और जिसके लिये वे बड़े से बड़ा त्याग कर सकते हैं। अर्थशास्त्र मूल्य की परिमाणात्मक व्याख्या करता है। उसके लिये मूल्य वह है जिसका व्यवहारिक उपयोग है। जिसका विनिमय किया जा सकता है। इच्छाओं की पूर्ति करने वाली वस्तुएँ मूल्यवान हैं। नीति शास्त्र मूल्य की गुणात्मक व्याख्या करता है।

इस प्रकार मूल्य के दो रूप हैं आन्तरिक (Intiinsic) और वाह्य (Extrinsic) मूल्य, अथवा परम (Alsolute) और निमित्त (lnstrumental) मूल्य, स्थायी (Permanent) और अस्थायी (Transient) मूल्य एवं साध्यगत तथा साधनगत मूल्य। साध्य मूल्य, परम मूल्य और आन्तरिक मूल्य स्थायी एवं अपने आप में साध्य है। साधन मूल्य निमित्त मूल्य और वाह्य मूल्य अस्थायी और साधनमात्र हैं। नैतिकता का सम्बन्ध प्रथम श्रेणी के मूल्यों से है। परम शुभ परम मूल्य है। जो वस्तु अपने आप मे शुभ है वह परम मूल्य रखती है जो किसी शुभ का साधन मात्र है उसका निमित्त मूल्य है। सभी सुखद वस्तुओं का व्यावहारिक मूल्य है। वस्तुओं का मूल्य परम मूल्य की प्राप्ति मे उनकी उपयोगिता पर निर्भर है।

परम मूल्य ही शुभाशुभ का निर्णय करता है। मूल्य वह है जो कि मनुष्य की इच्छाओं की पूर्ति करे परन्तु जिस प्रकार इच्छाओं की विभिन्न श्रेणियाँ होती हैं उसी प्रकार मूल्यों की भी विभिन्न श्रेणियाँ होती हैं। वैसे तो सभी वस्तुएँ किसी न किसी इच्छा की पूर्ति करने के कारण मूल्यवान है परन्तु इस कारण सभी वस्तुएँ समान मूल्य की नहीं कही जा सकती। स्वास्थ्य, धन, संपत्ति, खेल कूद, भोजन,

न्याय और सत्य सभी का मूल्य अलग अलग है। उनमें उच्च और निम्न का भेद है। उनमें कुछ परम मूल्य है कुछ निमित्त मूल्य। धन, खेल कूद, व्यायाम और भोजन इत्यादि जीव रक्षा के साधन होने के कारण साधन मूल्य है। सम्मान और अधिकार इत्यादि भी जीवन मे सहायक होने के कारण साधन मूल्य है। परन्तु न्याय और सत्य साधन नही बल्कि स्वयं साधन है अतः वे साध्य मूल्य है। हम उनको उन्ही के लिये चाहते हैं। नैतिक परम शुभ भी इसी प्रकार का साध्य मूल्य है। शेष सभी मूल्य उसके साधन मूल्य है। विभिन्न वस्तुओं का गुणात्मक मूल्यांकन परम शुभ के प्रसंग से ही होता है। इस प्रकार मूल्यवाद मे छोटे से छोटे लेकर बड़े से बडा मूल्य आ जाता है। आत्म साक्षात्कार की ही धारणा से मानव मूल्यों की श्रेणियाँ की जा सकती है। आत्म पूर्णता की ओर ले जाने वाली वस्तु शुभ और मूल्यवान है और उसमे बाधक वस्तु अशुभ है अथवा उसका ऋणात्मक मूल्य है।

नैतिक परम शुभ ही परम मूल्य है। कॉन्ट शुभ संकल्प को एकमात्र आन्तरिक और तात्त्विक मूल्य मानता है। संकल्प चरित्र का दर्पण है। मानव चरित्र मे नैतिक संकल्प परम शुभ और परम एव आन्तारिक मूल्य है। वह साध्य है और मनुष्य को स्थायी सन्तोष प्रदान करता है। मूल्यवादियों के अनुसार स्थायी सुख अथवा सन्तोष देने वाली वस्तु ही आन्तरिक रूप से मूल्यवान है। नैतिक मूल्य वैयक्तिक भी है और सार्वभौम भी। परम शुभ व्यक्ति के द्वारा प्राप्त होने पर भी सार्वभौम मूल्य है। परम शुभ से सुख होता है यद्यपि सुख को परम शुभ नही कहा जा सकता। मूल्य वह है जिसे व्यक्ति महत्व देता है, अनुभव करता है और उसके अनुरूप कर्म करता है। अतः मूल्य मनुष्य के आचरण पर शासन करता है। अतः मूल्य के वास्तविक स्वरूप को जानना अत्यन्त आवश्यक है।

मूल्य देश और काल के साथ परिवर्तनशील है। उनमे उत्तरोत्तर विकास होता रहता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी चेतना के स्तर के अनुसार विभिन्न वस्तुओ को मूल्यवान समझता है। मूल्यो के तुलनात्मक अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि सभी मूल्य सपरिमाण (Commensurable) है अथवा प्रत्येक मूल्य को तोल कर मूल्यो के स्तर में उसका स्थान निर्धारित किया जा सकता है। परन्तु नैतिक मूल्यांकन परिमाणात्मक न होने के कारण नैतिक मूल्य अनुपम और अपूर्व है और अन्य मूल्यो के साथ सपरिमाण नही है। उसके ज्ञान से कर्तव्य बुद्धि अथवा नैतिक बाध्यता की उत्पत्ति होती है। उसके साथ नैतिक भावनाएँ लगी रहती हैं। नैतिक मूल्य को केवल एक ही अर्थ मे सपरिमाण माना जा सकता है। आत्म पूर्णता मे सकल्प के साथ ज्ञान और सौन्दर्य का भी अनिवार्य स्थान है। सत्य, सौन्दर्य और शुभ तीनो मिलकर ही आत्मा को पूर्ण तुष्टि प्रदान कर सकते है। तीनों किसी न

किसी रूप में आत्मा की तुष्टि करने के कारण मूल्यवान हैं। अतः परम शुभ के विभिन्न अंगों के रूप में उनको सपरिमाण माना जा सकता है।

Q. 2. Discuss the standard as value and show how different standards of Ethics are synthesised in it.

प्र० २. मूल्य के मानदंड का विवेचन कीजिये और यह दिखलाइये कि नीतिशास्त्र के भिन्न भिन्न मानदंडों का उसमें किस प्रकार समन्वय होता है।

उत्तर :—सत् और शुभ नैतिक व्यवहार के मूल्यांकन के दो प्रत्यय हैं। सत् आकारवादी दृष्टिकोण का आधार है और शुभ प्रयोजनवादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है। आकारवादी दृष्टिकोण सहजज्ञानवादी है। उसके अनुसार नैतिक बुद्धि परिणामों का विचार किये बिना ही कुछ कर्मों को सत् और कुछ को असत् ठहराती है। ये कर्म निरपेक्ष रूप से सत अथवा असत् हैं। प्रयोजनवादी मत का नैतिक प्रत्यय शुभ है। उसके अनुसार अच्छे और बुरे परिणाम, उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता के अनुसार ही किसी कर्म को अच्छा या बुरा कहा जा सकता है। नैतिक इन्द्रिय अथवा रसेन्द्रियवादी, दार्शनिक और अदार्शनिक सहजज्ञानवादी नीतिशास्त्र आकारवादी हैं। दूसरी ओर प्रयोजनवादियों मे परम शुभ की धारणा ने भेद होने के कारण नैतिक मूल्य के विषय मे भिन्न-भिन्न मत हैं। सुखवादी सुख को बुद्धिवादी बुद्धि को और पूर्णतावादी पूर्णता को परम शुभ मानते है। प्रयोजनवादियों में सुखवाद आत्म और पूर्णतावाद दोनो ही आ जाते हैं। सुखवादी यथार्थवादी हैं, आत्म पूर्णतावादी आदर्शवादी। सुखवादियो के अनुसार सुख परम और साध्य है। सुख स्वयं शुभ है और दुख सदैव अशुभ है। वेन्थम और मिल इत्यादि सुखवादी प्रेरक कारण नहीं बल्कि परिणामो को ही नैतिकता का आधार मानते हैं। सुख देने वाला कर्म अच्छा और शुभ है तथा दुख देने वाला कर्म बुरा अथवा अशुभ है। आत्म पूर्णतावादियो में भी दो मत हैं—विकासवादी और आदर्शवादी। विकासवादियों के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य सुख है और निकटतम लक्ष्य जीवन की लम्बाई और चौडाई। हर्बर्ट स्पेन्सर प्राणी जीवन के विकास को ही आत्म लाभ मानते हैं। दूसरी ओर प्लेटो, अरस्तू, हेगेल, ग्रीन, ब्रेडले और वीसाँके इत्यादि आत्मलाभ का आध्यात्मिक अर्थ ग्रहण करते हैं।

मूल्यवाद के मानदंड में उपरोक्त समस्त नैतिक सिद्धान्तों का समन्वय है। सुख, वौद्धिकता, विकास, नियम पालन इत्यादि विभिन्न वस्तुओं के भिन्न-भिन्न मूल्य हैं। मूल्यवाद किसी भी मूल्य का निराकरण नहीं करता परन्तु साथ ही उस परम और शाश्वत मूल्य को समझने की चेष्टा करता है जो सार्वभौम है। स्वभाव, व्यक्तित्व और चेतना के स्तरों के परिवर्तन के साथ विभिन्न मनुष्यो की मूल्य सम्बन्धी धारणाएँ भी बदलती रहती हैं। मूल्यवादी निम्नतम मूल्य से लेकर उच्चतम मूल्य को समझने

की चेष्टा करता है और साध्य एवं साधन मूल्यो में अन्तर करता है। परन्तु वह साधन अथवा वाह्य मूल्यो की उपेक्षा न करके आन्तरिक मूल्यों के लिये उनका स्थान निर्धारित करता है। इस प्रकार मूल्यवाद के अनुसार आर्थिक, दैहिक और मनोरंजन सम्बन्धी सभी मूल्यो का परम मूल्य की साधना में अपना स्थान है। यह परम मूल्य आत्म साक्षात्कार है। आत्म साक्षात्कार ने मानव व्यक्तित्व के विभिन्न अंगो मे परस्पर सामंजस्य है। आत्मिक सन्तोष मे शारीरिक, बौद्धिक और कलात्मक इत्यादि सभी अगो की उचित परिमाण मे तृप्ति सन्निहित है। उसमे ज्ञान, सौन्दर्य, संस्कृति और सद्‌गुणो का उचित सामंजस्य है। मूल्यो की सम्बन्धित श्रेणी ही परम शुभ है। इस श्रेणी मे विभिन्न मूल्यो का भिन्न-भिन्न स्थान है। सामाजिक मूल्य दैहिक मूल्य से श्रेष्ट है और सामाजिक मूल्य से भी आध्यात्मिक मूल्य श्रेष्ठ है। चुनाव का प्रश्न उठने पर सदैव निम्न से उच्च और वाह्य से आन्तरिक साधन से साध्य मूल्य वरणीय है। मूल्यो मे परिमाणात्मक नही वल्कि गुणात्मक भेद है। परिमाण मे कितना भी अधिक होने पर भी निम्न शुभ उच्च शुभ का स्थान नही ले सकता। अतः प्रत्येक परिस्थिति मे अधिक मूल्य अथवा सर्वश्रेष्ठ मूल्य ही चुना जाना चाहिये। सामान्य जीवन मे सभी मूल्यो की प्राप्ति असंभव होने के कारण मूल्यो मे चुनाव करना ही पड़ता है। मूल्यवाद के अनुसार हमे सभी मूल्यो को आवयविक रूप मे प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये परन्तु यदि ऐसा न हो सके तो मूल्यो को तौलकर सर्वश्रेष्ठ मूल्य की प्राप्ति करनी चाहिये।

मूल्यवादी आत्मा के ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और रागात्मक पक्षो पर आधारित सत्य, सौन्दर्य और शुभ तीनो को आन्तरिक गुण मानते हैं। ये अपने आप मे ही साध्य हैं। सत्य, सौन्दर्य और शुभ क्रमशः आत्मा के ज्ञानात्मक, रागात्मक और क्रियात्मक पक्ष को सन्तुष्ट करते हैं। ये मूल्य सार्वभौम हैं। ये तीनो परस्पर प्रथक रहते हुए भी अभिन्न हैं। इनमे नैतिक मूल्य चरित्र मे अनुपम स्थान रखता है। वह सदाचार की ओर ले जाता है। उसमें नैतिक कर्तव्य और नैतिक बाध्यता निहित है। वह अपने आप मे शुभ है।

मूल्यवाद के अनुसार शुभ वह है जिसका नैतिक मूल्य है। वह साधन और साध्य दोनो ही हो सकता है। नैतिक मूल्यो मे वृद्धि से नैतिक शुभ में वृद्धि होती है। नैतिक शुभ परम शुभ पर निर्भर है। परम शुभ बौद्धिक प्राणी को पूर्ण सन्तोष देता है यद्यपि उसको प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है। पूर्ण शुभ, पूर्ण कल्याण और पूर्ण सौन्दर्य की स्थिति को प्राप्त करने की चेष्टा करना ही नैतिक शुभ है। वह पूर्णता की धारणा पर आधारित है। वह दुःखद होने पर भी शुभ है। वह सुख पर नही बल्कि वर्तमान परिस्थिति से असन्तोष और मानव की स्वतन्त्रेच्छा पर आधारित है।

शुभाशुभ का निर्णय साध्य से होता है और औचित्य एवं अनौचित्य का निर्णय साधन से। शुभ की प्रगति में साधन उचित है और बाधक अनुचित। शुभ और अशुभ के सम्बन्ध में व्यक्तिगत और सामाजिक धारणाओं में भेद होने पर आत्मगत और वस्तुगत औचित्य का प्रश्न उठता है। स्थूल रूप से आत्मगत और वस्तुगत, वैयक्तिक और सामाजिक शुभ में भेद हो सकता है परन्तु नैतिक दृष्टि से इन दोनों में कोई भी भेद नहीं है। वास्तविक शुभ आत्मगत भी होगा और वस्तुगत भी। वास्तविक वैयक्तिक कल्याण में सबका कल्याण छिपा रहता है। व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह साध्य और साधन के मूल्यों की अधिकाधिक वृद्धि की चेष्टा करे। नैतिक शुभ को साध्य और साधन दोनों ही रूपों में समझा जा सकता है। वह तात्विक दृष्टिकोण की ओर ले जाता है। वह विवेक पर आधारित है। वह परिस्थिति विशेष में व्यक्ति और समाज दोनों ही के लिये कल्याणकारी है। वह परम शुभ की ओर ले जाता है, जहाँ पर पाप और पुण्य का भेद नहीं रहता जो कि शुभाशुभ से परे है।

आलोचना—वास्तव में मूल्यवाद पूर्णतावाद को ही एक नवीन रूप में रखता है। उसका आधार पूर्ण आत्मा का साक्षात्कार है। उसकी विशेषता केवल यह है कि उसने 'मूल्य' शब्द का प्रयोग करके आकारवादी और प्रयोजनवादी, यथार्थवादी और आदर्शवादी सिद्धान्तों का समन्वय किया अन्यथा वह एक नवीन बाने में पूर्णतावाद ही है।

Q. 3. Discuss why all ethical Judgments are Judgments of Value and giving out the distinction between Intrinsic and extrinsic values. Is pleasure the sole constituent of value?

प्र० ३. विवेचना कीजिये कि क्यों सभी नैतिक निर्णय मूल्यात्मक निर्णय हैं और आन्तरिक तथा वाह्य मूल्य का अन्तर समझाइये। क्या सुख ही आन्तरिक मूल्य की एकमात्र वस्तु विषय है।

उत्तर :—मूल्य मानव की इच्छा पूर्ति में सहायक है। अर्बन (Urban) के शब्दों में "मूल्य वह है जो मानव इच्छा की पूर्ति करता है।" मूल्य जीवन के रक्षण और विकास में सहायक है। वह आत्म साक्षात्कार और आत्म विकास की ओर ले जाता है।

सुख और मूल्य—वार्ड (Ward) के मतानुसार मूल्य वस्तुगत है। इच्छा का स्वयं कोई मूल्य नहीं। मूल्य इच्छा की तृप्ति करने वाली वस्तु में है। इच्छा की पूर्ति से सुख होता है। अतः सुखानुभूति में मूल्य की अनुभूति है। मैकेन्जी के शब्दों में "सुख को भली प्रकार मूल्य की अनुभूति के रूप में बयान किया जा सकता है।" "सुखदायकता मूल्यीकरण का आत्मगत चिन्ह है।" परन्तु सुख को आन्तरिक मूल्य का एकमात्र वस्तु विषय नहीं माना जा सकता। कारण निम्नलिखित है :—

१. सुख मानव के भावात्मक पक्ष से सम्बन्ध रखता है। परन्तु मनुष्य में बौद्धिक पक्ष भी है और उसका सन्तोष भी कम से कम उतना तो महत्वपूर्ण है ही जितना कि भावात्मक पक्ष था। अतः सुखानुभूति की वस्तु सम्पूर्ण आत्मा के लिये मूल्यवान नही कही जा सकती। परमहित भावात्मक और बौद्धिक दोनो ही पक्षों को सन्तोष प्रदान करने वाला होना चाहिये।

२. जैसा कि वार्ड ने ठीक ही कहा है, मूल्य वस्तुगत होता है। दूसरी ओर सुख आत्मगत है। अतः सुख को आन्तरिक मूल्य नही कहा जा सकता। उच्चतम मूल्य आत्मगत भी है और वस्तुगत भी।

३. सुखवाद का मानदंड परिमाणात्मक है और मूल्य का मानदंड गुणात्मक है अतः सुख के आधार पर मूल्यो मे भेद नहीं किया जा सकता। उससे उच्च और निम्न मूल्य का अन्तर नही जाना जा सकता। अतः सुख का मूल्य से तादात्म्य अनुचित है।

४. सुख क्षणिक और अस्थायी है। वह आत्मगत और भावनात्मक है। वह स्वार्थमय है और स्वार्थ एवं परार्थ में सामंजस्य नही कर सकता। अतः सुख को मूल्य का मानदंड नही बनाया जा सकता। उच्चतम मूल्य स्थायी रूप से आत्म सन्तोपदायक, आन्तरिक और साध्य होना चाहिये। उसमे भावात्मक पक्ष के अतिरिक्त बौद्धिक और क्रियात्मक पक्ष का भी सन्तोष आवश्यक है। वह एक सन्तुलित इकाई के रूप मे व्यक्तित्व के सभी अंगो का संगठन करता है। वह स्वार्थ और परार्थ मे सामंजस्य उत्पन्न करता है। अतः सुख को आन्तरिक मूल्य का एकमात्र वस्तु-विषय नही माना जा सकता।

आन्तरिक और वाह्य मूल्य—कुछ वस्तुएँ स्वयं साध्य होती है और कुछ अन्य वस्तुओ की प्राप्ति में साधन मात्र होती है। वाह्य मूल्य, अस्थायी और साधन मूल्य है। आन्तरिक मूल्य स्थायी और साध्य मूल्य है। राइट (Wright) के शब्दो में "एक आन्तरिक मूल्य स्वयं अपने कारण एक साधक मूल्य अपने परिणाम के कारण मूल्यवान है। "सामान्यतया सत्य, सौन्दर्य और शुभ अथवा सद्‌गुण इत्यादि आन्तरिक मूल्य माने जाने लगे है। वे किसी अन्य वस्तु की प्राप्ति के साधन नहीं है। वे व्यक्ति से ऊपर हैं। व्यक्तियो के द्वारा प्राप्त किये जाने पर भी वे व्यक्ति से स्वतन्त्र है। वे किसी न किसी रूप में आत्मा का आध्यात्मिक सन्तोप करते हैं। सत्य, सौन्दर्य और शुभ क्रमशः ज्ञानात्मक, रागात्मक और क्रियात्मक पक्ष को सन्तोष प्रदान करते है। आत्मा के इन तीनो पक्षो के समान ये तीन परम मूल्य भी अप्रथक रूप से परस्पर सम्बद्ध हैं यद्यपि उनके इस सम्बन्ध की ठीक ठीक बौद्धिक व्याख्या नही की जा सकती।

नैतिक निर्णय मूल्यात्मक हैं—नैतिकता नैतिक मूल्याकन पर निर्भर है। हम किसी नैतिक मानदंड से तुलना करके कर्म विशेष का मूल्य निश्चित करते हैं।

शुभ या अच्छा कहने से किसी कर्म का नैतिक मूल्य ज्ञात होता है और अशुभ कहने से निषेधात्मक मूल्य ज्ञात होता है। नैतिक निर्णय में परम शुभ की तुलना मे शुभाशुभ का निर्णय किया जाता है। यह परम शुभ ही परम मूल्य है और इसी के आधार पर मानवीय क्रियाओं के मूल्य का निश्चय किया जाता है। अतः सभी नैतिक निर्णय मूल्यात्मक हैं। मूल्यो का संगठन ही नैतिक शास्त्र का उद्देश्य है। मूल्यो का प्राप्त करना मानव मात्र का कर्त्तव्य है।

अध्याय १५

मूर्त्त नैतिक जीवन—अधिकार, कर्त्तव्य व चरित्रगुण, न्याय, परोपकारिता व अहिंसा। मुख्य चरित्र गुण का सिद्धान्त। व्यक्ति व समाज। सामाजिक संस्थाएँ, सम्पत्ति, परिवार व राज्य। दण्ड के सिद्धान्त। नैतिक अशुभ व्यक्ति व समाज में नैतिक प्रगति।

(Concrete Moral Life : Rights, Duties and Virtues, Justice, Benevolence and Ahimsa. The Doctrine of Cordinal Virtues. The Individual and Society. Social Institutions; Property, Family and state. Theories of Punishment. Moral Evils. Moral progress in the Individual and Society).

Q. 1. Describe the moral rights and duties of man and discuss the relation of right and duty.

प्र० १. मनुष्य के नैतिक अधिकारों और कर्त्तव्यों का वर्णन कीजिए और कर्त्तव्य तथा अधिकार के परस्पर सम्बन्ध की विवेचना कीजिए।

उत्तर :—अधिकार और कर्त्तव्य सापेक्ष शब्द हैं। जो एक दृष्टि से अधिकार है वही दूसरे सम्बन्ध मे कर्तव्य बन जाता है। जहाँ अधिकार है वहाँ कर्त्तव्य भी है। मनुष्य के नैतिक अधिकार निम्नलिखित है—

(१) जीने का अधिकार (Right to live)—जीने का अधिकार मनुष्य का सर्वप्रथम और मुख्य अधिकार है। नैतिक जीवन का लक्ष्य आत्म लाभ है और आत्म लाभ करने के लिये जीवन एक अनिवार्य शर्त है। जीवन का अधिकार मौलिक (Fundamental) अधिकार है। यह एक पवित्र अधिकार है। जीने के अधिकार मे काम करने का अधिकार भी सम्मिलित है। जीविकोपार्जन के बिना जीवन की आवश्यकताएँ पूरी नही की जा सकती। अतः बेकार व्यक्ति का जीवन ही कठिन हो जाता है। जीवन के अधिकार के साथ जीवन के सम्मान का कर्त्तव्य भी लगा हुआ है। यदि प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन को रखने का अधिकार है तो उसका कर्त्तव्य है कि वह दूसरों को भी ऐसा करने मे सहायता दे अथवा कम से कम बाधक न बने। इस कर्त्तव्य की अवहेलना करने पर जीने का अधिकार छिन सकता है। हत्या करने के अपराध मे मृत्युदंड की सजा मिलती है। अतः मनुष्य को अपने तथा दूसरो के जीवन की वृद्धि करनी चाहिये।

यह ध्यान रहे कि मानव के इस मौलिक अधिकार को सदा से नही माना जाता था। प्राचीन काल में कहीं बच्चो की हत्या कर दी जाती थी तो कहीं विधवाओं को

जीवित जला दिया जाता था। किसी देश में विधर्मियो को मार डाला जाता था तो कही युद्ध के कैदियों को मौत के घाट उतार दिया जाता था। मानव जाति का इतिहास निरीह व्यक्तियो के भयंकर हत्याकांड से भरा पडा है। आज भी युद्ध के रूप में खुले आम सद्स्यो व्यक्तियो का वध कर दिया जाता है। यह सर्वथा अनैतिक है। सभ्यता के युग मे प्रत्येक मानव को बिना किसी रूप, रंग, जाति, वर्ग, अथवा लिग आदि के भेदभाव के जीने का अधिकार मिलना चाहिये।

(२) स्वतन्त्रता का अधिकार (Right of Freedom)—जीने के अधिकार के पश्चात् स्वतन्त्रता का अधिकार भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। समस्त नैतिक कार्य मनुष्य के स्वतन्त्र संकल्प पर निर्भर हैं। स्वतन्त्रता के बिना नीति अथवा नैतिक कार्यों की कल्पना असंभव हैं। मानव की संकल्प की स्वतन्त्रता नीति शास्त्र की मौलिक मान्यता है। आत्म लाभ के सर्वोच्च श्रेय की प्राप्ति के लिये स्वतन्त्रता का अधिकार आवश्यक है। व्यक्ति किसी अन्य के लाभ का साधन नहीं बनाया जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति स्वंय साध्य है। उसको अपना श्रेय प्राप्त करने की स्वतंत्रता है। प्रकृति ने उसको स्वतन्त्र उत्पन्न किया है। वह किसी का दास नही है।

परन्तु जैसा कि इस पुस्तक मे अनेक प्रसगो मे बतलाया जा चुका है। मनुष्य की स्वतन्त्रता का अर्थ निरंकुशता न होकर आत्मा द्वारा नियंत्रण है। इसका एक कारण यह भी है कि स्वतन्त्रता के अधिकार के साथ दूसरो की स्वतन्त्रता मे बाधा न डालने का कर्तव्य भी लगा हुआ है। सुव्यवस्थित समाज में व्यक्ति और समाज के स्वार्थो मे विरोध नही होता। स्वार्थ और परार्थ एक ही आत्मा के हित के दो पक्ष हैं। अनियत्रित दुराचार मानव की स्वतन्त्रता नहीं बल्कि इन्द्रियो की दासता का परिणाम है। स्वतन्त्रता का वास्तविक अर्थ है उचित कार्यो की स्वतन्त्रता। अनुचित कार्यो की स्वतन्त्रता का किसी को भी अधिकार नही है।

(३) सम्पत्ति का अधिकार (Right of Property)—स्वतन्त्रता के अधिकार के साथ सम्पत्ति का अधिकार भी लगा हुआ है। जीवित रहने के अधिकार के लिये भी सम्पत्ति का अधिकार आवश्यक है। धन के बिना मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति असंभव है और सम्पत्ति धन का ही एक रूप है। सम्पत्ति के स्वामित्व की प्रवृत्ति मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। परन्तु यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि सम्पत्ति के अधिकार का दुरुपयोग मानव स्वभाव की प्रकृति नही बल्कि विकृति का परिचायक है। यह ठीक है कि निजी सम्पत्ति को समूल नष्ट कर देने मे अनेक मनोवैज्ञानिक कठिनाइयाँ हैं और किसी सीमा तक सम्पत्ति का अधिकार व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यक है। परन्तु सम्पत्ति के अधिकार के साथ सामाजिक कल्याण का कर्त्तव्य भी लगा हुआ है। अतः किसी भी व्यक्ति को सम्पत्ति का इस सीमा तक अधिकार नहीं है जिससे समाज के अन्य लोगो को भारी असुविधा हो। वास्तव में सम्पत्ति का समाज कल्याण से इतना प्रगाढ़ सम्बन्ध है कि गाँधी जी

इत्यादि अनेक विचारको ने सम्पत्ति के अधिकारियो को सम्पत्ति का 'ट्रस्टी' (Trustee) मानने पर ज़ोर दिया है। अत: सम्पत्ति के अधिकार को अत्यन्त सीमित अर्थो में लेना पड़ेगा। कुछ विचारक तो इस अधिकार से सर्वथा इनकार करते हैं। प्लेटो (Plato) के अनुसार आदर्श जनतन्त्र (Republic) में सभी को समान साधन उपलब्ध होने चाहिये और व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार नहीं होना चाहिये। अरस्तू के अनुसार आदर्श राज्य में प्रत्येक को सामान्य शुभ के लिये सम्पत्ति का स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग करने का अधिकार होना चाहिये। मार्क्स और ईंगेल्स ने निजी सम्पत्ति के अधिकार का विरोध किया है। वास्तव में आज की पूँजीवादी (Capitalist) व्यवस्था में इतने दोष आ गए हैं कि व्यक्तिगत सम्पत्ति को उन्मूलन करने का विचार एकदम निरर्थक नहीं लगता। परन्तु इसमे अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं। गाँधी जी और श्री अरविन्द आदि का सम्पत्ति के ट्रस्टी रूप का विचार एक ऐसा विकल्प उपस्थित करता है जिसमे निजी सम्पत्ति के दोषो का सम्पत्ति के अधिकार के लोगो को बनाए रखते हुए भी परिष्कार किया गया है। व्यक्ति को सम्पत्ति का अधिकार है। परन्तु यह सम्पत्ति उसके पास समाज की थाती है। उसका कर्तव्य है कि उसका समाज के कल्याण के लिये ही प्रयोग करे। कहना न होगा कि सम्पत्ति को समाज कल्याण के लिये प्रयोग करने के कर्त्तव्य की अवहेलना करने पर सम्पत्ति का अधिकार छिन जाना अनुचित नहीं है। यहाँ यह ध्यान रहे कि समाज कल्याण मे व्यक्ति का कल्याण भी सम्मिलित है क्योंकि व्यक्ति समाज का एक अग है।

(४) समझौते की पूर्ति का अधिकार (Right of Fulfilment of Contract) सम्पत्ति के अधिकार के साथ समझौते की पूर्ति का अधिकार भी लगा हुआ है। वास्तव में समझौते की पूर्ति का अधिकार तभी अर्थपूर्ण हो सकता है जब कि समझौते की पूर्ति के साधनो पर व्यक्ति का अधिकार है। इन साधनो मे मुख्य सम्पत्ति है। अत: जहाँ एक ओर समझौते की पूर्ति के अधिकार के लिये सम्पत्ति का अधिकार आवश्यक है वहाँ दूसरी ओर सम्पत्ति के अधिकार की सीमाएँ समझौते के अधिकार पर भी लागू होती हैं। समझौते के अधिकार के साथ व्यक्ति का यह भी कर्तव्य है कि वह न्यायोचित समझौता करे जिसे पूरा किया जा सके। इस प्रकार किसी को अपनी स्त्री बच्चो का सौदा करने का अथवा अपने को दास बनाने का समझौता करने का अधिकार नहीं है। अत: समझौते के अधिकार का प्रयोग अत्यन्त बुद्धिमता से सीमित अवस्थाओ मे ही किया जा सकता है।

(५) शिक्षा का अधिकार (Right of Education)—जीने के अधिकार के बाद मनुष्य का शिक्षा का अधिकार सर्वाधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि शिक्षा से ही आदमी 'इन्सान' बनता है। शिक्षा ही उसे पशु के स्तर से मनुष्य के स्तर पर पहुँचाने का सर्वोच्च साधन है। नैतिक दृष्टि से तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता

के अनुसार सर्वोत्तम शिक्षा पाने के लिये बाध्य है। मनुष्य का नैतिक श्रेय आत्म लाभ शिक्षा के बिना प्राप्त नही हो सकता। शिक्षा मनुष्य की शक्तियों का विकास करके उसको आत्मोत्कर्ष के योग्य बनाती है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा के द्वारा अपनी मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियो के विकास का अवसर मिलना चाहिये।

उपरोक्त नैतिक अधिकारों के समान ही मनुष्य के कुछ नैतिक कर्तव्य भी है। मुख्य नैतिक कर्तव्य निम्नलिखित हैं :—

(१) **जीवन का सम्मान** (Respect of Life)—अपने और दूसरो के जीवन का सम्मान करना मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य है। आत्म हत्या तथा हत्या दोनो ही घोर अनैतिक कार्य हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन की रक्षा करने का अधिकार है। साथ ही प्रत्येक व्यक्ति का यह भी कर्त्तव्य है कि वह दूसरों के जीवन की भी रक्षा करे अथवा उसे हानि न पहुँचाए। अहिंसा परम धर्म है। किसी भी व्यक्ति को दूसरे के स्वास्थ्य अथवा जीवन को हानि नहीं पहुँचानी चाहिये।

(२) **स्वतन्त्रता का सम्मान** (Respect of Freedom)—स्वतन्त्रता के अधिकार के साथ स्वतन्त्रता का कर्त्तव्य भी लगा हुआ है। आधुनिक काल मे इस कर्तव्य पर अत्यधिक जोर देने की आवश्यकता है क्योकि संसार मे चारों ओर सभी मनुष्य सभी प्रकार को पराधीनता के विरुद्ध आवाज उठा रहे हैं। प्रत्येक मानव स्वय साध्य है। उसको साधन के रूप मे प्रयोग करने का किसी को भी अधिकार नहीं। मनुष्य को वस्तु समझ कर नही बल्कि व्यक्ति समझ कर व्यवहार किया जाना चाहिये। इस प्रकार दूसरो को गुलाम बनाना और उनका शोषण करना घोर अनैतिक कर्म हैं।

(३) **चरित्र का सम्मान** (Respect of Character)—चरित्र का सम्मान करना भी मानव का नैतिक कर्तव्य है। चरित्र ही मनुष्य मे सर्वोच्च गुण है। वही उसकी नैतिकता का आधार है। प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं व्यक्ति बनना चाहिये और दूसरो को व्यक्ति समझकर उनका सम्मान करना चाहिये। चरित्र व्यक्तित्व का एक आवश्यक अंग है और नैतिक दृष्टि से तो चरित्र ही व्यक्तित्व का निर्माता है। अतः हमे स्वयं मे और दूसरो मे चरित्र का सम्मान करना चाहिये।

(४) **सम्पत्ति का सम्मान** (Respect of Property)—सम्पत्ति के अधिकार के साथ सम्पत्ति के सम्मान का कर्तव्य भी लगा हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी निजी सम्पत्ति का सदुपयोग करने का अधिकार है। अतः हमे दूसरो के ऐसा करने मे भी बाधक नहीं बनना चाहिये। इसी कारण चोरी करना नैतिक अपराध है। किसी भी व्यक्ति को अनुचित तरीके से दूसरों को सम्पत्ति को छीनने का अधिकार नही है। अतः सम्पत्ति के सम्मान के साथ साध्यो के औचित्य का विचार भी लगा हुआ है।

(५) सामाजिक व्यवस्था का सम्मान (Respect of Social Order)—इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह सामाजिक व्यवस्था का सम्मान करे। ऐसा न करने पर व्यक्ति और समाज सभी का अकल्याण होगा। व्यक्ति के अधिकारो की रक्षा तभी हो सकती है जबकि सामाजिक व्यवस्था बनी रहे। सामाजिक व्यवस्था के छिन्न-भिन्न हो जाने पर सभी के अधिकार खतरे में पड़ जायँगे। इससे व्यक्तियो का नैतिक विकास भी कठिन हो जायगा। परिवार आदि सामाजिक संस्थाओं के संगठित रूप में रहने से ही व्यक्ति का नैतिक विकास समुचित रूप में हो सकता है। अतः सामाजिक व्यवस्था एक पवित्र व्यवस्था है। उसका सम्मान करना चाहिये।

(६) सत्य का सम्मान (Respect of Truth)—समझौते के अधिकार के साथ सत्य के सम्मान करने का कर्त्तव्य भी लगा हुआ है। आदेश है; "तुम मिथ्या भाषण नही करोगे।" मनुष्य को अपने वचनो में संयत रहना चाहिये और वचनो का पालन करना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति को विचार और वचन तथा वचन और कर्म में सामंजस्य रखना चाहिये। जो सोचे वही कहे और जो कहे वही करे। इस प्रकार मन, वचन तथा कर्म में सत्य का सम्मान करना नैतिक कर्तव्य है।

(७) प्रगति का सम्मान (Respect of Progress)—नीतिशास्त्र मानव की प्रगतिशीलता मे आस्था रखता है। प्रत्येक व्यक्ति को प्रगति मे आस्था रखनी चाहिये और प्रगति का सम्मान करना चाहिये। मैकेन्जी के शब्दो मे "तुम अपने विशेष क्षेत्र मे अपने सम्पूर्ण हृदय, सम्पूर्ण आत्मा, सम्पूर्ण बल और सम्पूर्ण मन को लगाकर परिश्रम करोगे।" परिश्रम ही पूजा है (Work is Worship) समाज की प्रगति व्यक्ति की प्रगति से ही हो सकती है। जगत मे वस्तुतः प्राप्ति कहाँ तक हो रही है यह एक विवादास्पद प्रश्न है। परन्तु इसके विवाद मे न पड़ते हुए प्रगति के लिये प्रयास करने में ही मनुष्य की परम नैतिकता है।

अधिकारो और कर्त्तव्यो के उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि अधिकार और कर्तव्य अन्योन्याश्रित हैं। वास्तव मे जो अन्य व्यक्तियो का अधिकार है वह मेरा कर्तव्य है और जो मेरा अधिकार है वह अन्य व्यक्तियो के कर्त्तव्य पालन पर निर्भर है। अतः कर्त्तव्य के उल्लंघन से अधिकार भी समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार अधिकार और कर्तव्य दोनों ही समान नैतिक नियम पर आधारित हैं। नैतिक अधिकार वैधानिक अधिकारो के समान सत्ता द्वारा बलपूर्वक नही लादे जा सकते। वे व्यक्तियो को समाज द्वारा आत्म लाभ के लिये दिये जाते है। इसके बदले मे समाज प्रत्येक व्यक्ति से कर्तव्यो का पालन भी चाहता है क्योकि तभी सामाजिक व्यवस्था कायम रह सकती है और तभी सब लोगो के अधिकार सलामत रह सकते हैं।

प्रत्येक अधिकार के साथ कर्तव्य लगा है। कर्तव्य एक नैतिक बाध्यता है। नैतिक बाध्यता (Moral Obligation) जनमत पर आधारित है। व्यक्ति अपने अधिकारों को जन कल्याण की दृष्टि में रखकर उपभोग करने को बाध्य है। यदि हमें सम्पत्ति का अधिकार समाज से मिला है तो हमारा यह कर्तव्य भी समाज ही निर्धारित करता है कि हम सम्पत्ति का सम्मान करें। अतः अधिकार और कर्त्तव्य परस्पर सापेक्ष हैं।

अधिकार और कर्त्तव्य समाज के भी आपेक्षिक हैं। समाज ही व्यक्तियों को अधिकार देता है और अन्य व्यक्तियों पर उनके समादर के लिये कर्त्तव्य लादता है। अधिकार निरपेक्ष नहीं है। समाज व्यक्ति को इसी शर्त पर अधिकार देता है कि व्यक्ति कर्तव्य पालन द्वारा उन अधिकारों के योग्य बनें। इस प्रकार अधिकार और कर्तव्य एक ही नैतिक नियम के दो पहलू हैं।

Q. 2. Write a short note on casuistry.

प्र० २. कर्त्तव्याकर्तव्य शास्त्र पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

उत्तर :—मनुष्य जीवन में बहुधा दो या अधिक कर्तव्यों में संघर्ष सा दिखाई पड़ता है। वे कर्त्तव्य परस्पर विरुद्ध से प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिये जीवन के सम्मान का सम्पत्ति के सम्मान से विरोध हो सकता है। जीवन के सम्मान के लिये कभी कभी किसी के हाथ से पिस्तौल भी छीनना पड़ जाता है। इसी प्रकार सत्य के सम्मान और जीवन के सम्मान में विरोध का भी अवसर आ सकता है। डाक्टर यदि किसी असाध्य रोग में रोगी को सत्य बतला दे तो रोगी के जीवन की सम्भावना और भी कम हो जाती है। अतः वह जीवन का सम्मान करने में सत्य का सम्मान नहीं करता।

इस प्रकार के कर्त्तव्यों के विरोध में कुछ लोगों के अनुसार कर्तव्याकर्तव्य शास्त्र (Casuistry) की सहायता लेनी चाहिये। इससे यह ज्ञात होता है कि किन विशेष परिस्थितियों में विशेष नैतिक नियमों का उल्लंघन करना उचित है। इस शास्त्र में नैतिक नियमों का अतिक्रमण करने के सूत्र मिलते हैं।

परन्तु कर्तव्याकर्त्तव्य शास्त्र की कल्पना भ्रामक है। वास्तव में कर्त्तव्यों में विरोध हो ही नहीं सकता क्योंकि एक परिस्थिति में मनुष्य का एक ही कर्तव्य होता है। कर्तव्यों में विरोध दिखाई देने का अर्थ परिस्थितियों को न समझना है। ग्रीन (Green) कहता है "कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे वास्तव में कर्तव्य विरोध कहा जाय। किन्हीं विशेष परिस्थितियों में किसी मनुष्य का सदैव एक ही कर्तव्य होता है यद्यपि समस्या की परिस्थितियाँ इतनी जटिल और विकट हो सकती है कि वास्तविक कर्तव्य क्या है, यह निश्चित करना कठिन हो जाता है।" अतः मूर्त्त दशा में व्यक्ति का केवल एक ही कर्तव्य होता है। इसको नैतिक अन्तर्दृष्टि से स्पष्ट रूप में जाना जा सकता है। शर्त यह है कि वासनाओं और पक्षपात को प्रोत्साहन

न दिया जाय। नैतिक अन्र्तदृष्टि का अभाव, समस्याओं की दुरुहता, नैतिक स्थिति में महत्वहीन और महत्वपूर्ण तत्वो मे विवेक का अभाव और अन्त में वासनाओं तथा संकीर्ण स्वार्थ के कारण कर्तव्यों में विरोध दिखाई पड़ता है।

व्यवहार के लिए नियम बनाना अनुचित है। व्यवहार के उल्लंघन के लिये नियम बनाना तो और भी बुरा है। कर्तव्याकर्तव्य शास्त्र का प्रयोग होने से स्वेच्छाचार बढ़ेगा और नैतिकता मे ढिलाई आ जाएगी। यह नैतिकता के वाह्य रूप पर जोर देता है और कर्म को किसी विशेष नियम के अनुकूल होने पर ध्यान देता है। इसमे कर्ता की प्रवृत्ति, उद्देश्य, प्रयोजन आदि नैतिक परिस्थिति के विभिन्न तत्वो पर विचार नही किया जाता। इससे वैधानिक दृष्टिकोण को प्रोत्साहन मिलता है। वैधानिक दृष्टिकोण में निन्दा-स्तुति, दंड-पुरष्कार प्रधान रूप से होते हैं। इसमें व्यवहार का नियन्त्रण विधि और निषेध से होता है। इसमें स्वतन्त्रता पर आघात पहुँचता है। अतः 'कर्तव्याकर्तव्य शास्त्र' का नीतिशास्त्र मे कोई स्थान नही है।

Q. 3. Critically discuss the various theories of Punishment.

प्र० ३. दंड के विभिन्न सिद्धान्तों की समालोचनात्मक विवेचना कीजिये।

उत्तर—अनेक नीतिवेत्ताओ ने नैतिक दृष्टि से अपराध के लिये दंड मिलना आवश्यक माना है। अपराध सहन करने से अपराधी को प्रोत्साहन मिलता है और उससे उसका नैतिक स्तर और भी गिरता चला जाता है। नैतिक आस्था है कि शुभ का परिणाम शुभ और अशुभ का परिणाम अशुभ मिलता है। अतः जैसे शुभ कर्म करने वाले को पुरस्कार मिलता है, वैसे ही अशुभ कर्म करने वाले को दंड भी मिलना चाहिये। अपराध सामाजिक नियम को भंग करता है। अतः समाज अपराध का दंड देता है। इस प्रकार नैतिक दृष्टि से दंड का औचित्य सिद्ध किया गया है।

दड का औचित्य सिद्ध करने के लिये तीन मुख्य सिद्धान्त उपस्थित किए गए हैं। ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—

(१) प्रतिकारवादी सिद्धान्त (Retributive Theory)—प्रतिकारवादी सिद्धान्त 'दाँत के लिये दाँत' (Tooth for tooth) के नियम पर आधारित है। कान्ट (Kant) ने इस मत का सर्वाधिक समर्थन किया है। कान्ट के अनुसार अपराधी को दंड इसलिये नहीं मिलना चाहिये कि वह उसके अथवा अन्य के हित का साधन है बल्कि इसलिये मिलना चाहिये कि उसने अपराध किया है। मैकेन्जी (Mackenzie) के अनुसार "न्यायालय मनुष्य को केवल उसी का प्रतिदान देता है जो वह अर्जित कर चुका है। वह अशुभ कर चुका है और यह युक्तियुक्त है कि

प्रत्येक अधिकार के साथ कर्तव्य लगा है। कर्तव्य एक नैतिक बाध्यता है। नैतिक बाध्यता (Moral Obligation) जनमत पर आधारित है। व्यक्ति अपने अधिकारों को जन कल्याण की दृष्टि में रखकर उपभोग करने को बाध्य है। यदि हमे सम्पत्ति का अधिकार समाज से मिला है तो हमारा यह कर्तव्य भी समाज ही निर्धारित करता है कि हम सम्पत्ति का सम्मान करें। अतः अधिकार और कर्त्तव्य परस्पर सापेक्ष हैं।

अधिकार और कर्त्तव्य समाज के भी आपेक्षिक है। समाज ही व्यक्तियों को अधिकार देता है और अन्य व्यक्तियों पर उनके समादर के लिये कर्त्तव्य लादता है। अधिकार निरपेक्ष नहीं है। समाज व्यक्ति को इसी शर्त पर अधिकार देता है कि व्यक्ति कर्तव्य पालन द्वारा उन अधिकारों के योग्य बनें। इस प्रकार अधिकार और कर्तव्य एक ही नैतिक नियम के दो पहलू है।

Q. 2. Write a short note on casuistry.

प्र० २. कर्त्तव्याकर्तव्य शास्त्र पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

उत्तर :—मनुष्य जीवन मे बहुधा दो या अनेक कर्तव्यों में संघर्ष सा दिखाई पड़ता है। वे कर्त्तव्य परस्पर विरुद्ध से प्रतीत होते है। उदाहरण के लिये जीवन के सम्मान का सम्पत्ति के सम्मान से विरोध हो सकता है। जीवन के सम्मान के लिये कभी कभी किसी के हाथ से पिस्तौल भी छीनना पड़ जाता है। इसी प्रकार सत्य के सम्मान और जीवन के सम्मान मे विरोध का भी अवसर आ सकता है। डाक्टर यदि किसी असाध्य रोग मे रोगी को सत्य बतला दे तो रोगी के जीवन की सम्भावना और भी कम हो जाती है। अतः वह जीवन का सम्मान करने मे सत्य का सम्मान नहीं करता।

इस प्रकार के कर्त्तव्यो के विरोध मे कुछ लोगों के अनुसार कर्तव्याकर्तव्य शास्त्र (Casuistry) की सहायता लेनी चाहिये। इससे यह ज्ञात होता है कि किन विशेष परिस्थितियों मे विशेष नैतिक नियमों का उल्लंघन करना उचित है। इस शास्त्र मे नैतिक नियमों का अतिक्रमण करने के सूत्र मिलते हैं।

परन्तु कर्तव्याकर्त्तव्य शास्त्र की कल्पना भ्रामक है। वास्तव मे कर्त्तव्यो में विरोध हो ही नहीं सकता क्योंकि एक परिस्थिति मे मनुष्य का एक ही कर्तव्य होता है। कर्तव्यो मे विरोध दिखाई देने का अर्थ परिस्थितियों को न समझना है। ग्रीन (Green) कहता है "कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे वास्तव मे कर्तव्य विरोध कहा जाय। किन्हीं विशेष परिस्थितियों मे किसी मनुष्य का सदैव एक ही कर्तव्य होता है यद्यपि समस्या की परिस्थितियाँ इतनी जटिल और विकट हो सकती है कि वास्तविक कर्तव्य क्या है, यह निश्चित करना कठिन हो जाता है।" अतः मूर्त्त दशा में व्यक्ति का केवल एक ही कर्तव्य होता है। इसको नैतिक अन्तर्दृष्टि से स्पष्ट रूप मे जाना जा सकता है। शर्त यह है कि वासनाओं और पक्षपात को प्रोत्साहन

न दिया जाय। नैतिक अन्तर्दृष्टि का अभाव, समस्याओं की दुरुहता, नैतिक स्थिति मे महत्वहीन और महत्वपूर्ण तत्वो मे विवेक का अभाव और अन्त में वासनाओं तथा सकीर्ण स्वार्थ के कारण कर्तव्यों में विरोध दिखाई पडता है।

व्यवहार के लिए नियम बनाना अनुचित है। व्यवहार के उल्लंघन के लिये नियम बनाना तो और भी बुरा है। कर्तव्याकर्तव्य शास्त्र का प्रयोग होने से स्वेच्छाचार बढ़ेगा और नैतिकता मे ढिलाई आ जाएगी। यह नैतिकता के वाह्य रूप पर जोर देता है और कर्म को किसी विशेष नियम के अनुकूल होने पर ध्यान देता है। इसमे कर्ता की प्रवृत्ति, उद्देश्य, प्रयोजन आदि नैतिक परिस्थिति के विभिन्न तत्वो पर विचार नही किया जाता। इससे वैधानिक दृष्टिकोण को प्रोत्साहन मिलता है। वैधानिक दृष्टिकोण में निन्दा-स्तुति, दंड-पुरष्कार प्रधान रूप से होते है। इसमें व्यवहार का नियन्त्रण विधि और निषेध से होता है। इसमें स्वतन्त्रता पर आघात पहुँचता है। अतः 'कर्तव्याकर्तव्य शास्त्र' का नीतिशास्त्र मे कोई स्थान नही है।

Q. 3. Critically discuss the various theories of Punishment.

प्र० ३. दंड के विभिन्न सिद्धान्तों की समालोचनात्मक विवेचना कीजिये।

उत्तर—अनेक नीतिवेत्ताओ ने नैतिक दृष्टि से अपराध के लिये दंड मिलना आवश्यक माना है। अपराध सहन करने से अपराधी को प्रोत्साहन मिलता है और उससे उसका नैतिक स्तर और भी गिरता चला जाता है। नैतिक आस्था है कि शुभ का परिणाम शुभ और अशुभ का परिणाम अशुभ मिलता है। अतः जैसे शुभ कर्म करने वाले को पुरस्कार मिलता है, वैसे ही अशुभ कर्म करने वाले को दंड भी मिलना चाहिये। अपराध सामाजिक नियम को भंग करता है। अतः समाज अपराध का दंड देता है। इस प्रकार नैतिक दृष्टि से दंड का औचित्य सिद्ध किया गया है।

दड का औचित्य सिद्ध करने के लिये तीन मुख्य सिद्धान्त उपस्थित किए गए हैं। ये सिद्धान्त निम्नलिखित है :—

(१) **प्रतिकारवादी सिद्धान्त (Retributive Theory)**—प्रतिकारवादी सिद्धान्त 'दाँत के लिये दाँत' (Tooth for tooth) के नियम पर आधारित है। कान्ट (Kant) ने इस मत का सर्वाधिक समर्थन किया है। कान्ट के अनुसार अपराधी को दंड इसलिये नहीं मिलना चाहिये कि वह उसके अथवा अन्य के हित का साधन है बल्कि इसलिये मिलना चाहिये कि उसने अपराध किया है। मैकेन्जी (Mackenzie) के अनुसार "न्यायालय मनुष्य को केवल उसी का प्रतिदान देता है जो वह अर्जित कर चुका है। वह अशुभ कर चुका है और यह युक्तियुक्त है कि

उसके पाप का पुरष्कार, उसके द्वारा अर्जित ध्वंसात्मक मूल्य अर्थात् अशुभ उसे वापिस मिलना चाहिये।" "समाज जो उसे दड देता है, उसके अधिकार मे उसे वचित नहीं करता, बल्कि जो उसे मिलना चाहिये, जो वह कमा चुका है वही उसे देता है।" हेगेल (Hegel) और अरस्तू (Aristotle) के अनुसार दंड अपराधी का ऋणात्मक पुरष्कार (Negative reward) है। अपराधी ने नैतिक नियम भंग करके दड अर्जित किया है। वह उसका पारितोपिक है। वह उसे अवश्य मिलना चाहिये। इसी कारण राज्य द्वारा समुचित दंड न मिलने पर कुछ अपराधी प्रायश्चित करके अपने पाप के किये को भोगना चाहते हैं। ब्रैडले (Bradley) के अनुसार "हम दंड किसी दूसरे कारण से नहीं बल्कि इसलिये भुगतते हैं कि हम उसके योग्य हैं। और यदि किसी अशुभ कर्म के फल होने के अतिरिक्त किसी अन्य कारण से दंड दिया जाता है तो यह एक विशुद्ध अनैतिकता है, एक स्पष्ट अन्याय है; दंड दड के लिये दिया जाता है।" इस प्रकार दंड नैतिक नियम के उल्लघन का प्रतिकार है।

अतः दंड का तात्पर्य अपराध का न्याय करना और नैतिक नियम की उच्चता का संरक्षण करना है। अपराध करने से नैतिक नियम भग होता है। दंड मिलने से नैतिक नियम का प्रभुत्व स्थापित होता है। सेठ (Seth) के शब्दो मे "दंड का तत्व नैतिक व्यवस्था का शोध है।" प्रतिकारवादी सिद्धान्त के दो रूप हैं कठोर और मृदु। कठोर प्रतिकारवादी सिद्धान्त के अनुसार अपराधी को अपराध के स्वरूप के अनुसार दड मिलना चाहिये। इस प्रकार अन्य परिस्थितियो का विचार न करते हुए कठोर अपराध का कठोर और मृदु का मृदु दंड मिलता है। किसी भी परिस्थिति मे हत्या का दड मृत्यु है। कठोर सिद्धान्त के विरुद्ध मृदु प्रतिकारवादी सिद्धान्त के अनुसार दंड देते समय अपराध की परिस्थितियों का विचार करना आवश्यक है। अपराधी की आयु, अभिप्राय, उत्तेजक परिस्थितियां आदि का विचार करके दंड घटाया बढाया जा सकता है।

आलोचना—दंड का प्रतिकारवादी सिद्धान्त मृदु रूप में भी सन्तोषजनक नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि अपराधी दंड पाकर यह समझे कि उसको नियम भंग न करना चाहिये था और वह नियम भग के लिये प्रायश्चित करे। मैकेन्जी ने कहा है "यदि दड का लक्ष्य नियम के गौरव की रक्षा करना है तो ऐसा आंशिक रूप मे तभी होगा जब कि अपराधी का सुधार होगा और उसी प्रकार के अपराधो का होना रुक जावेगा। और वस्तुतः जब तक यह स्वीकार नहीं किया जाता कि दड नियम के औचित्य का समर्थक है तब तक न तो दंड के द्वारा सुधार और न अपराध का निवारण ही संभव है।" परन्तु यह तो तभी हो सकता है जब कि अपराधी स्वयं अपना दंड निर्धारित करे और नियम भग का प्रायश्चित करने को तैयार हो। राज्य अथवा अन्य किसी वाह्य शक्ति के द्वारा दड मिलने पर अपराधी से यह आशा नही

की जा सकती कि वह अपराध का प्रायश्चित करेगा। व्यवहार में यह देखा जाता है कि दड पाकर अपराधी और भी पक्का हो जाता है। वास्तव मे प्रतिकारवादी सिद्धान्त व्यावहारिक भी नहीं है। उसमे अपराधो के कारण दूर नही होते। अपराधो को रोकने का अथवा अपराधी के सुधार का उपाय अपराधो को रोकने और अपराधी के सुधार करने से ही हो सकता है दड से नही। अधिकांश अपराधी जिन आर्थिक, सामाजिक, मानसिक अथवा शारीरिक कारणो से अपराध करते हैं उनको दूर करने की चेष्टा करना दड से अधिक आवश्यक है। यद्यपि इसका अर्थ यह नही है कि किसी भी परिस्थिति मे दड अनावश्यक है। कुछ परिस्थितियो मे दड देना भी आवश्यक हो जाता है।

(२) निवर्तनवादी सिद्धान्त (Preventive Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार दड इसलिये दिया जाता है ताकि दूसरे लोग उससे सबक सीखे और स्वयं अपराध न करे। इस प्रकार दंड का लक्ष्य अपराधो का निवर्तन है। यह सिद्धान्त न्यायधीश के इस सूत्र से व्यक्त होता है "तुम्हे भेड चुराने के लिये दंडित नही किया जाता है बल्कि इसलिये कि भेड़ की चोरी न हो।" इस सिद्धान्त के अनुसार मृत्यु दड भी उचित है क्योंकि चाहे उससे अपराधो के सुधार का कोई प्रश्न नहीं रहता परन्तु उससे औरो को हत्या न करने का सबक मिल जाता है।

आलोचना—इस सिद्धान्त मे सबसे बडा दोष यह है कि यह अपराधी को साध्य रूप मे नही बल्कि साधन रूप मे प्रयोग करता है। इससे अपराधी का कोई सुधार नही होता। वह दूसरो के सुधार करने का साधन बनाया जाता है। व्यावहारिक दृष्टि से यह सिद्धान्त ग़लत है। वास्तव मे सभी लोग अपराधी नही बन सकते। जो लोग नियमा का सम्मान करना जानते हैं उनको इस प्रकार के उदाहरण दिखाने से कोई लाभ नही है। दूसरी ओर जिनमें अपराधी प्रवृत्ति है उन्हे अपराध से रोकने का उपाय उनकी चिकित्सा और उन परिस्थितियो को दूर करना है जिनमे अपराध पलते हैं। किसी व्यक्ति को इसलिये दंड देना कि उससे दूसरे सबक सीखेगे सरासर अनैतिक और अमानुषिक है। यह सिद्धान्त प्रतिकारवादी सिद्धान्त से भी अधिक दोषपूर्ण है।

(३) सुधारवादी सिद्धान्त (Reformative Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार दड का प्रयोजन स्वय अपराधी का सुधार करना है। आधुनिक युग मे अधिकतर इसी सिद्धान्त का प्रचार है। इस सिद्धान्त मे अपराधी को वस्तु और साधन मानकर नही बल्कि साध्य मानकर व्यवहार किया जाता है। अपराधी को उसी के हित के लिये दंड दिया जाता है। यह सिद्धान्त आधुनिक मानवतावादी विचारधारा से मेल खाता है। इस सिद्धान्त का समर्थन अनेक दृष्टिकोण से किया गया है।

(i) **अपराध मानव विज्ञान**—आधुनिक अपराध मानव विज्ञान के अनुसार अपराध एक रोग, एक मानसोन्माद, एक वशक्रमानुगत अथवा अजित पतन की अवस्था है। अतः अपराधी को दंड देने के स्थान पर उसकी चिकित्सा की आवश्यकता है। कारागारों के स्थान पर अस्पताल, पागलखाने तथा सुधारशालाएँ अपराध को कम करने का कार्य अधिक सुचारु रूप से कर सकते हैं। अपराध जान बूझकर नैतिक नियम के उल्लंघन का परिणाम नहीं है। अपराध के अधिकांश कारण शारीरिक और मानसिक दोष हैं। उदाहरण के लिये चौर्योन्माद (Kleptomania) रोगी को चोरी करने को बाध्य करता है।

आलोचना—अपराध मानव विज्ञान के इस मत में सबसे बड़ा दोष यह है कि यह कुछ अत्यन्त सीमित अपराधों के कारणों को सभी अपराधों का कारण मान बैठता है। यदि कोई व्यक्ति चौर्योन्माद के कारण चोरी करता है तो निःसंदेह उसे जेल न भेजकर अस्पताल ही भेजना चाहिये परन्तु चौर्योन्माद के कारण चोरी करने वालों की संख्या चोरों की संख्या में बहुत ही नगण्य है। सभी अपराधों को रुग्णावस्था नहीं माना जा सकता। शारीरिक और मानसिक दोष के कारण अपराध करने वालों की संख्या अपराधियों में इनी गिनी है। अतः जो लोग अन्य कारणों से अपराध करते हैं उनको चिकित्सा से नहीं बल्कि अन्य प्रकार से रोकने की आवश्यकता है।

(ii) **अपराध समाज विज्ञान**—अपराध समाज विज्ञान के कारण अपराधों का कारण सामाजिक परिस्थितियाँ है। अतः अपराधियों को दंड देने के स्थान पर सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों, असमानताओं और भ्रष्टाचार में सुधार करना अधिक उपयुक्त है। अपराधों को दंड से नहीं बल्कि मानव समाज का न्याय और समानता के आधार पर संगठन करके रोका जा सकता है।

आलोचना—अपराध मानव विज्ञान के मत के समान अपराध समाज विज्ञान का मत भी एकांगी है। कुछ अपराधों का कारण सामाजिक असमानता अवश्य माना जा सकता है। परन्तु सभी अपराधों के कारणों का विश्लेषण इस प्रकार नहीं किया जा सकता। अनेक व्यक्ति जान बूझकर भी अपराध करते हैं। विशेषतः उच्च-वर्गीय (White Collar) अपराधी अपराध समाज विज्ञान के विवेचन में नहीं आते।

(iii) **मनोविश्लेषणवाद** (Psycho-Analysis)—अपराध मानव विज्ञान तथा अपराध समाज विज्ञान के साथ मनोविश्लेषणवाद भी सुधारवादी सिद्धान्त का समर्थन करता है। फ्रायड (Freud) और उसके अनुयायियों के अनुसार अपराध दमित मनोग्रंथियों (Repressed Complexes) अथवा इच्छाओं, और असफल यौन प्रवृत्तियों के कारण उत्पन्न काम और विद्वेष की प्रवृत्तियों के कारण होते हैं। अतः अपराधों को रोकने के लिये दंड नहीं बल्कि औषधि और शिक्षा की

आवश्यकता है। अपराध एक रोग है जिसको रोकने का उपाय दमित अचेतन ग्रन्थियो की खोज, उनको चेतना के स्तर पर ले आना, उनका कारण ढूंढना और समाज द्वारा स्वीकृत रूपो मे उनका मार्ग परिवर्तन (Sublimation) करना है।

आलोचना—मनोविश्लेषणवाद का मत भी कुछ विशेष प्रकार के अपराधियों के सम्बन्ध मे ठीक माना जा सकता है। वास्तव मे अपराध मानव विज्ञान और अपराध समाज विज्ञान के समान यह भी सब प्रकार के अपराधियो के विषय मे ठीक नही है। सुधारवादी सिद्धान्त उन सभी अवस्थाओ मे उपयुक्त है जिनमे व्यक्ति वाह्य परिस्थितियो से बाध्य होकर बे जाने बूझे अपराध करता है अथवा जहॉ अपराध का कारण शारीरिक अथवा मानासक दोष है। परन्तु जो अपराधी जान बूझ करके नैतिक नियमो को तोड़ते हैं उनका सुधार करना कठिन है। अतः कम से कम कुछ अपराधियो के विषय मे दंड की व्यवस्था आवश्यक हो जाती है। सुधारवादी सिद्धान्त दड के अन्य सिद्धान्तो से श्रेष्ठ है क्योंकि वह आधुनिक मानवतावादी भावनाओ से मेल खाता है और अपराध के कारणो का इलाज करके अपराधो को रोकना चाहता है परन्तु फिर भी उसको सभी अपराधो पर लागू नही किया जा सकता। कुछ अपराधो के विषय मे निवर्तन का सिद्धान्त भी ठीक बैठता है।

Q. 4. Discuss the relation of individual and Society.

प्र० ४. व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध की विवेचना कीजिये।

उत्तर—नीतिशास्त्र व्यक्ति के आचार का शास्त्र है। व्यक्ति का आचार दूसरों के प्रति व्यवहार मे प्रगट होता है। अतः नीतिशास्त्र में व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध का अत्यधिक महत्त्व है। नैतिक अधिकार और कर्तव्यो को समझने के लिये व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को जानना अत्यन्त आवश्यक है। व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध के विषय मे भिन्न भिन्न मत प्रचलित हैं। व्यक्तिवादी व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अधिक ज़ोर देते हैं। समूहवादी समूह के हित को ही सब कुछ समझते हैं। आदर्शवादी व्यक्ति और समाज मे अवयवीय सम्बन्ध मानते हैं।

व्यक्तिवाद (Individualism)—हॉब्स (Hobbes) तथा रूसो (Rousseau) इत्यादि अनेक विचारको के अनुसार समाज प्रथक प्रथक व्यक्तियो का एक यंत्रवत समूह है। प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे से स्वतन्त्र है। वह पारस्परिक सम्बन्धों से रहित, आत्मपूर्ण और स्वतन्त्र इकाई है। हॉब्स के अनुसार व्यक्ति स्वार्थी, संघर्षशील तथा आक्रमणकारी है। वह प्रत्येक वस्तु को अपने लिये हड़प जाना चाहता है। प्राकृतिक अवस्था सबके विरुद्ध सबके युद्ध की अवस्था है जिसमे मनुष्य मनुष्य के लिये भेड़िया बन जाता है। इसमे "मनुष्य का जीवन एकाकी, निर्धन, कुटिल, निर्दयी तथा अल्प है।" परन्तु मनुष्य के विरुद्ध मनुन्य की यह अवस्था जीवन को असंभव बना देती है। अतः आत्म रक्षण की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर मनुष्यो ने

परस्पर समझौता करके एक ऐसा राजा नियुक्त किया जो कि अपनी सम्पूर्ण अथवा अबाध सत्ता द्वारा उनमें शान्ति और व्यवस्था स्थापित करे।

लॉक (Locke) के अनुसार मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था पारस्परिक संघर्ष की नहीं बल्कि शान्ति और सदिच्छा की अवस्था है। मनुष्य पर प्राकृतिक नियमों का शासन ईसाई नैतिकता के नियमों के समान होता है। परन्तु प्राकृतिक अवस्था में नियमों की व्याख्या करने वाला और उनको लागू करने वाला कोई न था। अतः लोगों ने समझौता करके समाज का निर्माण किया। समाज की अवस्था आने के पश्चात् एक अन्य समझौते में सामान्य हितों की पूर्ति के लिये विधियों का निर्माण और उन्हें लागू करने को एक शासन की अवस्था की स्थापना की गई।

रूसो के अनुसार प्राकृतिक अवस्था प्रारम्भिक सरलता, पारस्परिक सदिच्छा और आनन्द की अवस्था थी। जनसंख्या की वृद्धि और व्यक्तिगत सम्पत्ति से प्राकृतिक अवस्था में अव्यवस्था उत्पन्न हो गई और संघर्ष बढ़ने लगा। अतः जनता ने व्यक्तित्व और सम्पत्ति की रक्षा के लिये परस्पर समझौता करके एक समुदाय का निर्माण किया।

सामाजिक समझौते (Social Contract) का सिद्धान्त अनैतिहासिक है। मनुष्य सदा से सामाजिक प्राणी है चाहे उसका समाज प्रारंभ में परिवार तक ही सीमित रहा हो। समाजविहीन प्राकृतिक अवस्था की कल्पना न तो तर्कपूर्ण है और न उसे किसी प्रमाण से ही सिद्ध किया जा सकता है। सामाजिक समझौते के लिये राजनैतिक जाग्रति की आवश्यकता है। इस राजनैतिक जाग्रति की कल्पना आदिम मानव में नहीं की जा सकती। समझौता तो एक पर्याप्त विकसित सामाजिक अवस्था में ही संभव है।

समूहवाद (Collectivism)—व्यक्तिवाद के विरुद्ध समूहवादी व्यक्ति और समाज में अंग और अंगी का सम्बन्ध मानते हैं। समाज एक शरीर के समान है और व्यक्ति उसके परस्पर अन्योन्याश्रित अंग हैं। व्यक्ति सामाजिक संगठन के सदस्य हैं। वे पृथक पृथक इकाइयाँ नहीं हैं। एक दूसरे से अलग उनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। व्यक्तियों से पृथक समाज और समाज से पृथक व्यक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। ज्ञान, भावनाओं, आदतों, शिक्षा, भाषा, यहाँ तक कि जीवन के अस्तित्व तक के लिये व्यक्ति दूसरों पर आधारित रहता है। व्यक्तिवादी समाज को एक यंत्रवत रचना मानते हैं। समूहवादियों के अनुसार समाज एक जीवित शरीर रचना के समान है। शरीर के तुल्य ही समाज बढ़ता भी है।

परन्तु समाज की शरीर से तुलना सभी विषयों में ठीक नहीं है। समाज रचना और शरीर रचना में कुछ अन्तर भी है। शरीर के अंगों की शरीर से अलग अपनी कोई चेतना नहीं होती परन्तु प्रत्येक व्यक्ति की अपनी चेतना होती है। भिन्न-भिन्न

अग शरीर मे ही जीवित हैं। परन्तु सामाजिक जीवन के अतिरिक्त भी व्यक्ति का अपना जीवन होता है। वास्तव में व्यक्तियो मे ही अनुभूति होती है। व्यक्तियो से अलग समाज का कोई अपना चेतना-केन्द्र नहीं होता। समाज और शरीर मे एक और भी महत्वपूर्ण अन्तर है। शरीर का जन्म और मृत्यु होती है। उसकी अपेक्षा मानव समाज नित्य है।

आदर्शवाद (Idealism)—आदर्शवादियो के अनुसार मनुष्य का बौद्धिक, उच्च अथवा आदर्श आत्मा सामाजिक-आत्मा है। इस आत्मा का साक्षात्कार समाज मे ही किया जा सकता है। सामाजिक आत्मा प्रत्येक व्यक्ति में है। मैकेन्जी के शब्दो मे "मानव व्यक्तित्व एक प्रथक वस्तु कदापि नहीं हो सकता। उसका अन्य व्यक्तियो से कोई न कोई सम्बन्ध होना अनिवार्य है जिससे उसका विच्छेद होना अकल्पनीय है।" आदर्श अथवा सामाजिक आत्मा की सिद्धि के लिये सामाजिक क्षेत्र अनिवार्य है। जॉन केअर्ड (John Caird) के शब्दो मे "समाज से प्रथक व्यक्ति वास्तविक मनुष्य नही है बल्कि केवल मानवता का एक अंश मात्र है, मानव जीवन के सार स्वरूप नैतिक और आध्यात्मिक तत्वो से रहित एक प्राणी मात्र है। सामाजिक सम्बन्ध व्यक्ति की सत्ता के आवश्यक भाग है। उसके लिये अपने ही अन्दर आत्म लाभ करना असंभव है। ऐसा वह उन्ही की सहायता से कर सकता है जो उससे भिन्न है और केवल एक अधिक व्यापक सर्वगत आत्मा के लिये अपने व्यक्तिगत आत्मा, अपनी एकान्त सत्ता और जीवन के निषेध अथवा अर्पण के द्वारा ही वह अपने आध्यात्मिक स्वरूप की सच्ची सिद्धि करने मे समर्थ हो सकता है।"

इस प्रकार आदर्शवादियो के अनुसार 'समाज एक आध्यात्मिक एकता है। वह सावयव संगठनो का एक सावयव सगठन है। उसमे अनेक समुदाय होते हैं जो विशिष्ट सामान्य हितो की पूर्ति करते है। ये हित एक दूसरे से भिन्न होते हैं परन्तु सम्पूर्ण सामाजिक हित मे ये विभिन्न हित परस्पर पूरक हो जाते है। इस प्रकार आदर्शवादी समाज को सावयव रचना मात्र न मानकर एक आध्यात्मिक रचना मानते हैं। मैकेन्ज़ी के शब्दो मे "यह एक आध्यात्मिक इकाई है जिसके भीतर अनेक छोटी छोटी इकाइयाँ होती है जो कि सामान्य कल्याण के लिये एक सुव्यवस्थित समाज मे सहयोग पूर्वक कार्य करती है।"

इस प्रकार समाज के समस्त सदस्यो मे सामान्य संकल्प पाया जाता है। इस सामान्य सकल्प (General Will) का उद्देश्य सामान्य शुभ (Common Good) होता है। सामान्य हित सुखवादियो का सुख अथवा कान्ट द्वारा प्रतिपादित विवेकपूर्ण संकल्प (Rational Will) नही है। यह आत्म लाभ, आत्म विकास अथवा पूर्णत्व है। आत्म लाभ मे शारीरिक, आर्थिक, सामुदायिक तथा चारित्रिक मूल्य आदि तथा ज्ञान, नैतिक हित तथा पवित्रता आदि सभी आते हैं।

यह आदर्शवादी विचारधारा व्यक्तिवाद और समूहवाद अथवा समाजवाद दोनों का समन्वय करती है। व्यक्तिवादी व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर जोर देते हैं। समाजवादी सम्पूर्ण समाज के हित पर जोर देते हैं। व्यक्तिवादी यह प्रयत्न करते हैं कि व्यक्ति को कार्य करने में अधिकतम स्वतन्त्रता प्राप्त हो। समाजवादी समष्टि के अधिकतम हित के लिये व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सीमित करते हैं। व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अत्यधिक बल देने से सबका हित साधन नही हो पाता। परन्तु व्यक्ति की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता छीन लेने से उसका विकास ही कुंठित हो जाता है। वह राज्य अथवा समाज के हाथ मे एक साधन मात्र नहीं बनना चाहिये। उसके व्यक्तित्व का सम्मान होना चाहिये और उसे अपने व्यक्तित्व के विकास का अवसर मिलना चाहिये। वास्तव में व्यक्तिवादी और समाजवादी मतों मे कोई मौलिक भेद नहीं है। मनुष्य एक आध्यात्मिक प्राणी है। उसकी आत्मा में व्यक्तिगत और सामाजिक दोनो ही पक्ष हैं। आत्म लाभ के हेतु इन दोनों का समुचित विकास आवश्यक है। अतः समाज से प्रथक व्यक्ति को आत्म लाभ नहीं हो सकता। परन्तु क्योंकि उसकी आत्मा का एक व्यक्तिगत पक्ष भी है अतः उसे समाज में विलीन भी नहीं किया जा सकता। इस प्रकार समाज को आध्यात्मिक व्यक्तियो की एक आध्यात्मिक रचना के रूप में समझने पर व्यक्ति और समाज का वास्तविक सम्बन्ध समझा जा सकता है। यह आध्यात्मिक रचना सदा विकासशील है। व्यक्तियों की आत्माभिव्यक्ति और आत्मोत्कर्ष में अधिकाधिक सहायता इस विकास का लक्षण है। आदर्श समाज में सभी व्यक्तियों को आत्माभिव्यक्ति और आत्मोत्कर्ष के समान अवसर मिलते हैं।

Q. 5. Discuss the moral value of the social institutions, family, property and state.

प्र० ५. परिवार, सम्पत्ति और राज्य की सामाजिक संस्थाओं के नैतिक मूल्य का विवेचन कीजिये।

उत्तर—मनुष्य का सर्वोच्च नैतिक शुभ आत्म लाभ (Self-realization) है। यह आदर्श, बौद्धिक अथवा सामाजिक आत्मा का साक्षात्कार है जो कि समाज मे ही संभव है। समाज और व्यक्ति का सम्बन्ध कुछ संस्थाओं (Institutions) के माध्यम से होता है। इन सामाजिक अथवा नैतिक संस्थाओ मे परिवार, सम्पत्ति और राज्य अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। नैतिक शुभ को प्राप्त करने में सहायक होने के कारण ये सामाजिक संस्थाएँ नैतिक संस्थाएँ कहलाती है।

परिवार (Family)—मानव की सामाजिक आत्मा के समुचित विकास में सबसे अधिक योगदान परिवार का है। परिवार मानव के सामाजिक प्रेम का आधार है। प्रत्येक मनुष्य कभी न कभी अनिवार्य रूप से किसी न किसी परिवार का सदस्य अवश्य होता है। विशेषतः अवयस्क अवस्था में परिवार मनुष्य की आदतो, विचार

और भावनाओ आदि के निर्माण को अत्यधिक प्रभावित करता है। परिवार में ही बालक सर्वप्रथम प्रेम, अनुशासन, परोपकार, सहनशीलता, उदारता आदि नैतिक गुणो का पाठ सीखता है। परिवार में ही नागरिक गुण उत्पन्न होते हैं। परिवार में ही सहानुभूति, सहकारिता और सहयोग सिखाया जाता है। परिवार जहाँ एक ओर पर्याप्त संरक्षण प्रदान करता है वहाँ दूसरी ओर सामाजिक गुणो के विकास के अवसर भी प्रदान करता है।

परन्तु परिवार के सगठन पर भी दृष्टि रखना आवश्यक है। परिवार में माता पिता को बच्चो पर अनियंत्रित अधिकार नही मिलना चाहिये। उन्हे बच्चो से मजदूरी आदि कराकर उनका विकास कुंठित करने का अधिकार नही मिलना चाहिये। बालको की शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रबन्ध होना आवश्यक है। इसी प्रकार परिवार मे पति को पत्नी पर असीम अधिकार नही मिलने चाहिये। पति पत्नी का सम्बन्ध समानता और प्रेम पर आधारित होना चाहिये। पत्नी को पति की दासी नही बनना चाहिये। संक्षेप में, परिवार मे प्रत्येक सदस्य को समुचित विकास के पर्याप्त अवसर मिलने चाहिये। आज कल परिवार का विघटन (Disorganisation) होता जा रहा है। पति-पत्नी, बच्चों और माता-पिता, भाई-बहन आदि में परस्पर प्रेम घटता जाता है। व्यक्तिवाद (Individualism) के इस युग मे अनेक घर होटल मात्र है जहाँ परिवार के सदस्य केवल भोजन और आराम के लिये आते हैं। इससे निराश होकर अनेक लोगो को इसमें भी शंका है कि भविष्य में परिवार का अस्तित्व रहेगा'। परन्तु यह शंका निर्मूल है। आजकल जहाँ बड़े बड़े संयुक्त परिवार धीरे धीरे टूट रहे हैं वहाँ अनेक कारणो से छोटे छोटे परिवारो के सदस्यों मे परस्पर स्नेह और भी बढ गया है। परिवार के विनाश से मनुष्य के नैतिक जीवन की नींव गिर जाएगी। परिवार एक सामाजिक और नैतिक संस्था के रूप मे सदैव विद्यमान रहेगा चाहे उसका स्वरूप कितना भी परिवर्तित हो जाये।

सम्पत्ति (Property)—व्यक्ति के समुचित विकास के लिये उसके जीवन की आवश्यकताओ तथा उनकी मूल प्रवृत्ति जन्य माँगो (Instinctive needs) का सन्तोष अत्यन्त आवश्यक है। सम्पति के स्वामित्व की भावना मनुष्य मे नैसर्गिक रूप से ही होती है। एक सीमा तक इस भावना का सन्तोष अत्यन्त आवश्यक है और मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास मे सहायक है। कुछ विचारक सम्पत्ति की सस्था के दोषो के कारण उसको बिल्कुल समाप्त कर देना चाहते है। परन्तु मानव के व्यक्तित्व के विकास मे इस सस्था का पर्याप्त योगदान है। अतः सामाजिक हित मे इसे सीमित करते हुए भी इसका समूल उच्छेद अनावश्यक ही नही बल्कि हानिकारक है।

राज्य (State)—राज्य सबसे अधिक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था है। व्यक्तियों के नैतिक जीवन के विकास में भी उसका उतना ही बड़ा हाथ है। राज्य के कार्य दो प्रकार के हैं। पहला कार्य न्याय का कार्य है। इसमें राज्य व्यक्तियों तथा समाज के राजनैतिक रूपों के आक्रमणों के विरुद्ध व्यक्ति की रक्षा का निषेधात्मक कार्य करता है। इसमें 'सत्ता' की रक्षा की जाती है। राज्य का दूसरा कार्य परोपकार का कार्य है। इसमें राज्य प्रत्येक नागरिक के नैतिक जीवन की परिस्थितियों को उन्नत बनाने का विधानात्मक कार्य करता है। इसमें राज्य 'कल्याण' की सोचता है। निषेधात्मक कार्य के रूप में राज्य सामाजिक व्यवस्था का संरक्षण करता है और अपराधियों को दण्ड देता है। वह व्यक्ति के अधिकारों का संरक्षण करता है। रचनात्मक कार्य के रूप में राज्य नागरिकों के भौतिक तथा आध्यात्मिक कल्याण का विकास करता है। उसे नागरिकों के स्वास्थ्य, शिक्षा, और आर्थिक हितों का ध्यान रखना चाहिये। सेठ (Seth) के शब्दों में "राज्य को व्यक्ति के जीवन पर केवल अपना स्वत्व ही नहीं स्थापित करना चाहिये बल्कि उसका संरक्षण भी करना चाहिये; उसे व्यक्ति के जीवन का उन्मूलन नहीं बल्कि स्थापन करना चाहिये। यदि राज्य से पृथक व्यक्ति नैतिक व्यक्ति नहीं है तो जिस राज्य में व्यक्ति का लोप हो जाता है वह भी सच्चा राज्य नहीं है। सर्वोत्तम राज्य वही है जिसके नागरिक होने में व्यक्ति सबसे अधिक पूर्णता के साथ अपना व्यक्तिगत जीवन बिताता है।"

इस प्रकार राज्य को व्यक्ति की स्वतन्त्रता में केवल वहीं हस्तक्षेप करना चाहिये जहाँ तक इसमें व्यक्ति का हित हो और दूसरों के व्यक्तित्व का विरोध न हो। राज्य को व्यक्ति के उच्च व्यक्तित्व अर्थात् दैवी प्रवृत्तियों के विकास में हस्तक्षेप न करना चाहिये। व्यक्ति के हीन व्यक्तित्व अथवा पाशविक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति में राज्य अवश्य हस्तक्षेप कर सकता है। वास्तव में उच्च व्यक्तित्व ही अन्तिम साध्य है और व्यक्ति तथा राज्य दोनों साधन मात्र हैं। सेठ (Seth) के शब्दों में "नैतिक दृष्टि से राज्य को स्वयं साध्य नहीं बल्कि साधन समझना चाहिये। राज्य की सत्ता व्यक्ति के लिये है, व्यक्ति की राज्य के लिये नहीं। व्यक्ति नैतिक इकाई है: और राज्य का कार्य व्यक्ति के स्थान का अपहरण नहीं बल्कि उसके व्यक्तित्व के विकास में उसकी सहायता करना है—उसे स्थान और अवसर प्रदान करना है। यह उसके लिये है वह इसके लिये नहीं; यह उसका क्षेत्र है, उसके नैतिक जीवन का माध्यम है।"

Q. 6. Write short note on 'International morality'

प्र० ६. अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

उत्तर—मानव जाति की नैतिक प्रगति के साथ साथ अब यह माना जाने लगा है कि राष्ट्रों के परस्पर सम्बन्ध भी उन्हीं नियमों पर चलने चाहिये जिन

नियमो पर व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध चलते हैं। यही अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का प्रारम्भ है। विज्ञान की प्रगति, विशेषतः यातायात के साधनो के विकास के कारण आज भिन्न भिन्न राष्ट्रो के लोग एक दूसरे के अत्यन्त निकट आते जा रहे हैं। स्टुअर्ट (Stuart) के शब्दो मे आज सभ्य राष्ट्र इतने अधिक परस्पराश्रित हो गए हैं कि एक राष्ट्र का संकट सभी अन्य राष्ट्रों के संकट का कारण बन जाता है और अन्यो के बिना संस्कृति के मार्ग पर आगे नही बढ़ सकता।

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की शीघ्र प्रगति न होने के निम्नलिखित कारण हैं—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के क्षेत्र मे कोई परिवार जैसी संस्था नही है जो कि विश्व के अन्तःकरण का विकास कर सके। सामाजिक क्षेत्र मे परिवार के कारण ही सदस्यों में नैतिकता का विकास हो पाता है।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे कोई ऐसी संस्थाएँ नही हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की वृद्धि मे सहायक हो। राष्ट्र संघ (U. N. O.) और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अपनी आज्ञाओ का पालन करवाने मे अशक्त है।

(३) राष्ट्रवाद (Nationalism) अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के विकास मे सबसे बडा रोडा है। क्षुद्र राष्ट्रीय स्वार्थो के सन्मुख मानवता को भी तिलांजलि दे दी जाती है।

(४) विकृत राष्ट्रवाद द्वारा संवर्धित तथा पूँजीवाद और सेनावाद पर आधारित साम्राज्यवाद (Imperialism) अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता में दूसरी बडी बाधा है। इससे घोर नैतिक पतन होता है। यह शक्ति के सिद्धान्त और निर्बलो के शोषण पर आधारित है। समाजवादी अस्त्र शस्त्रो की होड़ मे लगे रहते है और युद्ध को जीवित रखते हैं।

(५ अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का पोषण करने के लिये सबल जनमत नही है।

(६) निर्बल राष्ट्र भी अन्तर्राष्ट्रीय अनैतिकता के लिये उत्तरदायी हैं क्योकि वह बलवान राष्ट्रों को शोषण के लिये आकर्षित करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की प्रगति उपरोक्त बाधाओ को हटाकर एक सबल अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनाने पर निर्भर है जो कि अपने आदेशों का पालन करा सके और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के नियमो मे बाध्यता उत्पन्न कर सके।

Q. 7. What is mor a progress in individual and society? What are its various aspects and causes? Is human race morally progressing? Discuss.

प्र० ७. व्यक्ति और समाज में नैतिक प्रगति क्या है? उसके विभिन्न पक्ष और कारण क्या हैं? क्या मनुष्य जाति नैतिक दृष्टि से प्रगतिशील है? विवेचना कीजिये।

उत्तर :—नैतिक प्रगति नैतिक आदर्शों की उत्तरोत्तर प्रगति है । नैतिक आदर्शों की कोई सीमा नही है । किसी भी सीमा पर नैतिक आदर्शों को पूर्णतः प्राप्त करना असभव है । वास्तव मे नैतिक प्रगति जितनी बढ़ती है उतने ही नैतिक आदर्श भी ऊँचे होते जाते हैं । आदर्श सदैव आदर्श रहता है वह कभी भी पूर्णतः यथार्थ नहीं हो सकता । नैतिक आदर्श कोई गन्तव्य स्थान नही है जहाँ कभी न कभी पहुँचा जा सकता हो । नैतिक आदर्श तो स्वयं एक मार्ग है जिस पर आगे ही बढ़ते जाना है । ज्यो-ज्यों इस राह मे आगे बढ़ते जाते हैं त्यो त्यो मंज़िल और भी दूर हटती जाती है । इस प्रकार नैतिक प्रगति एक विकासोन्मुख गति है जिसकी कहीं सीमा नहीं । सेथ के शब्दो मे "नैतिक प्रगति प्रगतिशील नैतिकता है । किसी भी अवस्था मे नैतिकता की प्रगति, अथवा नीति शून्य अवस्था से नैतिकता की अवस्था की ओर प्रगति नहीं है ।" हर्बर्ट स्पेन्सर का यह कहना यथार्थ नही है कि नैतिकता नीति शून्य तत्वों से निकलती है। आदर्श यथार्थ से अथवा 'चाहिये' 'है' से नहीं निकलता ।

सेठ से अनुसार नैतिक नियम व्यक्ति की खोज है । प्रारंभ मे व्यक्ति परिवार अथवा सम्प्रदाय मे विलीन था । सामाजिक प्रगति से उसे अपनी स्थिति का ज्ञान हुआ । व्यक्ति परिवार और सम्प्रदाय से धीरे धीरे प्रथक हो गया और उसने अपने अधिकारो को प्राप्त किया । सेठ के अनुसार "जाति और व्यक्ति की नैतिक प्रगति का मौलिक नियम तत्वतः एक ही रूप मे व्यक्त किया जा सकता है । संक्षेप में, वह प्रगति व्यक्ति की उत्तरोत्तर खोज है । प्रारंभिक युग की नैतिक इकाई समुदाय अथवा परिवार था; फिर वह राज्य हुआ, और बाद मे संभवतः वर्ण या वर्ग हुआ, तथा सबसे अन्त मे व्यक्ति हुआ ।"

इस नैतिक प्रगति के भिन्न भिन्न पक्ष निम्नलिखित हैं—

(i) नैतिकता के वाह्य दृष्टिकोण से आन्तरिक दृष्टिकोण की ओर प्रगति—नैतिक प्रगति में प्रारम्भ में व्यवहार की शुद्धता पर जोर दिया जाता है और बाद मे आन्तरिक जीवन की शुद्धता को आवश्यक माना जाता है । प्रारंभ में वाह्य कर्मो और परिणामों पर नैतिक निर्णय दिया जाता है; बाद मे आन्तरिक उद्देश्यो और अभिप्रायो तथा क्रमशः चरित्र को नैतिक निर्णय का विषय माना जाता है । सेथ के शब्दों मे "पहले नैतिक प्रगति में हम कर्म के वाह्य अथवा उपयोगितावादी मूल्यांकन की ओर, व्यवहार और परिणामो से चरित्र और प्रवृत्तियों की ओर, करने से होने की ओर, कर्म से मनुष्य की ओर क्रमशः संक्रमण (Transition) को पहचान सकते हैं । मनुष्य जो कर्म करता है उसका मूल्य घटता जाता है, जो वह है उसका मूल्य बढ़ता जाता है ।"

(ii) कठोर गुणों (Virile Virtues) को मृदु गुणों (Soft Virtues) के आधीन करना—नैतिक प्रगति मे प्रारंभ मे साहस, वीरता, पौरुष, बल इत्यादि कठोर और

वीरतापूर्ण गुणो (Virile Virtues) को महत्त्व दिया जाता है। बाद में धीरे-धीरे उनके स्थान पर सहानुभूति, परोपकार शीलता, क्षमाशीलता, नम्रता, आज्ञाकारिता, धैर्य और आत्म समर्पण इत्यादि मृदु गुण (Soft-Virtues) आ जाते हैं। सेठ के शब्दो में "नैतिक प्रगति की दूसरी अभिव्यक्ति कठोर गुणो को मृदु गुणो के अधीन करने मे, सत्ता अथवा रक्षा के गुणो को मंगल अथवा सौजन्य के गुणो के आधीन करने में दिखाई पड़ती है। कठोर गुणों का मृदु गुणो की दिशा मे संक्रमण व्यक्ति के प्रति सहानुभूति हीन भावना से सहानुभूति पूर्ण भावना की दिशा में, असहृदयता से सहृदयता पूर्ण भावना की दिशा मे संक्रमण है।

(iii) गुणो के क्षेत्र का विस्तार—सेथ के शब्दों मे "हमे नैतिक प्रगति का एक तीसरा पक्ष अर्थात उसका विस्तार, विशेषवाद से सामान्यवाद, देश-भक्ति अथवा राष्ट्रवाद से मानवतावाद अथवा अन्तर्राष्ट्रीयता की दिशा मे विकास मे दिखाई पड़ता है। व्यक्ति को अपनी स्थिति का ज्ञान होते ही उसे अपने साथियो से अपनी सत्ता और जीवन की समानता का, मनुष्य जाति रूपी नगर मे अपनी नागरिकता का बोध हो जाता है।"

नैतिक जीवन सदैव एक व्यक्तिगत जीवन रहता है। "व्यक्ति को अपने अथवा दूसरो के सम्बन्धो मे कभी भी अपने व्यक्तित्व का बलिदान करने को नही कहा जा सकता। आत्म ज्ञान और आत्म लाभ को जीवन के सर्वोच्च नियम मानने वाले किसी भी प्राणी के लिये एकमात्र निरपेक्ष आत्मोत्सर्ग कभी भी धर्म का मार्ग नही हो सकता। मनुष्य का सच्चा जीवन स्वार्थहीन जीवन नही बल्कि सच्चे मानवीय स्वरूप का जीवन है।" ग्रीन (Green) के अनुसार नैतिक प्रगति का लक्षण नैतिक अन्तर्दृष्टि की गंभीरता है। नैतिक प्रगति के साथ गुणों का क्षेत्र बढ़ता जाता है। प्रारभ में नैतिक गुणो का क्षेत्र परिवार अथवा सम्प्रदाय या जाति तक ही सीमित रहता था। क्रमशः समस्त मानव जाति ही नैतिक गुणों का क्षेत्र बन गई।

नैतिक प्रगति का सबसे महत्वपूर्ण कारण नैतिक जगत का संगठन है। नैतिक जगत मे तीन मुख्य तत्व होते है—समाज द्वारा स्वीकृत आदर्श, आदते तथा सामाजिक सस्थाएँ। कभी कभी इन तीनो तत्वो मे परस्पर विरोध रहता है। आदर्श, संस्थाओ और आदतो के अनुरूप नही होते। आदते सस्थाओ के अनुरूप नहीं होती। अतः इन विभिन्न तत्वो के परस्पर सामंजस्य की आवश्यकता पड़ती है। जितना ही अधिक इस सामंजस्य का प्रयास होता है उतनी ही अधिक नैतिक प्रगति होती है। दूसरे नैतिक आदर्श को ऊँचा उठाने और सस्थाओ तथा आदतो को उन्नत बनाने के प्रयत्न से भी नैतिक प्रगति होती है। प्रायः किसी तीव्र नैतिक अन्तर्दृष्टि वाले सुधारक को आदतों, संस्थाओ अथवा आदर्शों की अपूर्णता की अनुभूति होती है। वह आदर्शों, सामाजिक सस्थाओं और आदतो की असंगतियो का प्रदर्शन करता है और अपने उपदेशो तथा अपने चरित्र के आदर्श से इन

असगतियो को दूर करने मे सहायता करता है। नैतिक प्रगति का तीसरा कारण नैतिक चेतना और वातावरण मे परिवर्तन है। इसमे सुधारकों के अतिरिक्त स्वय वातावरण के कुछ नवीन तत्व भी सहायक है। उदाहरण के लिये स्त्रियों की स्वतन्त्रता मे सुधारको के साथ साथ नवीन आर्थिक हेतुओं ने भी काम किया है।

कभी कभी यह प्रश्न उठता है कि क्या मनुष्य जाति नैतिक दृष्टि से प्रगतिशील है? कुछ लोगो को इसमे शंका है। वास्तव में इनमें वे लोग हैं जो प्राचीन और आज के मानव समाज की तुलना करते समय परिस्थितियों के अन्तर को भूल जाते हैं। अतीत मे लोगो का जीवन साधारण था और कार्य क्षेत्र सीमित था। उनका बौद्धिक विकास कम था परन्तु उनकी आवश्यकताएँ भी कम थीं और वे आसानी से पूरी हो जाती थी। अतः उनकी अनैतिकता का अवसर कम आता था। आज के मानव का जीवन जटिल है। उसकी आवश्यकताएँ बढ़ गई हैं, उनकी पूर्ति के लिये सघर्ष भी बढ़ गया है। आज के मानव का बौद्धिक विकास अधिक है, उसका सम्बन्ध भी अधिक लोगों से है। अतः जहाँ कुछ बातों में आधुनिक मनुष्य ऊपर उठा है वहाँ अन्य बातों मे नीचे भी गिर गया है। परन्तु पीछे दिये हुए नैतिक प्रगति के विभिन्न पक्षों का विचार करने से मनुष्य जाति नैतिक दृष्टि मे प्रगतिशील ही प्रतीत होगी। नीतिशास्त्र के इतिहास पर एक दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जायेगा कि प्राचीन यूनानी कठोर गुणो का स्थान आज क्रमशः मृदु गुणो ने ग्रहण कर लिया है। आज वीरता और पौरुष से अधिक प्रेम, सहानुभूति और मानवता की भावना की कद्र है। नैतिकता का दृष्टिकोण भी बाह्य परिणामों से हटकर आन्तरिक दृष्टिकोण की ओर बढ़ रहा है। गुणों का क्षेत्र राष्ट्र अथवा जाति की क्षुद्र सीमाओं मे न बँधकर समस्त मानव जाति मे विस्तृत हो गया है। क्रमशः सभी देश स्वतन्त्र होते जा रहे हैं। सभी जगह स्त्रियो को धीरे धीरे समान अधिकार दिये जा रहे हैं। रंगभेद आदि दुर्गुणो के विरुद्ध सतत सघर्ष हो रहा है। व्यवहार में उतने मानवतावादी न होने पर भी आदर्श रूप मे सभी देश मानवतावादी दृष्टिकोण को मानते हैं। इस प्रकार नैतिक जगत में निश्चित रूप से प्रगति हुई है। परन्तु अभी आदर्शों के अनुरूप आदते और कर्म नहीं बदल पाए हैं। आधुनिक युग की नैतिक समस्या आदतों, संस्थाओं और आदर्शों में सामजस्य का अभाव है। आदर्श ऊँचे उठ गए हैं परन्तु मानव अभी उनके अनुरूप बदल नहीं पाया है। फिर भी सर्वसाधारण की नैतिक चेतना और बौद्धिक स्तर आज पिछले सभी समय से ऊँचा है। महान व्यक्तियों की तुलना नहीं की जा सकती। वे तो सभी युगो मे समय से आगे होते हैं। मानवता की नैतिक प्रगति का तात्पर्य यह नहीं है कि आज के गाँधी कल के ईसा से अधिक महान हैं बल्कि यह कि सर्वसाधारण का नैतिक स्तर आज पहले से ऊँचा अवश्य है। आवश्यकता है नवीन आदर्शो के अनुरूप आदतो और सस्थाओं के रूपान्तर की, अन्यथा मानव की सभ्यता और

संस्कृति मे बनी हुई गहरी खाँई से उसके अस्तित्व तक को खतरा है। यह रूपान्तर कैसे होगा, कब होगा यह कहना कठिन है। परन्तु इसकी आवश्यकता आज सभी विचारवान व्यक्ति अनुभव करते हैं।

Q. 8. Write short notes on—(a) Justice, Benevolence and Ahimsa.
(b) The doctrine of Cardinal Virtues.
(c) Moral Evils.

प्र० ८. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये—(अ) न्याय, परोपकार व अहिंसा।
(ब) मुख्य चरित्र गुण का सिद्धान्त।
(स) नैतिक बुराइयाँ।

उत्तर—

(अ) न्याय और परोपकार सामाजिक जीवन के धर्म हैं। सेथ के अनुसार "सामाजिक धर्म के निषेधात्मक रूप को तत्सम्बन्धी स्वतन्त्रता अथवा समानता के कतव्य के साथ न्याय कहा जा सकता है; विधानात्मक (Positive) रूप मे इस गुण को परोपकार और उससे सम्बन्धित कर्तव्य को भ्रातृत्व कहा जा सकता है।" न्याय का अर्थ दूसरो के जीवन में बाधा न पहुँचाना है। न्याय यह है कि दूसरे व्यक्तियो के स्वतन्त्र विकास मे हस्तक्षेप न किया जाय। जैसे सयम से पूर्व संस्कृति होती है उसी प्रकार सच्चे परोपकार से पूर्व न्याय का स्थान है। न्यायप्रिय व्यक्ति ही परोपकारी हो सकता है। परोपकार का अर्थ दूसरो के जीवन मे सहायता और वृद्धि करना है। परोपकारी व्यक्ति मानव जाति के उत्कर्ष मे निस्वार्थ भक्ति रखता है।

(अहिंसा के वर्णन के लिये गाधी का नीति शास्त्र देखिये)

(ब) मुख्य चरित्र गुण का सिद्धान्त (Theory of Cardinal Virtues)—

मुख्य चरित्र गुण मौलिक आधारभूत गुण हैं। अन्य गुण भी उन्ही पर आश्रित रहते हैं। प्लेटो ने मुख्य चरित्र गुण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। प्लेटो (Plato) के अनुसार मुख्य चरित्र गुण चार है—बुद्धिमत्ता, साहस, मिताचार और न्याय। बुद्धिमता मे अन्य सभी धर्मों का समावेश हो जाता है। कार्य की नैतिकता विशेष परिस्थितियो मे बुद्धिमत्तापूर्वक कार्य करने पर निर्भर है। साहस अथवा धैर्य और मिताचार (Prudence) के गुणों का व्यक्ति के जीवन से सर्वाधिक सम्बन्ध है। न्याय (Justice) मे सभी सामाजिक गुण आ जाते हैं। बुद्धिमत्ता मे सावधानी, दूरदर्शिता, पूर्व दृष्टि (Fore-Sight) और चुनाव की स्थिरता का समावेश है। साहस मे वीरता और धैर्य दोनो ही आते है। वीरता के कारण व्यक्ति दुःख पड़ने पर भी अपना मार्ग नही छोडता। अतः वीरता सक्रिय साहस है। धैर्य निष्क्रिय

साहस है। इसमें व्यक्ति कष्ट को विना किसी हिचकिचाहट के सहन करता है, साहस में निर्णय, परिश्रम और अध्यवसाय भी आते हैं। धैर्य में आस्था और आशा का समावेश है। मिताचार में ऐन्द्रिक और बौद्धिक सभी प्रकार के सुखों के प्रलोभनों के प्रतिरोध सम्मिलित हैं। न्याय में जहाँ समझौते की पूर्ति तथा समाज द्वारा निश्चित कर्तव्यों का पालन है वहाँ ईमानदारी और विश्वास पात्रता भी है। परोपकार, प्रेम, सुशीलता, प्रसन्नता और हास्य विनोद आदि सामाजिक गुण भी इसी में आ जाते हैं।

मुख्य चरित्र गुण मौलिक गुण हैं। उनके विस्तृत अर्थों में उनमें लगभग सभी नैतिक गुण आ जाते हैं।

(स) नैतिक अशुभ (Moral Evils)—नैतिक अशुभ नैतिक नियम का उल्लघन करना है। यह प्राकृतिक अशुभ से भिन्न है। प्राकृतिक या आधिभौतिक अशुभ मनुष्यों के लिये हानिकारक एक प्राकृतिक तथ्य या घटना है जैसे भूकम्प, बाढ़, इत्यादि। ये नीति शून्य होते हैं। मनुष्य उनके लिये उत्तरदायी नहीं है। दूसरी ओर नैतिक अशुभ का उत्तरदायी व्यक्ति है। नैतिक अशुभ बौद्धिक दोष अथवा भ्रान्ति से भी भिन्न है। भ्रान्ति का कारण मानव बुद्धि मे ग्रहण की क्षमता का अभाव है। यह मनुष्य की इच्छा का विचारपूर्ण व्यापार नहीं है। नैतिक अशुभ जानबूझ कर नैतिक नियमों का उल्लंघन करने से होता है।

अन्दर से नैतिक अशुभ चरित्र का कलक है जो कि अधर्म (Demerits) कहलाते हैं। बाहर से वह अशुभ कर्म है जो कि पाप (Sin) और अपराध (Crime) कहलाते हैं। नैतिक नियमो को तोडने का अभ्यास जनित चरित्र-दोष अधर्म कहलाता है। इसका कुछ अश गुप्त रहता है और कुछ पाप और अपराध के रूप में प्रगट होता है। पाप एक वाह्य असत कर्म है। अधर्म की अभिव्यक्ति पाप के रूप में होती है। अधर्म चरित्र का लक्षण है। पाप एक अशुभ कर्म है। पाप का अर्थ कर्तव्यों को जानबूझ कर अवहेलना करना है। इसमें असत कर्मों का करना और शुभ कर्मों का न करना दोनों ही आ जाते हैं। अपराध समाज के विरुद्ध जुर्म है जिसको राज्य मानता है। अपराधी को राज्य दंड देता है। सभी पाप अपराध नहीं होते। चोरी अपराध है क्योंकि राज्य उसका दड देता है। अकृतज्ञता पाप है क्योकि उसकी समाज मे निन्दा होती है परन्तु राज्य उसका दंड नहीं देता।
